

• पुष्पाङ्क

समराइच्चरहा (१ से ३ मय तक हिन्दी भाषा का दिनांक)

• सम्प्रेषक

पं. मुनि श्री कुंवरजीविजी म.

• प्रकाशक

श्री तिलोक रत्न स्थानकवासो जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड  
पायडों (अहमदनगर)

• प्रथमावृत्ति

धीर निर्माण २५०३

वि. सं. २०३४ महावीर जयन्ती

इस्वी सन् १९७७ अप्रैल

• मुद्रक

पं. मधरीनारायण द्वारिकाप्रसाद शुक्ल

श्री मुधर्मा मुद्रणालय, ८१० मन्त्री गली

पायडों (अहमदनगर)

# प्रस्तावना

आचार्य श्री हरिभद्र का समय—

आचार्य हरिभद्र ने प्राकृत साहित्य को प्रौढता एवं अभिनव कलात्मकता दी है। दण्डी, सुवन्धु और वाण की प्रौढ संस्कृत शैली का प्राकृत में अभिनव रूप में प्रयोग करनेवाले महान् दार्शनिक कथाकार, व्याख्याकार आदि के संपूर्ण व्यक्तित्व के पुंजीभूत हरिभद्र के समय की सीमा निर्धारण करने के लिये हमें देखना होगा कि जैन साहित्य परंपरा में हरिभद्र नाम कितने व्यक्तियों का था ? उनमें समराइच्च कहा के रचयिता हरिभद्र कौन है ?

ईसवीसन् की १४ वीं शताब्दि तक के उपलब्ध जैन साहित्य में हरिभद्र नाम के आठ आचार्यों का उल्लेख मिलता है। इनमें समराइच्च कहा प्रभृति प्राकृत ग्रंथों के रचयिता आचार्य हरिभद्र सबसे प्राचीन हैं। ये हरिभद्र 'भवविरहसूरी' और विरहाक कवि, इन विशेषणों से प्रख्यात थे। इन्होंने अपनी अधिकांश रचनाओं में 'भवविरह' सामासिक पद का प्रयोग किया है।

कुवलयमाला के रचयिता उद्योतनसूरि ने ( शक ७०० ) अपना प्रमाण और न्याय पढ़ानेवाला गुरु कहा है।

जो इच्छइ भवविरहं, भवविरह को ण वन्दए सुयणो ।

समय-सय-सत्य-गुरुणो, समरमयंका कहा जत्स ॥

(कु. मा. ६ पृ. ४)

उपमिति भवप्रपञ्च कथा के रचयिता मिद्वपि ( ६०६ ई. ) धर्म-बोधकरो गुरु के रूप में स्मरण किया है। जिनविजयजी ने अपने प्रबंध में लिखा है—“एतत्कथनमवलम्ब्यैव राजशेखरेण प्रबन्धयोगे, मुनिं सुन्दरेण उपदेशरत्नाकरे रत्नशेखरेण च श्रद्धाप्रतिक्रमण सूत्रवृत्तौ मिद्वपि हरिभद्र-शिष्यत्वेन वर्णित । एवं पडिवालगमच्छीयायामेकस्या प्राकृतं पट्टादत्तान्-मपि सिद्धपिहरिभद्रयोः सप्तसमयवर्तित्वलिखितं समुपनयन्ते (हरिभद्र-



संग का राजयोग २४२ वर्ष है और गुप्तों का राज्यकाल प्रमाण २४४ वर्ष है इन उल्लेख के अनुसार २४२ (४६-४७) १८६-१८४ के लगभग गुप्तवंश का आरंभ हुआ। अनन्तर गुप्तकाल के ४८४ वर्ष जोड़ देने पर ई. स. ७३०-७३१ के लगभग आचार्य हरिभद्रगुप्त का स्वर्णरोजय समय आता है। आचार्य हरिभद्र के समय के उत्तरी सीमा का निर्धारण कुवलय माला के रचयिता उद्योतनगुरि के उल्लेख द्वारा हो जाता है। उद्योतनगुरि ने कुवलयमाला की प्रशस्ति में इन छय की समाप्ति शत्रु स ७०० से प्रसिद्ध है और अपने गुरु का नाम हरिभद्र कहा है।

सौ मित्रेण गुरु जुष्टी तत्पेहि जग हृदिगो।

महू शत्रु-गंध-विश्वर परपरि-मय-सम्पत् ॥४३०॥

इससे स्पष्ट होता है कि शक संवत् ७०० के बाद हरिभद्र का समय नहीं हो सकता है। हरिभद्र आठवीं शती के उत्तरार्ध में अवश्य जीवित थे।

उद्यमिनि भय प्रपंच के रचयिता मित्रपिने अपनी कथा की प्रशस्ति में आचार्य हरिभद्र को अपना गुरु बताया है पर वे साक्षात् गुरु नहीं थे परंपरया गुरु थे। प्रो अम्बेकर ने इन्हें साक्षात् गुरु बताया है। पर मुनि जिनविजयजी ने प्रशस्ति के अनागत शब्द के आधार पर परंपरया कहा है। अतएव प्रो अम्बेकर ने माना हुआ समय ८००-८५० प्रामाणिक नहीं है, न उनका यह कहना यथार्थ है कि कुवलयमाला में उल्लिखित समय शक संवत् गुप्त संवत् है।

मुनि जिनविजयजी ने हरिभद्र को शंकराचार्य का पूर्ववर्ती माना है। सभी विद्वान् शंकराचार्य का समय ई. स. ७८८ से ८२० तक स्वीकार करते हैं। हरिभद्र ने अपने पूर्ववर्ती प्रायः सभी दार्शनिकों का उल्लेख किया है। शंकराचार्य ने जैनदर्शन के स्याद्वाद सिद्धान्त मन्तर्भंगी का खंडन किया है। इनके नाम का उल्लेख अथवा इनके द्वारा किए गए खटन में प्रदत्त तर्कों का प्रत्युत्तर सर्वतोमुष्ठी प्रतिभायान हरिभद्र ने नहीं दिया। इसका स्पष्ट अर्थ है कि हरिभद्र शंकर के उद्भव के पढ़ने ही स्वर्गम्य हो गए थे। अन्यथा वे किसी न किसी रूप में उनका अवश्य उल्लेख करते। अतः निश्चित हो गया



उधर भागने लगा । हरिभद्र हाथी से बचने जैन साधवी के उपशम पहुँचा । साधवी निम्नलिखित गाथा पढ़नी थी ।

चषकीदुर्गं हरिपणमं चषकीण केसयो चषकी ।

केसवचषकी केसव दुचषकी केसव चषकी ॥४०२२॥

इन गाथा का अर्थ समझ में नहीं आया । उन्होंने साधवी से अर्थ पूछा-साधवी ने उन्हें गच्छाधिपति जिनभद्र के पास भेजा । आचार्य से अर्थ सुनकर वे दीक्षित हुए । बाद में अपनी विद्वत्ता और श्रेष्ठता के कारण पट्टधर आचार्य बनाये गये ।

जित याकिनी महत्तरा के निमित्त से हरिभद्र ने धर्म परिवर्तन किया था उसको उन्होंने अपनी धर्ममाता के समान पूज्य माना । और खुद को याकिनी महत्तरामुनु कहा । यद्यपि हरिभद्र के धर्म परिवर्तन की घटना का उल्लेख गणधर शतक में नहीं मिलता है फिर भी सभी विद्वान् इसे सत्य स्वीकार करते हैं । याकोरी का कहना है कि "आचार्य हरिभद्र को जैन धर्म का गंभीर ज्ञान रखकर भी अन्यान्य दशंतो का इतना विद्याल और सत्त्वग्राही ज्ञान था जो उस काल में एक ब्राह्मण कोटी परंपरागत शिवा के रूप में प्राप्त होना स्वाभाविक था अन्य को नहीं ।

**भवविरहवृत्ति-**

१) आचार्य हरिभद्र ने अपने ग्रन्थों की अन्तिम गाथा या श्लोक में भवविरह अथवा विरहाक कवि शब्द का प्रयोग किया है । इसका रहस्य प्रदग्धकोण और कहावली दोनों में मिलता है ।

प्रभावक चारित्र तथा प्रदग्धकोण-आचार्य हरिभद्र के दो भाँजे शिष्य थे हंम-परमहंम । ये बोध धर्म और न्याय की शिवा गृह्य करने जितोड में बौद्धाचार्य के पास गये । वहाँ जैन होने का भेद खुल जाने पर हंम तो उनके हाथ बही मारा गया और परमहंम भी उसी तरह समाप्त हो गया । इससे आचार्य को अत्यंत सताप हुआ और इन शिष्यों की चिर स्मृति के रूप में उन्होंने विरह शब्द अपना लिया । कहावली में भी शिष्यों के मारे जाने की बात आनी है पर नाम जिनभद्र वीरभद्र

दिए हैं जो उपयुक्त प्रतीत होते हैं। उनके भवविरहमूर्ति करके लिखने और प्रसिद्ध होने की बात कहावत में निम्न प्रकार है। मुनि कथाग-विजयी आदि विद्वानों ने इस कथा को प्राचीन माना है।

२) भवविरहमूर्ति के लिये दूसरी भी एक कथा प्रसिद्ध है।

हरिभद्र जिनभट्ट आचार्य के पास दीक्षित होने गए और उनसे धर्म का पूछा। आचार्य ने धर्म के दो भेद बतलाए सङ्गृह (निशानमहित-सकाम) और निःस्पृह (निष्काम) सङ्गृह कर्म का आचरण करनेवाला स्वर्गादि सुख और निःस्पृह धर्म का आचरण करनेवाला भवविरह-मुक्ति, जन्म मरण से छुटकारा प्राप्त करता है। हरिभद्र ने भवविरह को उपादेय समझकर ग्रहण किया।

भोजन या अन्य अवसरों पर जो भी उन्हें नमस्कार पंढना करता उसे वे भवविरह करने में उत्तमवत होओ। यह आशीर्वाद देने। भक्त लोग भवविरहमूर्ति निरंजनी हो कहते हुए चले जाते। इस प्रकार भवविरह अत्यन्त प्रिय होने से इन्होंने स्वयं भवविरह शब्द को ग्रहण किया और भवविरहमूर्ति या विरहाक कवि के नाम से प्रसिद्ध हुए।

कहावती के अनुसार, अन्य आधार पर हरिभद्र जन्मस्थान विवेकुई नाम की कोई ग्रहापुरी मिथ्या है, माता का नाम गंगा और पिता का नाम शकर भट्ट मितता है। इनके द्वारा १४००, १४४०, १४४४ प्रक-र्णों के लिये जाने की सूचना भी मिलती है।

मुख्यप्रधान होने के नाते हरिभद्र की कथाति उनकी अगणित साहित्यिक कृतियों पर आधित है। जैन साहित्य में यह बहुत ही मेधावी और विचारक लेखक है। इनके धर्म, दर्शन, न्याय, कथा-साहित्य एवं योग साधनादि सबधी विविध विषयों पर गंभीर, परिष्ठितपूर्ण ग्रंथ उप-लब्ध हैं। यह आचार्य की बात है कि समराद्वय कहा और धूर्तस्थान जैसे गरम, मनीरंजक आख्यान ग्रंथों का रचयिता अनेकान्त अवपत्ताका जेमे निष्पट न्याय ग्रंथों का रचयिता हो सकता है। एक ओर महदयता और मर्यादा टपकती है तो दूसरी ओर मन्त्रिक की प्रौढ़ता। हरिभद्र की साहित्य प्रतिभा के मूलतः दो वर्ग किये जा सकते हैं—भाष्य, वृत्ति और टीका के रूप में तथा मौलिक ग्रंथ रचना के रूप में।







प्रस्तावना करके भी जो लौकिक या पारलौकिक भोगों की आकांक्षा करता है वह अन्तः संसार का पात्र बनता है।

स्थूलजातीय और धार्मिक साधना की जीवन प्रक्रिया को कला के आवरण में रख जीवन के बाहरी और भीतरी सत्यों की व्यपत्तरणा का प्रयास विशेष इस कथा का प्रधान स्वर है। सहनशीलता सद्भावना के बल से व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है। धार्मिक परदश के महत्त्वपूर्ण दायित्व के प्रति इस कथा का रूपविन्यास दो तत्वों में सघटित है।

१) कर्म-जन्मान्तर के संस्कार और हीनत्व की भावना के कारण अपने विकारों को इतर व्यक्तियों पर आधिपत्य करना। अग्निशर्मा अपने वधपन के संस्कार उस समय उत्पन्न हुई हीनत्व की भावना के कारण गुणसेन द्वारा पारणा के भूल जाने से क्रुद्ध हो निदान याँघता है।

गुणसेन का व्यक्तित्व गुणात्मक गुणवृद्धि के रूप में और अग्नि-शर्मा का व्यक्तित्व भावात्मक भागवृद्धि के रूप में गतिमान संघर्षशील है। इन दोनों व्यक्तित्वों ने कथानक की रूप-रचना में ऐसी मोड़ें उत्पन्न की हैं जिनसे कार्य व्यापार की एकता, परिपूर्णता एवं आरम्भ, मध्य और अन्त की कथा योजना को अनेक रूप और सन्तुलन मिलते चलते हैं। यह कथा किसी व्यक्ति विशेष का इतिवृत्त मात्र नहीं है किन्तु जीवनी चरित्रों की सृष्टि को मानवता की ओर ले जानेवाली है। धार्मिक कथानक के चौकठ में सजीव चरित्रों को फिट कर कथा को संप्रण बनाने की पूरी चेष्टा की गई है।

देशकाल के अनुरूप पात्रों के धार्मिक और सामाजिक संस्कार घटना को गौण रख उनकी चरित्र-निष्ठा को प्रधानता प्रधान बनाती है। घटनाओं के द्वारा मानव प्रकृति का चित्रलेपण और उसके द्वारा तत्कालीन सामन्तवर्गीय जन-समाज एवं उसकी रुचि तथा प्रवृत्तियों का प्रकटीकरण इस कथा को देशकाल की चेतना से अभिभूत करता है।

इसके अतिरिक्त गुणसेन के हृदय में भावनाओं का उत्थान पतन मानव की मूल प्रकृति में निहित मनोवैज्ञानिक गुणों को चित्रित करता है। क्रोध, घृणा आदि मौलिक आधारभूत वृत्तियों का प्रकटीकरण

भेदा प्रकट होती है। यहाँ प्रेम की जिष्ट और स्वाभाविक अनुभूति है। प्रेम का उद्भाग संयम, नैतिक और त्वानात्मिक है। अन्तर्कथा के रूप में अमरगुण की कथा गुण कथा ने विभाग में गहनक है। अगान्तर कथाओं के द्वारा प्रधान पात्र में गानात्मिक नश्वरता और वैराग्य की चेतना जागृत करते हैं।

शैली की दृष्टि से इस भन की कथा तर्कपूर्ण व्यावहारिक शैली में लिखी गई है। स्वप्न में देखे गये मिह की आकृति, रूप, तेज, और प्रभाव का विशात्मक वर्णन कथा की गति को तम्य विस्तरेण के साथ निश्चित प्रभाव की ओर ले जाता है।

तीसरा भव : जालिनी और सिद्धिनु-

इस कथा में देश नगर और पितृपरपरा को लेकर जो व्यक्ति-वाचक सजाएँ आई हैं वह कोई निरर्थक जमघट नहीं हैं। नाम तो साकेतिक हैं ही, पर इनके चलते कथाओं में नाद तत्त्व आ गया है। एक विशिष्ट वातावरण की सृष्टि हुई है। साकेतिकता और सगीतात्म-पता के सामंजस्य द्वारा एक गभीर वातावरण की सृष्टि होती है। त्रिमता त्रिम प्रकाश का गुण उमका रंग ही नागनरग दिया गया है। ध्वनिनाश व्यभिवाचक नाम गाना है। अन व्यभिवाचक नामों द्वारा संक्षेप में तीन उद्देश्यों की सिद्धि की है।

१) नादतत्व या गुणन, २) चारित्रिक सकेत, ३) अन्यापदेशिक शैली में घटनाओं की सूचना-

धर्मकथा होने पर भी इन कथा के पात्रों में असामान्यता है। कहीं कहीं हास्य की सरसता भी है। भूत चैतन्यवाद का छंदन कर धामनर्य की भिष्ट करनेवान आचार्य का शील आत्मतत्त्व निरूपण भेदा अधिक प्रचुर है।

शालिनी-शालिनी अनेक दृष्टियों से बमसे कम प्रेरणा और प्रभाव में अर्थात् नारी है।

पुत्र की प्राप्ति माता की ममता वालाव्य और त्याग की परम्परा प्रभाव से भिन्न माता की ऐसी शाश्वतता और शाश्वतता से ऐसे

अभ्यवसाय दिग्गजावर बघावार ने रघार्यवाद के अति सामान्य अति-अन्तिम साहसवाद का परिचय दिया है। ऐसी भासाएँ साहित्य में अब एक परिचय जैसी हो गईं। यह सब निदान का मटुफन दिग्गजावर बड़े-बड़े होने पर भी पुनः भाषिणी भासा का ध्यान, ऐसी हिमा की अन्वेषणा दिग्गजावर आरम्भ की उस उदात्त पंजाबनता का दर्शन कराया गया है।

विगत और विजयतिह की वारविवाद की श्रुतता आद्योपाद्य अपनी दिग्गजावर अन्तिम रघाविचार पर का पुष्ट, गमूढ और हीन बनाती है।

अजित की कथा से जन्मजन्मातर के कारण काय का पूर्वापार जो गिड़ हो गया उनमें—

१) वस्तुतः जो आत्मा स्वयत्ति ही थी। उसे तर्क की कसौटी पर प्रतिवाद के द्वारा सिद्ध कराकर मन के मन को प्रभावित कराकर कथा की सार्यकता अमोघ बना दी गई है।

२) जो उदाहरण दिए जाते हैं उनसे अविमुक्त, स्वच्छन्द, अडा-रहित, मुहफन, निरसीन तथा व्यंग्यपटु व्यंगित्व का पता चलता है।

आत्मा की गिड़ि इन प्रकार तर्क के उदाहरणों द्वारा ह्रास्य-व्यंग्य की शैली में निरूपित की है।

३) प्रतीकों का प्रयोग—मुद्रकथा की निष्पत्ति के लिए अनेक अनेक प्रतीकों का प्रयोग कर भावों की अभिव्यजना की है। प्रतीक कथा के प्रभाव को संयुक्त रघाविचार ही नहीं प्रदान करते बल्कि उसमें एक नवीन रस उत्पन्न करते हैं। स्वर्ण घट टूटने का स्वप्न प्रतीक है।

गर्भधारण के दस हिरण्यराज्य के वर्ष विलास या धातुभाषना है। घट उदर का, रहस्य का जीव के मण्डलाकार चक्र का प्रतीक है। आर्जव, परंपरा सबलता, काव्य गुण संपन्नता, दार्शनिक जाशयिकता, तथा स्वर्ण आदि रंगों के प्रतिदिव्य कांतीमयता एवं द्रव्य के प्रति विलासिता आदि भी इन प्रतीकों के द्वारा अभिव्यजित होती है। टूटना गर्भविनाश तथा गर्भस्यप्रार्थना की हत्या की अभिव्यजना है। प्रतीक से संयुक्त घटना के पूर्व ही उसका भविष्य अंकित कर देता है। नारीकेतु

की जिज्ञासा से जन्मजन्माश्रित है—यों की परंपरा का स्थापना है।  
कर्मफल के अनुसार जन्मजन्माश्रितों के संश्लेष में शामिल है।

लिय दिया—साँप बना भीतर फिर रहता है। साँप मारा गया तो  
मिट्टी बना—आक्रमण का जन्म दोनो ने एक दूसरे को मारा—दोनों  
पायंडा बना—अधमगा का प्रतीक। एक ने युद्ध का आश्रय प्रदान किया  
तो जन्म और चरित्र में भेद।

स्थापन की दृष्टि से भाव डग्रात्मक है।

सौकुमार्य-तत्त्व-

यों तो हरिभद्र की प्राकृत कथाएँ वर्णन कथाएँ हैं पर इनमें तो  
कथा तत्त्व भी समाहित है। सौकुमार्य मंगलशांति की आदिम पर-  
म्पराओं, प्रयाओं और उनके विभिन्न विषयों का वास्तविक प्रति-  
निधित्व करती हैं। सौकुमार्य सौन्दर्य बोध, सौकुमार्य की एकलपता,  
और सामान्य अभिव्यंजन प्रणाली विरस की सौकुमार्यों में समा-  
न रूप से हैं।

हरिभद्र ने प्राकृत कथाओं को सौकुमार्य में लिखा है। अतः

इनकी सौकुमार्यताओं में सौकुमार्य के सौकुमार्य, सौकुमार्य और सौकु-  
भाषा से तीनों तत्त्व विद्यमान हैं। इनकी सौकुमार्यताओं में मध्ययुग के  
भावों और मध्यम इन दोनों वर्गों के सौकुमार्य रीतिरिवाज, विस्वा-  
मान्यताएँ, रहन-सहन आदि का सजीव रूप अभित है। अतः इनकी  
प्राकृत कथाओं में सौकुमार्य का ऐतिहासिक, सामूहिक विरासतों की  
मनोसामाजिक और लोकसंस्कृति का सामाजिक वृष्टमूर्ति वर्तमान है।  
इसका सबसे बड़ा प्रयत्न कारण यह है कि सौकुमार्य के योग से की गई  
सौकुमार्य ग्राह्य की रचना सौकुमार्य का दिग्दर्शन कराने में पूर्ण  
समान होती है। जनता का सबसे प्रतिनिधि हरिभद्र जनजीवन और  
उनकी प्राचीन सभ्यता का विवेक करता है। प्रबुद्ध साहित्यकार पर  
सामाजिक सामाजिक परिस्थितियों का चला प्रभाव पड़ता है। हरिभद्र  
के युग में अंधविश्वास, तन्त्रमन्त्र, हिंसात्मक पूजा, नाना मतवाद एवं  
सांप्रदायिक गंभीर विभिन्न मान्यताएँ प्रगतिन थीं आ इन्होंने शास्त्रीय  
वि से कथाओं को मंडित करने पर भी अपनी कथाकृतियों में सौकु-

धेतना एवं लोकसंस्कृति की अनेक छवियाँ व्यक्त की १) लोककथा का देशकाल बहुधा आश्चर्यजनक और कल्पना मंडित होता है । २) इनमें अप्राकृतिक, अतिप्राकृतिक तथा अमानवीय तत्वों का समावेश होता है । ३) ये लोककथाएँ लोकसंस्कृति का चित्रण करती हैं । ४) लोक कथा को आन्दोलित करना, प्रेरित करना और निश्चित उद्देश्य की ओर ले जाती हैं । ५) लोकभाषा में ही लोकानुश्रुति से प्राप्त कथाओं को लिपिवद्ध करती हैं । ६) ऐतिहासिक, रुढ़िगत पौराणिक घटनाओं का कल्पना के माध्यम से चित्रण होता है ।

हरिभद्र की समराइच्च कहा जैसी बहुमूल्य प्राकृत कथाकृति में लोककथा के पर्याप्त गुणधर्म विद्यमान हैं । प्राकृत भाषा लोकभाषा है और लोकभाषा में लोकपरम्परा से प्राप्त कथानक सूर्यों की संघटित कर लोकमानस को आन्दोलित करनेवाली लोकानुश्रुति कथाएँ लिखकर हरिभद्र ने लोककथा साहित्य का प्रणयन किया है । विश्लेषण करने पर हरिभद्र की प्राकृत कथाओं में निम्नांकित लोककथा के तत्त्व उपलब्ध हैं—१) प्रेम का अभिन्न पुट, २) स्वस्थ श्रृंगारिकता, ३) मूल प्रवृत्तियों का निरंतर आश्चर्य, ४) लोकमंगल, ५) धर्मश्रद्धा, ६) आदिम मानस, ७) रहस्य, ८) कुतूहल, ९) मनोरंजन, १०) अमानवीय, तत्त्व, ११) अप्राकृतिकता, १२) अति प्राकृतिकता, १३) अन्ध विश्वास, १४) उप-देशात्मकता, १५) अनुश्रुतिमूलकता, १६) आश्चर्य तत्त्व का समावेश, १७) हास्यविनोद, १८) पारिवारिक जीवन चित्रण, १९) मिलन बाधाएँ, २०) लोक मानस की सरलता, २१) पूर्वजन्म के संस्कार तथा कलौषभोग, २२) महत्वाकांक्षाओं की अभिव्यक्ति, २३) जनभाषा तत्त्व, २४) सरल अभिव्यंजना, २५) जनमानस का प्रतिफलन, २६) परंपरा की असुण्णता ।

संक्षेप में शैली घटना चमत्कार, एवं अभिव्यक्ति में हरिभद्र की प्राकृत कथाएँ लोककथा के निकट हैं । यद्यपि अभिजात कथाओं के गुणधर्म इगमें बहुलता से पाये जाते हैं तो भी लोककथा तत्वों की कमी नहीं ।

भाषा शैली और उद्देश्य—

भाषा मनोभावों और विचारों का दहन करती है और शैली उन



इसका रसास्वाद भद्भुत है। कर्म सिद्धांत, पुनर्जन्म, स्वप्न, मृत्युवर्ण, धर्मोपदेश प्रभृति के साथ ब्यपारण वर्तमान है। वातावरण का अधिपत्य अधिक सुश्रुति कर घटनाओं के उपयोग परिलक्षित किये गये हैं। कथा का विकास विरोध और द्वन्द्व के बीच होता है। कुतूहल और जिज्ञासा सर्वत्र प्रवृत्ति आगित्य बनाये रखती है। जीवन की आन्तरिक भावनाओं का निरूपण उत्तरोत्तर होता जाता है। भावात्मक गवादी के द्वारा कथा का दिग्गार भार होता होता है। आन्तरिक भावनाओं का व्यथास्थान उत्पादन होता प्रमत्ता है। दैनिक और पारिवारिक जीवन की महत्त्व सामान्य अनुभूतियों के सामिक विषय में विवेक परिलक्षित है। इतिवृत्त में विदग्धतापूर्ण स्वभाव की कमी नहीं।

— श्री. डी. शाह







धार बाद लगाने की उचित की कार्यक कर दिखाए हैं। इसमें परीक्षा  
मियों को भी विशेष सुविधा मिलेगी, बोर्ड का प्रकाशन विभाग आप  
इस महत्वपूर्ण लेख के लिये हार्दिक आभार प्रकट करता है।

समराइचक कहा के सानुवाद प्रकाशन के लिये कई साहित्य  
प्रेमियों ने विशेष रूप से आर्थिक आश्रय प्रदान किया है, उनकी शु  
भामावली सामार प्रकट की जा रही है-

- |       |  |                    |
|-------|--|--------------------|
| २००१) | श्री नवलचंदजी सरदारमलजी पुगलिया              | नागपुर             |
| १२०१) | श्री चिमणभाई                                 | बम्ब               |
| ११००) | सौ पदमबाई श्रीमल नवलखा                       | जयपुर              |
| १००१) | श्री धनीचैन ग्यासचंदजी शाह                   | बंबई (नारायणवाड़ी) |
| १००१) | श्री फकीरचंदजी बालारामजी गुगले               | चिचोडी (शिराल)     |
| १०००) | श्री नवलखा एण्ड सन्स (श्री पोपटलालजी)        | पुणे               |
| ५०१)  | श्रीमती घोडाबाई तिलोकचंदजी गुंवेचा           | चादा (अ. नगर)      |
| ५०१)  | श्रीमती शक्करबाई रतनचंदजी सुराणा             | दुर्ग              |
| ५०१)  | सौ. बसन्ताबाई आनंदरामजी चोरडिया              | खेड (पुणे)         |
| ५०१)  | श्री तिलोकचंदजी संचेती                       | मद्रास             |
| ४००)  | सौ रतनबाई ताराचंदजी दुग्गड                   | मद्रास             |
| २५१)  | श्री गिरधारीलालजी पानाचंदजी मेहता            | बंबई               |
| २५१)  | श्री आत्माराम एण्ड सन्स                      | अम्बाला छावणी      |
| २५१)  | श्री मुंदरलालजी दामोदरदासजी मेहेर            | जलगाव              |
| २५०)  | श्री जमवंतराजजी सोहनलालजी वाफना              | बैंगलोर            |
| २४२)  | श्री शक्तिनगर संघ से                         | दिल्ली             |
| २२१)  | श्री गुलाबचंदजी विनयचंदजी जैन                | दिल्ली             |
| २२१)  | सौ. हजारीबाई गुलानचंदजी जैन                  | दिल्ली             |
| २०२)  | श्री धनराजजी शान्तीलालजी पितलिया             | अहमदनगर            |
| २०१)  | श्री केसरचंदजी लालचंदजी चोरडिया              | बोरी (पुणे)        |
| २०१)  | श्री रूपचंदजी दीलतरामजी फिरोदिया (प्रवरासगम) | अ नगर              |
| २०१)  | श्री पुनमकुमारजी भाणकचंदजी कटारिया           | इचलकरजी            |
| २०१)  | श्री दर्जनलालजी जैन (ओसवाल होजरी)            | बुधियाना           |
| २०१)  | श्री दगडूलालजी रामचंदजी गांधी                | प्रवरासगम          |

२०१) श्री पुत्रराजजी हिरानानजी तातेः

२०१) श्री शान्तीनानजी सनीगुमाजी

२०१) श्री पुत्रराजजी किमननाथजी तातेः

२०१) श्री मोहनलालजी दुग्गवाल

२०१) सौ पतासावाई पुत्रराजजी चोरडिया (बोरीवासा)

२००) श्री बनारसीदामजी पूर्णचंदजी मोनी

२००) सौ राजनवाई उत्तमचंदजी पगारिया

१५१) श्री मदनलालजी हिरानालजी बोरा

१५१) श्री पुनमचंदजी मगनरामजी नाहर

१५१) श्री भागचंदजी हरीचंदजी कटारिया

१५१) श्री ज्ञानचंदजी चमनलालजी जैन

१०१) श्री सुरेशचंदजी उत्तमचंदजी देसडा

१०१) श्री रतनचंदजी चांदमलजी बोरा (पिपलावाला)

१०१) सौ. गजरावाई बनेचंद गांधी

१०१) सौ. इचरजवाई भुंवरलालजी भुया

१०१) श्री कचरदासजी अमरचंदजी भटेवडा

१०१) सौ. शान्तावाई केसरचंदजी चोरडिया

१०१) श्री केवलचंदजी हिरालालजी भट्टारी

१०१) श्री कस्तूरीलालजी बचनलालजी ओमवाल

१०१) श्री प्रेमचंदजी फूलचंदजी फूलफगर

१००) वन्नीलालजी भागचंदजी भुया

५१) श्री पवनकुमारजी जैन

याकिनीमहत्तरासूनु-परमगुणानुरागि-परममत्यप्रिय-परमकारुणिक  
भगवत्-श्रीहरिभद्र-सूरिवररचिता-

## ❀ समराइच्चकहा ❀



पणमह विजिअसुदुज्जय-निजिअसुरमणूअ-विसमसरपसरं ।  
तिहुअणमंगलनिलयं वसहगइगयं जिणं उसहं ॥१॥  
परमसिरिवद्धमाणं पणट्टमाणं विसुद्धवरणाणं ।  
गयजोअं जोईसं सयंभुवं वद्धमाणं च ॥२॥  
सेसे चिय धावीसे जाइ-जरा-मरणबन्धणविमुक्के ।  
तेलोक्कमत्ययत्थे तिथयरे भावओ नमह ॥३॥  
उवणेउ मंगलं वो जिणाण मुहलालिजालसंवलिआ ।  
तिथपवत्तणसमए तिअसविमुक्का कुसुमवुट्ठी ॥४॥

समरादित्यकथा-

प्रणमत विजितमुदुज्जय-निजितमुरमणूअ-विपमसरप्रसरम् ।  
त्रिभुवनमङ्गलनिलयं वृषभगतिगतं जिनम्-श्रुपभम् ॥१॥  
परमश्रीवर्धमानं प्रनष्टमानं विगुद्धवरत्नानम् ।  
गतयागं योगीशं स्वयंभुवं वर्धमानं च ॥२॥  
शोपाश्चैव द्वाविंशति जाति-जरा-मरणबन्धनविमुक्तान् ।  
त्रैलोक्यमस्तकस्यान् तीर्थकरान् भावतो नमत ॥३॥  
उपनयन् मङ्गलं वो जिनानां मुखराजलिजालसंवलिता ।  
तीर्थप्रवर्तनममये त्रिदशविमुक्ता कुसुमवृष्टिः ॥४॥

देउ सुहं वो सुर-सिद्ध-भणुअवन्देहि सायरं नमिआ ।  
तित्थयरवयणपङ्कयविणिग्गया भणहरा वाणी ॥५॥

अलं पक्खिअरेण । सुणत्त मोअध्वाइं, पयंगह पयंगमिअइं,  
परिहरह परिहरिअध्वाइं, आयरह आयरिअध्वाइं । तत्थ-

सोअध्वाइं नरा-अमर-मिक्खमुहजणयाइं अत्यसाराइं ।  
सच्चमुमासिआइं भुयणम्मि पइट्ठिअजसाइं ॥६॥  
ताइं चिय विवुहाणं पयंगमिअज्जाइं तह य जाइं च ।  
तेहि चिय भणिआइं सम्मत्त-आण-चरणाइं ॥७॥  
परिहरिअध्वाइं तहा कुगईवासस्स हेउमूआइं ।  
निच्छत्तमाइआइं लोक्खिवद्धाइं य तरेव ॥८॥  
आयरिअध्वाइं अणिस्सिएण सम्मत्त-आण-चरणाइं ।  
दोगच्चविउडणाइं चिन्तामणिरयणभूआइं ॥९॥

इदानीं सुखं वः सुर-सिद्ध-मनुजवृन्दैः सादये नता ।  
तीर्थंकरवदनपङ्कजविनिग्गता मनोहरा वाणी ॥५॥

अलं प्रविशन्तरेण । सुणतु श्रोतव्यानि, प्रजंमन प्रजंमनीयानि, परिहृत्य  
परिहृत्यवानि, आचरत आचरितव्यानि । तत्र-

श्रोतव्यानि नरा-अमर-सिद्धमुखजनकानि अयंगारानि ।  
मर्कजभाषितानि भुवने प्रणिष्टिनयनांसि ॥६॥  
तान्येव विबुधानां प्रजंमनीयानि तथा च यानि च ।  
नेरेव नपितानि मय्यक्ख-आण-चरणानि ॥७॥  
परिहृत्यवानि तथा कुगनिवासस्य हेतुमूनानि ।  
विध्याल्लादिवानि लोकसिद्धानि च तदेव ॥८॥  
आचरितव्यानि अनिचिनेन मय्यक्ख-आण-चरणानि ।  
दीर्घमणिपुटानि चिन्तामणिरयणभूतानि ॥९॥

एतयं पुन अहिमारो ता सोअब्बेहि पत्युअपवग्गे ।

सध्वन्नुभासिआइं सोअच्चाइं ति भणिपमिणं ॥१०॥

योच्छं तप्पडिवद्धं भविज्जणाणन्दयारिणि परमं ।

संलेवओ महत्तयं चरिअकहं तं निसामेह ॥११॥

तस्य य 'तिविहं क्हावत्तुं' ति पुत्थायरियपवाओ । तं जहा-दिव्यं,  
दिव्यमाणुसं, माणुसं च । तस्य दिव्यं नाम, जस्य केवलमेव देवचरिमं  
चणिज्जइ । दिव्यमाणुसं पुन, जस्य दोण्हं पि दिव्यमाणुसाणं । माणुसं  
तु, जस्य केवलं माणुसचरियं ति । एतय सामन्नओ चत्तारि क्हाओ  
हवन्ति । तं जहा-अत्यक्हा, कामक्हा, धम्मक्हा, संकिण्णक्हा य ।  
तस्य अत्यक्हा नाम, जा अत्योच्चापाणपडिबद्धा, असि-मसि-कसि-याणिज्ज-  
सिप्पसंगया, विचित्तपाउषायाइपमुहमहोवायसपउत्ता, साम-भेयटप्पपाण-  
वण्डाइपमत्यविरइआ सा अत्यक्ह ति मण्णइ । जा उण कामो-  
च्चापाणविसया, वित्त-वपु-व्वय-कला-दक्खिण्णपरिगया, अनुरागपुल्लइ-  
अपडिवत्तिजोअसारा, दूईवावार-रमियभावाणुवत्तणाइपमत्यसंगया सा

अत्र पुनरधिकारस्तावत् श्रोतव्यं प्रस्तुतप्रबन्धे ।

सर्वज्ञमापितानि श्रोतव्यानीति भणितमिदम् ॥१०॥

वक्ष्ये तत्प्रतिबद्धा भव्यजनानन्दकारिणी परमात् ।

सक्षेपतो महार्था चरितकथा ता निगाम्यते ॥११॥

तत्र च 'त्रिविध कथावस्तु' इति पूर्वाचार्यप्रवादः । तद्यथा-  
'दिव्यम्, दिव्यमानुषम्, मानुषं च । तत्र दिव्यं नाम, यत्र केवलमेव देव-  
चरितं वर्ण्यते । दिव्यमानुषं पुनः, यत्र द्वयोरपि दिव्यमानुषयो ( चरि-  
तम् ) । मानुषं तु, यत्र केवलं मानुषचरितमिति । अत्र सामान्यतः चतस्रः  
कथा भवन्ति । तद्यथा-अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा, संकीर्णकथा च ।  
तत्र अर्थकथा नाम, या अर्थोपादानप्रतिबद्धा, अमि-मसि-कूपि-याणिज्ज-  
शिव्वसंगता, विचित्रघानुवादादिप्रमुखमहोपायसप्रयुक्ता, साम-भेदो-  
'दानदण्डादिपदार्यविरचिता सा 'अर्थकथा' इति भण्यते । जा  
'कामोपादानविषया, वित्त-वपु-व्वय-कला-दक्षिण्यपरिगता, अनुराग-  
'भक्तिप्रतिपत्तिपोनसारा, दूनीव्यापार-रतभावानुवर्तनादिपदार्यसंगता

कामकहति भण्यते । या उण धम्मोवायाणगोपरा, क्षमा-मद्व-अज्जव-मुत्ति-  
 तव-मज्जम-सोव-सोया-अकिञ्च-अमचेर-यहाणा, अनुपप-रिति-वेण-  
 ऽणय-दण्डविरद-सामादय-पोसहोवयासोपमोग-परिमोग-अतिहिमांमिण  
 कलिया, अनुकम्पा-अकामनिज्जरादपपरयसंपउता सा धम्मकहति । जा उण  
 तिविगोवायाणमंबद्धा, कस्य-कहा-गन्थयवित्थरविरदया, सोइय-वे-  
 समयपमिद्धा, उयाहरण-हेउ-कारणोपवेया सा संकिण्णकहति बुद्ध ।  
 एयांणं च कहाणं तिविहा सोयारो हयन्ति । तं जहा-अहमा, मज्जिमा  
 उत्तम ति । तस्य जे कोह-मान-माया-लोह-समाच्छादयमई, परलोपमं  
 णपरंमुहा, इहलोपपरमत्यदेसिणो, निरणुकम्पा जीवेणु, ते तहाविहा सामता  
 अहमपुरिसा दुग्गडगमणकन्दुजयाए, मुगइपडिववणभूयाए, परमत्यओ  
 ऽणयवहल्लाए अत्यकहाए अनुसज्जन्ति । ते उण सहाइविषयविम-  
 मोहिपमणा, भावरिउ-इन्द्रियाणुकूलवसिणो, अमाविषयपरमत्यमणा, 'इदं  
 सुन्दरं, इमं सुन्दरं' ति सुन्दरामुन्दरेणु अवनिच्छियमई ते रायसा मज्जि-  
 मपुरिसा बहुजणोपहसणिज्जाए विडम्बणमेतपडिबद्धाए, इह परमवे च

'कामकथा' इति भण्यते । या पुनर्धर्मोपादानगोचरा, क्षमा-माद्व-  
 अज्जव-मुत्ति-तप-संयम-सत्य-शौचा-अकिञ्च-अमचेर-यहाणा, अनु-  
 पप-दि-देशा-अन्यदण्डविरति-सामायिक-पोषपोषवासोपमोग-परिमोग-  
 अतिपिसविभागकलिता, अनुकम्पा-अकामनिज्जरादिवदार्थसंप्रयुक्ता सा  
 'धर्मकथा' इति ( भण्यते ) । या पुनस्त्रिबर्गोपादनसंबद्धा, काम-  
 कथा-ग्रन्थार्थविस्तरविरचिता, लौकिक-वेदसम्यग्प्रसिद्धा, उदाहरण-हेउ-  
 कारणोपवेता सा 'सफीर्णकथा' इति उच्यते । एतासो च कथानो त्रिविधाः  
 श्रोतारो भवन्ति । तद्यथा-अधमा, मध्यमा, उत्तमा इति । तत्र ये  
 त्रौध-मान-माया-लोभममाज्जितमतमः, परलोकदर्शनमराद्मुखा, निर-  
 नुकम्पा जीवेषु, ते तयाविद्यां सामसा अधमपुरयाः दुर्गतिगमनकन्दो-  
 र्चनायाम्, गुणतिप्रतिपक्षभूतायाम्, परमार्थतः अनर्थबहुलायाम्-अर्थकथा-  
 याम्-अनुसज्जन्ति । ये पुनः धम्मादिविषयविषमोहितमनसः, भावरिपु-  
 इन्द्रियाणुकूलवसिणः, अमावितपरमार्थमार्गाः, 'इदं सुन्दरम्' इदं सुन्द-  
 रम्' इति सुन्दराऽमुन्दरेषु अविनिविच्यतमतयः, ते राजसा मध्यम-  
 पुरया बहुजनोपहसनीयायाम् विटम्बनमात्रप्रतिबद्धायाम्, इह परमार्थं च

दुस्तसंवर्द्धिषाए कामकहाए अनुसज्जन्ति । जे उण मणयं सुन्दरयरा,  
सावेक्षा उभयलोएसु, कुसला व्यवहारनयमएणं, परमार्थओ सार-  
विज्ञानरहिदा, सुद्धभोएसु अबहुमानिणो, अवियण्हा उदारभोगाणं, ते  
किञ्चि सत्तिदा मज्झिमपुरिसा चेव आसयविसेसओ सुगह-दुग्गइवत्ति-  
णीए, जीव-लोएसमावविष्ममाए, सयत्तरसनीसन्दसपयाए, विविहभा-  
वपमूइनिबन्धणाए संकिण्णकहाए अनुसज्जन्ति । जे उण जाइ-जरा-  
मरणजणियवेराया, जम्मतरम्मि वि कुसलमाविअमई, निव्विण्णा काम-  
भोगाण, भुक्कपाया पायलेवेण, विद्वायपरमपयसएवा, आसया तिद्धि-  
संपत्तीए, ते सत्तिदा उत्तमपुरिसा सग-निव्व्याणसमारुहणवत्तिणोए, बहु-  
जणपसंसणिज्जाए, सयलकहामुन्दराए, महापुरिससेविद्याए धम्मकहाए  
चेव अनुसज्जन्ति ।

तओ अहं पि इमाणि दिव्य-मानुसवत्पुण्यं धम्मकहं चेव कित्तइ-  
स्सामि । भणित्थ च अकूतपरोषकारनिरएहि, उपलब्धपरमपदमार्गेहि,  
सम-तिण-भणि-मुत्त-रेट्ठ-काञ्चनेहि सासयसियसोवत्तवद्धराएहि धम्म-  
सत्पपारेहि-

दु एसवधिकयां कामकयायाम्-अनुपजन्ति । ये पुनर्मनाक् सुन्दरतराः,  
सापेक्षा उभयलोकेषु, कुसला व्यवहारनयमतेन, परमार्थतः सारविज्ञान-  
रहिता, शुद्धभोगेषु अबहुमानिनः, अवितृष्णा उदारभोगानाम्ते किञ्चित्  
मात्त्विका मध्यमपुरुषादथैव आशयविशेषतः सुगति-दुर्गतिवर्तित्याम्,  
जीव-लोकस्वभावविघ्नमामां सकलरसनि-व्यन्दसगतायाम्, विविधभाव-  
प्रसूतिनिबन्धनाया संकीर्णवचयाम्-अनुपजन्ति । ये पुनर्जन्ति-जरा-मरण-  
जातवैराग्याः, जन्मान्तरेऽपि कुशलभावितमस्य, निर्विण्णा कामभोगेभ्यः,  
भुक्तप्राया पायलेपेन, विज्ञातपरमपदस्वरूपा, आसया सिद्धिसंप्राप्त्यै,  
ते मात्त्विका उत्तमपुरया स्वर्ग-निर्वाणसमारोहणवर्तित्याम्, बहुजन-  
प्रमसनीयायाम्, सवलकयामुन्दरायाम्, महापुरुषमेविताया धर्मकया-  
यामेव अनुपजन्ति ।

ततोऽहमपि इदानीं दिव्य-मानुषवस्तुगता धर्मकयामेव कीर्त-  
यिष्यामि । भणित्थ च अकूतपरोषकारनिरतैः, उपलब्धपरमपदमार्गैः,  
समवृण-भणि-मुक्ता-लेष्टु-काञ्चनैः शाश्वतविषयोष्यवद्धरागैर्धर्मशास्त्र-  
कारैः-





नवपुष्पमयनिबद्धं संवेगकरं च भव्यसत्ताणं ।  
 चरितं समराइच्चस्तऽवन्तिरघो सुणह, वोच्छं ॥ ११  
 एतं बहुया उ भवा बोण्ह वि उवओगिणो न ते सत्  
 नवसु परोप्परजोगो जत्तो संखा इमा भणिया ॥ २  
 जह तेणेव भगवया गिरिसेणुवसगसहणपज्जन्ते ।  
 संजापकेवलेणं सिट्ठं वेलंघरसुरस्स ॥ २१॥  
 मुनिवन्द(चन्द)स्स य रघो देवीण य नम्मयापहा  
 संखेवेण फुडट्यं अहमपि तं संपवक्खामि ॥ २२॥

भणितं च पुराणपरिणीहः—

गुणसेण-अग्निसम्मा सोहा-ऽऽणन्दा य तह पिथा-उत्त  
 सिहि-जालिणि माइ-मुया धण-धण-तिरिमो य पइ-भज्ज  
 जय-विजया य सहोयर धरणो लच्छी य तह पई-  
 सेण-विसेणा पित्तिव-उत्ता जम्मम्मि सत्तमए ॥ २१  
 गुणचन्द-वाणमतर समराइच्च गिरिसेणपाणो उ ।

नवपूर्वभवनिबद्ध संवेगकर च भव्यसत्त्वानाम् ।  
 चरितं समरादित्यस्य अवन्तीराजस्य शुणुत, वश्यं ॥ ११॥  
 अत्र बहुकास्तु भवा द्वयोरपि उपयोगिनो न ते सर्वे ।  
 नवसु परस्परयोगो यत मन्वा दय भणिता ॥ २०॥  
 यथा तेनैव भगवता गिरिसेनोपसर्गसहनपर्यन्ते ।  
 संजातकेवलेन शिष्टं वेलंघरसुरस्य ॥ २१॥  
 मुनिवन्द्य(चन्द्र)स्य च राज्ञ देवीना च नर्मदाप्रधानानाम्  
 संक्षेपेण स्फुटार्थम्, अहमपि ॥ सप्रवक्ष्यामि ॥ २२॥

भणितं च पूर्वाचार्यः—

गुणसेन-अग्निशर्माणी मिहा-ऽऽणन्दी च तवा पितृ-पुत्री  
 शिखि-जालिन्यो मातृ-भुते धन-धनश्रियो च पति-भार्ये ॥ २३॥  
 जय-विजयी च सहोदरो धरणो लक्ष्मीश्च तवा पति-भार्ये ।  
 सेन-विसेनौ पितृव्य-पुत्री जन्मनि सप्तमके ॥ २४

—अन्तरो समरादित्य. गिरिसेनप्राण



## पढमो भवो

अस्ति इहेव जम्बूद्वीपे द्वीपे, अपरविदेहे वासे उत्तुंगधवलप्राकार-  
मण्डितम्, नलिनीवनसङ्घनपरिहासनायम्, सुविभक्तत्रिकचतुष्क-वत्स्व-  
रम्, भवनेजितसुरेन्द्रभवनशोभ क्षितिप्रतिष्ठित नाम नगरम् ।

जत्य विलयाउ कमलाइं कोइलं कुवल्याइं कलहंसे ।  
वयणेहि जंपिएण य नयणेहि गईहि य जिणन्ति ॥१॥  
जत्य य नराण यसनं विज्जासु, जसम्मि निम्मले लोहो ।  
पावेसु सया भीरुत्तणं, च धम्मम्मि घणबुद्धी ॥२॥  
तत्य य राया संपुण्णमण्डलो मयकलङ्कपरिहीणो ।  
जणमणनयणाणन्दो नामेणं पुण्णघन्दो त्ति ॥३॥  
अन्तेउरप्पहाणा देवी नामेण कुमुदणी तत्स ।  
सइ वड्डियविसयसुहा इट्ठा य रइ इव मयणस्स ॥४॥

प्रथमो भवः

अस्ति इहेव जम्बूद्वीपे द्वीपे, अपरविदेहे वर्षे, उत्तुङ्गधवलप्राकार-  
मण्डितम्, नलिनीवनसङ्घनपरिहासनायम्, सुविभक्तत्रिकचतुष्क-वत्स्व-  
रम्, भवनेजितसुरेन्द्रभवनशोभ क्षितिप्रतिष्ठित नाम नगरम् ।

यत्र वनिताः कमलानि, कोकिलाः, कुवलयानि, कलहंसान् ।  
वदनैः, जल्पितेन च नयनैः, गतिभिश्च जयन्ति ॥१॥  
यत्र च नराणां व्यसनं विद्याम्, यद्यसि निर्मले लोभः ।  
पापेषु सदा भीरुत्व, च धर्मे धनबुद्धिः ॥२॥  
तत्र च राजा संपूर्णमण्डलो मृग(मद) कलङ्कपरिहीणः ।  
जनमनो-नयनानन्दो नाम्ना पूर्णचन्द्र इति ॥३॥  
अन्तःपुरप्रधाना देवी नाम्ना कुमुदिनी तस्य ।  
सदा वधितविषयसुखा इष्टा च रतिरिव मदनस्य ॥४॥



सुतुरियतुरियं हिण्डावेइ । एवं च पइविणं कयन्तेनेव तेण कयत्थिज्जन्तस्स  
तस्स वैराग्यभावना जाया । चिन्तियं च जेण-

बहुजणधिककारहया ओहसणिज्जा य सच्चवलोयस्स ।  
पुट्ठिय अकयसुपुण्णा सहन्ति परपरिभवं पुरिसा ॥६॥  
जइ ता न फओ धम्मो सप्पुरिसनित्तेविओ अहन्नेणं ।  
जम्मन्तरम्मि धणियं सुहावहो मूढहियएणं ॥७॥  
एण्हि पि कलविचाणं उगं दट्ठणमकयपुण्णायं ।  
परलोयबन्धुभूयं करेमि भुणित्तेवियं धम्मं ॥८॥  
जम्मन्तरे यि जेणं पावेमि न एरिसं महाभीमं ।  
सयरुजणोहसणिज्जं विडम्भणं दुज्जणजणाओ ॥९॥

एवं च चिन्तिय पवन्नवैराग्यमग्गो, निग्गओ नयराओ, पत्तो य  
मासमात्रेण कालेण तद्विषयसंघिसंस्थितं, बकुल-चम्पका-स्तोक-पुष्पाग-  
भागाकुलं, पसन्तमय-मयाहिषपमूहविरुद्धस्वापदगणं, सुरभिहविर्गन्ध-

सुरवरित्तरित हिण्डयति । एव प्रतिदिन कृतान्तेनेव तेन कदर्थ्यमानस्य  
तस्य वैराग्यभावना जाता । चिन्तित चानेन-

बहुजनधिककारहता अपहसनीयाएव सर्वलोकस्य ।  
पूर्वमकृतमुपुण्या सहन्ते परपरिभव पुरुषा ॥१॥६॥  
यदि तावद् न कृतो धर्मः सुपुरुषनित्तेवितोऽघ्नयेन ।  
जन्मान्तरे गाढ सुखावहो मूढहृदयेन ॥७॥  
एतेनेहापि कलविपाकमुग्र हृद्वाञ्छितपुण्यानाम् ।  
परलोकबन्धुभूत करोमि भुनित्तेवित धर्मम् ॥८॥  
जन्मान्तरेऽपि येन प्राप्नोमि नैवादर्शी महाभीमाम् ।  
सकलजनोपहसनीया विडम्बना दुर्जनजनात् ॥९॥

एवं च चिन्तयित्वा प्रपन्नवैराग्यमार्गो निर्गतो नगरात्, प्राप्तश्च  
मासमात्रेण कालेन तद्विषयसंघिसंस्थितम्, बकुल-चम्पका-स्तोक-पुष्पाग-  
भागाकुलम्, प्रशान्तमृग-मृगाधिपप्रमुखविरुद्धस्वापदगणम्, सुरभिहविर्गन्ध-

गमिषुदामधूमरहलं, विमलसन्निगिरि-नदीप्रसाधितविकटपर्यन्तम्, ताव-  
सज्जननिपयहियपरिओमं मुपरिओमं नाम तत्रोष्णं ति ।

संपाविऊण य तओ दोहद्धाणपरितोइयसरीरो ।

योसमिऊण मुहुत्तं तयोवणं अह पविट्ठो सो ॥१०॥

दिट्ठो य तेण वरकल-वियडजडा-अजिन-तिदण्डधारी य ।

मूहरयकयतिपुण्डो आसन्नरुमण्डलू सोमो ॥११॥

मिसियाए मुहनिषण्णो कयलीहरयन्तरम्मि भाणगओ ।

परिवत्तेन्तो दाहिणकरेण रुद्धकप्पमालं ति ॥१२॥

मन्तवखरजयणेण य ईसि विलयन्तकण्ठजट्टजडो ।

नासाए निमियदिट्ठो विणिवारियसेसयावारो ॥१३॥

अयसिमयजोगपट्टयपमाणसंगयकयासणयिसेसो ।

तावसकुलप्पहाणो अज्जवकोण्डिण्णनामो ति ॥१४॥

वेडिऊण य हरितवमुल्लसितरोमञ्चेणं, धरणिनिमियनानुकरय-

लेणं, उत्तमंगेण पुणो पुणो पयसिइतलेणं 'अहो ! धम्मो, अहो ! धम्मो'

गमिषुदामधूमपटलम्, विमलसन्निगिरि-नदीप्रसाधितविकटपर्यन्तम्,  
तावसज्जननिपयहियपरितोप मुपरितोप नाम तपोवनमिति ।

सप्राप्य च ततो दीर्घाध्वपरिलेदितसरीर ।

विध्यम्य मुहुत्तं तपोवनमय प्रविष्ट स ॥१०॥

भूतिरजस्तृतिपुण्डः आसन्नकमण्डलू सोम ॥११॥

वृषिकाया (कुशासने) मुसनिषण्ण कदलीगृहान्तरे ध्यानगतः ।

परिवर्तयन् दक्षिणकरेण रुद्राक्षमालामिति ॥१२॥

मन्त्राक्षरजपनेन च ईषद् विचलत्कण्ठोष्ठपुट ।

नासया निमित्तदृष्टिः विनिवारितसंप्रव्यापारः ॥१३॥

अतसीमययोगपट्टकप्रमाणसंगततृतासनविशेषः ।

तावसकुलप्रधान आर्जवकोण्डिन्यनामेति ॥१४॥

प्रेक्ष्य च हृष्यवसोत्लसितरोमाञ्चेन, धरणीन्यस्तनानुकरतलेन,

उत्तमाङ्गेन पुनः पुनः प्रवृत्तक्षितिलेन 'अहो ! धम्मो ! धम्मो !'

ति भणमाणेणं पणमिओ तेणं वि य तं तथा पेच्छऊण अतिहिबहुमान-  
करणलालसेण ज्ञानजोगं पमोत्तूणं सागययणपुरस्सरं 'अहो ! आसणं  
आसणं' ति भणमाणेणं बहुमन्निओ । तओ उडयंगणनिसेवितावसकुमारो-  
वणीए इसिणा य 'उवयिससु एत्य' ति भणिओ सविणयं उवविट्ठो  
विट्ठरे ति । पुच्छिओ इसिणा—कुओ भवं यागओ ?' ति । तओ तेण  
सविट्ठरो निवेइओ से अत्तणो वुत्तन्तो । भणिओ य इसिणा—वच्छ !  
पुव्वकयकम्मपरिणद्वसेणं एवं परिकित्तेसमाइणो जीवा हवन्ति । तां  
मरिन्दावमाणपीडियाणं, दारिद्रदुक्खपरिभूमाणं, दोहम्य-कलङ्कुदूमियाणं,  
इदुजणविओगवहनतत्ताण य एयं परं इह-परलोकमुहावहं परमनिव्व-  
इट्ठाणं ति । एत्य—

पेच्छन्ति न संगकयं दुक्खं अवमाणणं च लोकाओ ।

दोग्गइपड्डणं च तथा वणवासी सव्वहा धम्मा ॥१५॥

एवमणुसासिएण भणियं अगिसम्मेषं—भगवं ! एवमेयं, न  
संदेहो ति । ता जइ भयवओ भमोवरि अनुकम्पा, उचिओ वा अहं

इति भणता प्रणतस्तेन । तेनाऽपि च तं तथा प्रेक्ष्य अतिविबहुमान-  
करणलालसेन ध्यानयोगं प्रमुच्य स्वागतवचनपुरस्सरम् 'अहो !  
आसनम्, आसनम्' इति भणता बहुमानितः । तत उटजाङ्गणनिसेवि-  
तापसकुमारोपनीते ऋषिणा च 'उपविश अत्र' इति भणितः सविनयम्,  
उपविष्टो विष्टरे इति । पृष्ठ ऋषिणा—'कुतो भवान् आगतः' ? इति ।  
ततस्तेन सविस्तरं निवेदितस्तस्य आत्मनो वृत्तान्तः । भणितश्च  
ऋषिणा—वत्स ! पूर्वकृतकर्मपरिणतिवशेनैव परिक्लेशभाजिनो जीवा  
भवन्ति । तस्माद् नरेन्द्रावमानपीडितानाम्, दारिद्र्यदुःखपरिभूतानाम्,  
दौर्भाग्य-कलङ्कुदूतानाम्, इष्टजनवियोगदहनतप्तानां चैतत् पर इह-  
परलोकमुहावहं परमनिर्वृतिस्थानमिति । अत्र—

प्रेक्षन्ते न सगकृतं दुःखम् अवमाननं च लोकान् ।

दुर्गतिपतनं च तथा वनवासिनः सर्वथा धन्याः ॥१५॥

एवमणुशासितेन भणितमग्निदर्शना—नगवन् ! एवमेतत्, :  
संदेह इति । तस्माद् यदि भगवतो भमोपरि अनुकम्पा, उचिनो वा अ



एयस्स ययवित्तेस्सं, ता करेहि मे एयययप्पयाजेणानुगहं ति । इत्थि  
 भणियं-वच्छ ! वेरगमग्गाणुगओ तुमं ति करेमि अणुगहं, को अन्नो  
 एयस्स उच्चिओ ति । तओ अइयकन्तेसु कइययविणोसु संसिऊण य सवित्तरं  
 निययमायारं, दसात्ये तिहिररण-मुहुत्त-जोग-लग्गे दिन्ना से तावसदिवसा ।  
 महापरिमदजगियवेरग्गाइत्तय वाविण्ण घाणेण तन्मि चैय दिक्खादिवसे  
 सयलतावसलोयररियरियगुरुसमयलं कया महापइन्ना । जहा-जायग्गीवं  
 मए मासाओ चैय भोत्तव्यं, पारणगदिवसे य पढमपविट्ठेणं पढमगेहाओ  
 चैय लग्गे वा अलग्गे वा नियत्तिवय्य, न गेहत्तरमभिगन्तव्यं ति । एवं  
 कयपइन्नस्स तस्स जहाकय पइन्नमगुपालितस्स अइयकन्ता बह्वे पुण्व-  
 लपप्पा । तयोयणासन्नयसन्तउरनिपात्तिणो य लोयस्स गुणराइणो जाओ  
 तं पइ अइय भत्तिवहुमाणो । अहो ? अयं महातवस्सो इहलोयनिष्पिवात्तो,  
 सरीरे वि दढमप्पडियद्धो, एयस्सा सक्कं जीवियं ति । भणियं च-  
 जणपवदायायबहुमाणिणा वि जत्तो गुणेसु कायव्वो ।  
 भावज्जन्ति गुणा खलु अबुहं पि जणं अमच्छरियं ॥१६॥

एतस्य व्रतविशेषस्य, तस्मात् कुर्वन् मम एतद्व्रतप्रदानेन अनुग्रहमिति ।  
 श्रुत्वा भणितम्-वत्स ! वैराग्यमार्गानुगतस्त्वमिति करोमि अनुग्रहम्,  
 कोऽप्य एतस्य उचित इति । ततोऽतिक्रान्तेषु कर्तव्यदिनेषु दासित्वा च

य सविस्तर निजकमाचारम्, प्रशस्ते तिथिकरण-मुहूर्त-योग-लग्गे दत्ता  
 तस्य तापसदीक्षा महापरिमदजनितवैराग्यातिशयभावितेन चानेन तस्मि-  
 न्नेव दीक्षादिवसे सकलतापसलोकपरिकरितगुरुसमक्ष कृता महाप्रतिज्ञा ।  
 यथा-यावज्जीव गया मासाद् मासाद् एव भोक्तव्यम्, पारणकदिवसे च  
 प्रथमपविष्टेन प्रथमगेहाद् एव लाभ वाञ्छामे वा निवर्तितव्यम्, न  
 गेहान्तरमभिगन्तव्यमिति । एव च कृतप्रतिज्ञस्य तस्य यथाकृता प्रतिज्ञा-  
 मनुपालनोऽतिक्रान्तानि बहूनि पूर्ववृत्तानि । तपोवनासन्नयसन्तपुर-  
 निवातिनश्च लास्य गुणरागणो जानस्त प्रति अतोव भक्ति-बहुमानः ।  
 अहो ! अयं महापुण्यो इहलोयनिष्पिवात्त, सरीरेऽपि दढमप्रतिवद्धः,  
 एतस्य सच्छ जीविमिति । भणितं च-  
 जननशालबहुमानिना जणं जत्तो गुणेसु वनंभ्य ।  
 (भाष्येन) भावज्जन्ति गुणा खलु अबुधमणि जनममात्सवं ॥१६॥

इतो य पुण्यचन्दो राया कुमारगुणसेनं कयदारपरिग्रहं रज्जे  
 भभिसिञ्चिञ्चण सहकुमुदणीए देयीए तवोवणवासी जाओ । सो य  
 कुमारगुणसेनो अणेयसामन्तपणिवइयचलणजुयलो, निज्जियनियमण्डला-  
 हियाणेगमण्डलो, दसदिसि विसट्टनिम्मलविस्सुयजसो, धम्म-रय-काम-  
 लखणतिवग्गसंपायणरओ महाराया संवृतो ति । अग्रया च काल-  
 वकमेणेव जहामुहं सयलजगतलाहणिज्जं सह वसन्तसेनाए महादेवीए  
 रज्जसोवळं अणुहवन्तो आगतो वसन्तउरं, पविट्ठो य महामगलोपचारें,  
 पूजिओ य पउरेहि, गओ समं तेहि पाउसलीलावलम्बिसोहिं विमा-  
 णच्छन्दयं भाम पासायं । जत्य मेहुद्धिणच्छायाणुपारिणीओ बहल-  
 कालागदधूमसंतईओ, सोयामणीओ विव विहायन्ति रयगावलीओ, जल-  
 धाराओ विव बीसन्ति मुत्तावलीओ, यलायापन्तिपाओ विव विहायन्ति  
 चमरपन्तिपाओ, इन्दाउहच्छायापहारिणीओ पलम्बियाओ पट्टमुपमालाओ,  
 गन्धोपगावसेयमुरभिगग्घा भूमिभागा, दण्डन्तमहुयरकुलावइण्णा पुणो-  
 वयारा । किं बहुना जंपिएण ? ।

पुरिसाण मोहनिदामुत्ताण वि सिमिणयं पिव कहेइ ।

पुट्ठि कयाण वियडं फलं च जो भागघेयाणं ॥१७॥

इतश्च पुण्यचन्द्रो राजा कुमारगुणसेनं कृतदारपरिग्रहं राज्ये-  
 भिषिच्य सह कुमुदिन्या देव्या तपोवनवासी जातः । स च कुमारगुण-  
 सेनोऽनेकसामन्तप्रणिपतितचरणमगलः, निजितनिजमण्डलाधिकानेक-  
 मण्डलः, दशदिशि विकसितनिर्मलविश्रुतयशाः, धर्माग्न्य-कामलक्षणविभर्ग-  
 संपादनरतो महाराजः संवृत इति । अन्यदा च कालक्रमेणैव ययामुत्तं  
 सकलजनश्लाघनीय सह वसन्तसेनया महादेव्या राज्यसील्यमनुभवन्  
 आगतो वसन्तपुरम् प्रविष्टश्च महामगलोपचारेण, पूजितश्च पीरैः,  
 गतः समं तैः प्रावृल्लीलावलम्बिनीभिश्च विमानच्छन्दक नाम प्रासादम् ।  
 यत्र मेघदुर्दिनच्छायाणुकारिण्यो बहल-कालगुरुधूमसताय, सोदामिन्य-  
 इव विभान्ति रत्नावल्यः, जलधारा इव दण्डन्ते मुक्तावल्यः, बलाकापट्टय-  
 इव विभान्ति चमरपन्तिकाः, इन्द्रायुधच्छायापहारिण्यः प्रदम्बिता-  
 पट्टासुकमाला, गन्धोदकावसेकमुरभिगग्घा भूमिभागा, दण्डन्तमहुयरकुला-  
 वलीलाः पुणोपचारा । किं बहुना जन्तितेन ?

पुरुषाणां मोहनिदामुत्तानामपि स्वप्नमिव कथयति ।

पूर्वं कृतानां विषयः फलं च यो

भणियं राइणा - भयवं ! किं ते इमस्त महादुष्करस्त तववरणवक्ता-  
मस्त कारणं ? । अग्निसम्मतावसेण भणियं - भो महासत्त ! दारिद्रु-  
क्लं, परपरिहयो, विरूपया, तथा महारायपुत्तो य गुणसेनो नाम कल्ला-  
णमित्तो ति । तज्जो संजायनियनामासंकेण भणियं राइणा-भयवं !  
चिद्दुज ताव दारिद्रुक्खाइयं वयसायकारणं, अह कहं पुण महारायपुत्तो  
गुणसेनो नाम कल्लाणमित्तो ति । अग्निसम्मतावसेण भणियं-महासत्त !  
एवं कल्लाणमित्तो । सुण-

जे होन्ति उत्तमनरा धम्मं सयमेव ते पवज्जन्ति ।  
मज्झिमपयई संचोइया, उ न कयाइ वि जहन्ना ॥१८॥

चोएइ य जो धम्मे जीवं विविहेण केणइ नएण ।  
संसारचारयगयं, सो नणु कल्लाणमित्तो ति ॥१९॥

तज्जो राइणा कुमारवृत्तन्तं सुमरिऊण भणियं लज्जावणयवयणेण-  
भयवं ! कहं पुण तुमं तेण तेलोकयन्धुभूए धम्मे चोइओ ? । अग्नि-  
सम्मतावसेण भणियं-भो महासत्त ! नानाविहाओ चोपणाओ, ता

भणितं राजा-भगवन् ! किं तव अस्य महादुष्करस्य तपस्वरण-  
व्यवसायस्य कारणम् ? । अग्निशर्मतापसेन भणितम्-भो महा-  
सत्त्व ! दारिद्र्यदुःखम्, परपरिभव, विरूपता, तथा महाराज-  
पुत्रस्य गुणसेनो नाम कल्याणमित्रम्-इति । ततः सजातनिजनामाऽऽ-  
द्यद्वेन भणितं राजा-भगवन् ! तिष्ठतु तावद् दारिद्र्यदुःखादिकं  
व्यवसायकारणम्, अयं कस्य पुनर्महाराजपुत्रो गुणसेनो नाम कल्याण-  
मित्रम्-इति । अग्निशर्मतापसेन भणितम्-महासत्त्व ! एवं कल्याण-  
मित्रम् । नृण-

ये भवन्ति उत्तमनरा धर्मं स्वयमेव ते प्रपद्यन्ते ।  
मध्यमव्रतयः सचोदिता, तु न कदापि जयन्त्याः ॥१८॥

चोदयति य यो धर्मं जीव विविधेन केनचिद् नयेन ।  
समारचारकगतम्, न ननु कल्याणमित्रम्-इति ॥१९॥

तज्जो राजा कुमारवृत्तान्तं स्मृत्वा भणितं लज्जावनतवदनेन-  
भयवन् ! कस्य पुनस्तव तं तज्जो कस्यवन्धुभूते धर्मं चोदितं ? । अग्नि-  
शर्मतापसेन भणितम्-भो महामत्त्व ! नानाविधातः चोदनातः, तस्मात्

कहंचि निमित्तमेतेषां चैव षोडशो हि । ततो राइणा चिन्तियं । अहो ! ते महानुभावया-परिभवो वि याजेणोवधारचोयण ति गहिओ । परपरिवायं च परिहरन्तो सुद्धसहावत्तणओ न तं पि मग्गेइ । अहो ! दारुणं अकज्जं मए पावकम्मेषाणुचिद्धियं । ता कहेमि से अकज्जायरणकलङ्कुदूसियं अप्पाणं । एवं चिन्तिऊण जंपियमणेण-भयवं ! अहं सो महापाप-कम्मयारो तुहं हिययसंतावयारो अगुणसेणो ति । अग्निसम्मतावसेण भणियं-भो महाराय ! सागयं ते । कहं तुमं अगुणसेणो ? , जेण तए परपिण्डजीवियमेत्तविहवो अहं ईइसि तवविभूइ पाविओ ति । राइणा भणियं-अहो ! ते महानुभावया, किं वा तवस्सिजणो पियं वज्जिय अन्नं भणिवं जाणइ ? । न य मियङ्कुबिम्बाओ अङ्गारवट्ठीओ पडगित । ता अलं एइणा । भयवं ! कया ते पारणणं भविस्सइ ? । अग्निसम्मेण भणियं-महाराय ! पञ्चहिं दिणोहिं । राइणा भणियं-भयवं जइ ते नाईव उवरोहो, ता कायवो मम गेहे पारणणं पसाओ । विज्जाओ य मए कुलवइणो सपासाओ तुज्ज पइप्पाविसेसो, अओ अणागयं पस्येमि ति ।

कथंचिद् निमित्तमात्रेण एव चोदितोऽस्मि । ततो राज्ञा चिन्तितम् । अहो ! अस्य महानुभावता परिभवोऽपि चानेन उपकारचोदनेति गृहीतः । परपरिवाद च परिहरन् सुद्धस्वभावत्वाद् न तमपि मन्यते । अहो ! दारुणमकार्यं मया पापकर्मणाऽनुष्ठितम् । तस्मात् कथयामि तस्य अकार्याचरणकलङ्कदूषितमात्मानम् । एव चिन्तयित्वा जल्पितमनेन-भगवन् ! अहं स महापापकर्मकारी तव हृदयसतापकारी अगुणसेन इति । अग्निशर्मतापसेन भणितम्-भो महाराज ! स्वागतं तव । कथं त्वमगुणसेनः ? , येन त्वया परपिण्डजीवितमात्रविभवः अहं ईदृशीं तपो-विभूतिं प्रापित इति राज्ञा भणितम्-अहो ! तव महानुभावता, किं वा तपस्विजनः प्रिय वज्रयित्वा अन्यद् भणितुं जानाति ? । न च मृगाङ्कुबिम्बाद् अङ्गारवट्टयः पतन्ति । तस्माद् अलभेतेन । भगवन् ! कदा तव पारणकं भविष्यति ? । अग्निशर्मणा भणितम्-महाराज ! पञ्चभिर्दिनैः । राज्ञा भणितम्-भगवन् ! यदि तव नातीव उपरोधः, तस्मात् कर्तव्यो मम गेहे पारणकेन प्रसादः । विज्ञातश्च मया कुलपतेः सकाशात् तव प्रतिज्ञाविशेषः, अतोऽज्ञातं प्रार्थयामीति ।

अग्निसम्मेन भणियं-महाराज ! आगच्छत ताव तो दिपहो, को जाना  
अन्तरे किंवि भविस्सइ । अवि य-

एयं करेमि एण्हि एयं काऊण पुण इमं कल्लं ।  
काहिमि, को णु मग्गइ गुणिघतुल्लम्मि जियलोए ? ॥२०॥  
अत्रं च महाराज !  
धो जियलोयसहायो, जहियं नेहाणुरायकलिया यि ।  
जे पुट्ठणहे विट्ठा ते अयरणहे न वोसन्ति ॥२१॥

ता महाराज ! आगच्छत ताव तो दिपहो ति । राइणा भणियं-  
भययं ! विग्र मोत्तण सगच्छत अग्निसम्मेतायसेण भणियं-जइ एवं ते  
निम्बग्घो, ता एव पडिक्का ते परयणा । तओ राया वणमिऊण हरित-  
वसपुल्लइयगो कच्चि वेला गमेऊण पविट्ठो नयर । कया कुलवड्ढणो  
सपरिवारस्स भत्तिविभवानुक्खा पूजा । अइक्कन्तेमु य पञ्चमु  
विणेषु पारणगदिवसे पडम चेय पविट्ठो अग्निसम्मेतायसो पारणा-  
निमित्त रायगहे ति । तम्मि य दिपहे कहचि राइणो गुणसेनास  
अग्निशर्मणाभणितम्-महाराज ! आगच्छतु तावत् स दिवस, को  
जानाति अन्तरे किमपि भविष्यति । अवि च-

एतत् करोमि इदानी एतत् कृत्वा पुनरिद ।  
करिष्यामि, को नु मन्यते स्वनकतुल्ये जीवलोके ? ॥२०॥

अन्यच्च महाराज !  
धिग् जीवलोकस्वभावम्, यत्र स्नेहानुरागकलिता अपि ।  
ये पूर्वाह्णे दृष्टा तेऽपराह्णे न दृश्यन्ते ॥२१॥

तस्मात् महाराज ! आगच्छतु तावत् स दिवस इति । राजा  
भणितम्-भगवन् ! विघ्नमुक्त्वा सगच्छन्ताम् । अग्निशर्मतापसेन भणि-  
तम् यदि एव तव निबन्धः, तस्माद् एव प्रतिपन्ना तव प्रार्थना । ततो  
राजा प्रणम्य हर्षवशपुलकिताङ्ग काचिद् वेलां गमयित्वा प्रविष्टो  
नगरम् । कृता कुलपते सपरिवारस्य भक्तिविभवानुरूपा पूजा । अति-  
शान्त्येषु च पञ्चमु दिनेषु पारणकदिवसे प्रथममेव प्रविष्टोऽग्निशर्मतापसः  
पारणकनिमित्त राजगहमिति । तस्मिन्च दिवसे कथंचिद् राज्ञो गुणसेनस्य

अतीव सीसवेयणा समुत्पन्ना । ततो आउलीहूयं सर्वं चैव रायकुलं । पविष्टा  
 य तस्य वेज्जसत्यविसारया वेज्जा उग्गाहेन्ति नाणाविहाओ चिगिच्छा-  
 संहियाओ, पोसिज्जन्ति बहुविहाइ ओसहाइं, दिज्जन्ति सिरोखेयावहारिणो  
 विचित्ररत्नलेपाः । किकायच्चमूडा उपहसितमुन्नहृत्पतिबुद्धि-  
 वि मन्तिणो । पत्थुय पुरोहिहं मन्तगम्भिणाहुइप्पयाणसार सन्तिकम्मं ।  
 तथा मिलाणमुरहिमल्लदामसोह, सुवण्णगडुविपलियङ्गरायं, बाहजल-  
 घोयकबोलपत्तलेहं, करयलपणामियपध्वायवपणपङ्कजं, उद्विगमन्तेउरं ।  
 तथा विरत्तकन्दुकुली, परिचत्तचित्तयम्मबावारं, विरयणीय-नल्लवणारम्मं,  
 अवहत्तियभूसणकलावं, दुम्मणविमणं कप्पयन्तेउरं । चेत्तज्जट्टिनिमिय-  
 विच्छायमुहसोहा य पडिहारा, रत्तो वेयणाइसयसूयणा, दुम्मणा मडह-  
 कञ्चुइया, परिचत्तनिययवावारा, विचित्रा सूपणागारप्पमुहा निओण-  
 कारिणो ति । ततोसो अग्गिसम्मतावसो एवविहे रायकुले कंधि वेत्ता ममेळ्ळण  
 वयणमेत्तेणाधि केणाधि अकयपडिवत्तो निग्गओ रायगेहाओ ति । निग्गन्तूण  
 गओ तवोवणं, दिट्ठो य तावत्तेहि, भणिओ य तेहि-भयवं । अकयपारणणो

अतीव धीपंवेदना समुत्पन्ना । तत आकुलीभूतं सर्वमेव राज-कुलम् ।  
 मविष्टा च तत्र वैद्यसास्त्रविदारदा वैद्याः, उद्ग्राहयन्ति नानाविधाः  
 चिकित्सासहिताः, पिप्यन्ते बहुविधानि ओषधानि, दीयन्ते सिरोखेदा-  
 पहारिणो विचित्ररत्नलेपाः । किकतंभ्यमूडा उपहसितमुन्नहृत्पतिबुद्धि-  
 विम्वया अपि मन्त्रिणः । प्रस्तुत पुरोहितं मन्त्रगमिताऽहुतिप्रदानसार  
 यान्तिकम् । तथा म्लानमुरभिमात्यदामशोभम्, सुवर्णकाटपविचलिता-  
 ङ्गरागम् बाष्पजलघीतकपोलपत्रलेखम्, करतलप्रणामितम्लानवदन-  
 पङ्कजम्, उद्विगम-अन्तःपुरम् । तथा विरज्जकन्दुकनीडम्, परित्यक्त-  
 धित्रकमध्यापारम्, विरतगीत-नर्तनाऽऽरम्भम्, अपहस्तिरभूषणवल्गापम्,  
 दुर्मनोविमन-कान्तकान्त पुरम् । वेत्तयट्ठिन्पस्त-विच्छायमुत्तगोभारच  
 प्रतीहाराः, राजो वेदनातिशयसूचकाः दुर्मनसो सधुक्ञ्चुविन, परि-  
 त्यक्तनिजकम्यापाराः, विचित्राः सूपकारप्रमुखा निवाणकारिण इति ।  
 ततः शोऽग्निशमतापस एवविधे राजकुले वाचिद् वेत्ता ममदित्या वचन-  
 मात्रेणाऽपि वेनापि अहुतप्रतिपत्तिनिगतो राजगेहादिति ।  
 स्तपोवनम्, दृष्टा

भनियं-भय ! सत्तम जगतीमूत्रो नु शोड गमगितगो । तमो का  
 तं पड लज्ज ति । ता कहेउ भय. जेग भुनियतुतगो भनिय केगड  
 उवाएण-उवणेमि तं उवयेयं नि । गडुणा भनियं-भयं । जड एव,  
 ता भुनयु । एत अगिगमसागो पडमं जेव मम मग्गुणम्म, अगमि-  
 सिगपकारिणो, अगमिजगगमिगपणनिरपम्म संवग्गिणा निग्गेएण  
 तावतो संवुत्तो । एवम्प पवन्नुसमपण्ण नि म मग्ग अगमिजगगापरणं न  
 परिचत्तं ति वडमुग्गिणो मि । कुवड्डुणा भनिय-भय ! जड एव,  
 ता अत्तं संतप्पिएण, कि कारणं । जड भुत्तं संवग्गिणा कारणेण तावतो  
 संवुत्तो, ता भुत्तं सेव इमस्स धम्मपयसो कल्पागमितो ति ; किमुग्गिणो  
 ति ? । न यावि एण्ह भुत्तं परतोयमीनो, अहिगपधम्मगत्तस्स किं  
 भनियं-भय ! इयाणि ताव एयं उवनिमत्तिऊण मागपारणपविट्ठस्स  
 सीतयेयणाभिभूएणपमायमो अणित्तपरिपणेण आहारान्तरायकरणेण कयं  
 ते धम्मन्तरायं ति । कुलवड्डुणा भनियं-भय ! अ किंचि एयं, न तुमं एय

भनितम्-वत्स ! सर्वस्य जननीभूतः तलु भवति तपस्विजनः । ततः का  
 त प्रति लज्जा इति । तस्मात् कपयतु भवान्, येन ज्ञातवृत्तान्तो भूत्या  
 केनचिद् उपायेन अपनयामि तम् उद्वेगमिति । राज्ञा भनितम्-  
 भगवन् ! यद्येवम्, तत् शृणु । एषोऽग्निधर्मतापस प्रथममेव मम  
 मन्दपुण्यस्य, असमीक्षितकारिण, असहस्रजनमहशाचरणनिरतस्य सब-  
 न्धिना निर्वेदेन तापस, संवृत्त । एतस्य प्रपन्नोत्तमव्रतस्याऽपि तद् भया  
 असहस्रजनाचरणं न परित्यक्तमिति हृदम्-उद्विग्नोऽस्मि । कुलपतिना  
 भनितम् वत्स ! यद्येवम्, ततोऽल सतप्तेन, कि कारण । यदि तव  
 सबन्धिना कारणेन तापस संवृत्त, ततस्त्वमेव अस्य धर्मप्रवर्तकः  
 कल्याणमित्रम् इति; किम्-उद्विग्नोऽसि ? । न चाऽपि इदानीं तव पर-  
 लोकभीरो, अधिगतधर्मशास्त्रस्य किमपि असज्जनाचरणं सभावयामि ।  
 किं वा तत् कृतमिदानीं निवेदय मे । राज्ञा भनितम्-भगवन् ! इदानीं  
 तावद् एतम्-उपनिमन्त्र्य मासपारणकप्रविष्टस्य क्षीयवेदनाभिभूतेन  
 प्रमादतोऽनियुक्तपरिजनेन आहारान्तरायकरणेन कृतस्तस्य धर्मान्तराय  
 इति । कुलपतिना भनितम्-वत्स ! यत् किंचिद् एतत्, न त्वम्-अत्र

अवरज्जसि । न त्व्ववेयणाभिभूया पुरस्ता कज्जमकज्जं वा  
वियाणन्ति । न य तस्स आहारन्तरायकरणेणं धम्मन्तरायं हवइ,  
अवि य तवसंपया । ता अलमुव्वेणे त्ति । राइणा भणियं-भयवं !  
जाव तेण महानुभावेण मम गेहे आहारग्रहणं न कयं, ताव कहुमुव्वेवो  
अवेइ ? कुलवइणा भणियं-वच्छ ! इयाणि से अविग्घेण जं पारणं  
भविस्सइ, तर्हि से गेहे आहारग्रहणं करिस्सइ त्ति । तओ कुलवइणा  
सहाविओ अग्निसम्मतावसे, सबहुमाण हत्थे गिण्हिऊण भणिओ य णेण-  
वच्छ ! जं तुमं अकयपारणगो निग्गओ नरिन्वगेहाओ, एएण दढं संत-  
प्पइ राया । कल्लं च एयस्स अईव सीसवेयणा आसि, अओ वेयणा-  
परवसेण न तुमं पडियग्घिओ त्ति; न एस अवरज्जसइ । भणियं च णेण  
'जाव मम गेहे अग्निसम्मतावसेण आहारग्रहणं न कयं, म ताव मे  
-वेवो अवेइ' । अओ इण्हि संपत्तपारणकालेण भवया अविग्घेण मम  
णाओ नरिन्वबहुमाणओ य एयस्स गेहे पारणं करियव्वं त्ति । अग्नि-  
मतावसेण भणियं-भयवं ! जं तुव्वे आणवेह । अकारणे संत-  
प्प राया, जओ न किंचि मे परलोपविद्वमणुचिद्वियमणेणं । तओ

राध्यति । न तीव्रवेदनाभिभूता पुरुषा कार्यमकार्यं वा विजानन्ति ।  
च तस्य आहारान्तरायकरणेन धर्मान्तरायो भवति, अपि च तप सपदा ।  
गोऽलम्-उद्वेगेनेति । राज्ञा भणितम्-भगवन् ! यावत् तेन महानुभावेन  
न गेहे आहारग्रहणं न कृतम्, तावत् कथम्-उद्वेगोऽपैति ? कुलपतिना  
णितम्-वत्स ! इदानीं तस्य अविग्घेन यत् पारणकं भविष्यति, तदा  
गेहे आहारग्रहणं करिष्यतीति । ततः कुलपतिना शब्दायितः सबहुमान  
ते गृहीत्वा भणितश्चानेन-वत्स ! यत् स्वम्-अकृतपारणको निर्गतो  
रेन्द्रगेहात्, एतेन दृढं सत्प्यते राजा । कथं चैतस्य अतीव शीघ्रं वेव-  
सीत्, अतो वेदनापरवशेन न त्वं प्रत्यर्पित इति, नैपोऽपराध्यति  
णितं चानेन 'यावद् मम गेहे अग्निसर्मतापसेन आहारग्रहणं न कृ-  
तं तावद् मम उद्वेगोऽपैति' । अत इदानीं संप्राप्तपारणककालेन भवत  
विग्घेन मम वचनाद् नरेन्द्रबहुमानतश्च एतस्य पारणकं कर्तव्यमिति  
अग्निसर्मतापसेन भणितम्-भगवन् ! यद् यूयम्-आज्ञापयत । 'अका-  
सत्प्यते राजा, यतो न किंचिद् मम परलोकविद्वमनष्ठितमनेन । त



राजा 'अहो !! मे महानुभावय' तितकलिऊण पणमिऊण तवस्तिजनं च  
 किंच येन पञ्चुवामित्य पदिहो नयरं । पुनो य कालवक्रमेण राइणो  
 विमयमुत्समगृह्वन्तम्न, अग्निमम्मम्म य दुक्करं तद्वचरणविहिं करेत्तम्  
 ममइरकन्तो मानो नि । एत्थंतरम्मि य संपत्ते पारणगदिवसे निवेइयं ते  
 राजो विरसेवागएहि निययगुरिमेहि । जहा-महराय ! अइविमयरारह-  
 मगन्धियं, विमयदोगोमूहपविद्धं, अरुयपरिरकलणोवायं अप्पमत्तेण  
 मात्तहणनरउइगा, इहरहा विमयजिगासमयन्तोइऊण, धीरधरियमयन्-  
 त्तिव, धीमन्धमुत्तं मु मरिन्दराइरेमु जाए अहूरतसमए, अतिविमि-  
 रयणिगद्विजमे ते गोरकमइगत्तइमि मियइं सपलवत्तसहिणमववणं  
 हाऊण अइमणं ते विगिजिय सेयं । संपइ देयो पमाणं ति । तजो  
 राइगा एय गुग्गह वयगमायणिऊण कीवाणलज्जलियरत्तलोयणेने,  
 विमयगुरिवाहरेण, निइयकरामिहवयरगिउट्टेण अमरित्तवसपरिणव-  
 मयरणेणं समागगो परिणगो । जहा-वेह गुरियं पमाणपपइहं, सज्जे  
 इउअउं करिअणं, वणगणेह बुगुगुपूरं आसमाहणं, संजसेह धय-मानो-  
 वनेइय सइगतिरइं, वयइवेह मागहहरणमाजिअं पाइरकत्तेयं नि ।

२४० ब्रह्म । 'महानुभावना' इति कल्पित्वा, प्रणम्य तदग्नि-  
 २४१ च ॥ १६६ ॥ ब्रह्म तर्पणाय प्रविष्टो नगरम् । पुनश्च कालक्रमेण राज्ञो  
 विमयमुत्समगृह्वन्तम्न अग्निममेगदव दुक्करं तद्वचरणविधिं कुर्वन्त गमयि-  
 ॥ १६७ ॥ अत्रानरं च मन्त्राने पारणगदिवसे निवेदिन तस्य राज्ञो  
 ॥ १६८ ॥ अत्रानरं च मन्त्राने पारणगदिवसे निवेदिन तस्य राज्ञो  
 ॥ १६९ ॥ अत्रानरं च मन्त्राने पारणगदिवसे निवेदिन तस्य राज्ञो  
 ॥ १७० ॥ अत्रानरं च मन्त्राने पारणगदिवसे निवेदिन तस्य राज्ञो  
 ॥ १७१ ॥ अत्रानरं च मन्त्राने पारणगदिवसे निवेदिन तस्य राज्ञो  
 ॥ १७२ ॥ अत्रानरं च मन्त्राने पारणगदिवसे निवेदिन तस्य राज्ञो  
 ॥ १७३ ॥ अत्रानरं च मन्त्राने पारणगदिवसे निवेदिन तस्य राज्ञो  
 ॥ १७४ ॥ अत्रानरं च मन्त्राने पारणगदिवसे निवेदिन तस्य राज्ञो  
 ॥ १७५ ॥ अत्रानरं च मन्त्राने पारणगदिवसे निवेदिन तस्य राज्ञो  
 ॥ १७६ ॥ अत्रानरं च मन्त्राने पारणगदिवसे निवेदिन तस्य राज्ञो  
 ॥ १७७ ॥ अत्रानरं च मन्त्राने पारणगदिवसे निवेदिन तस्य राज्ञो  
 ॥ १७८ ॥ अत्रानरं च मन्त्राने पारणगदिवसे निवेदिन तस्य राज्ञो  
 ॥ १७९ ॥ अत्रानरं च मन्त्राने पारणगदिवसे निवेदिन तस्य राज्ञो  
 ॥ १८० ॥ अत्रानरं च मन्त्राने पारणगदिवसे निवेदिन तस्य राज्ञो

ततो नरयइतमाएताणन्तरमेवायणिय प्रयाणपडहसहं, करिवरविराय-  
मेहजालं, ऊसिययय-चमर-छत्तसंघायबलापपरिययं, नितियकरवाल-  
न्तसोयामणिसणाहं, सइस-काहलतूरनिग्घोसगज्जियरवपूरियादिसं,  
गलदुद्दिणं पिय समन्तओ विगम्भियं नरिन्दसाहणं ति । एत्यन्तरम्म ।  
रहवराहडे नरिन्दगुणसेने, ठाविए पुरओ सलिलपुण्णे कणयकलसे,  
ए जयसिरिसमुत्फालए मङ्गलतूरे, पढन्तेमु विविहमङ्गलाइ बन्दि-  
त्रेसु, अगिसम्मतावसो पारणगनिमित्तं पविट्ठो नरिन्दगेहं ति । तओ  
म्म महाजणसमुदए आउलीहूए मरिन्दनिग्गमणनिमित्तं पहाणपरियणे  
म केणइ समुवलवित्तओ सि । तओ कंचि वेलां गमेऊण हरियकरि-  
तुरयसंघायधमइणभीओ निग्गओ नरवइगेहाओ । एत्यन्तरम्म य गहिय-  
सइकुच्छाएहिं, मुणियजोइससत्थपरमत्थेहिं भणियं जोइसिएहिं-देव !  
पसत्थं मुहुत्तं, निग्गच्छमु सि । राइणा भणियं-अज्ज तस्स अगिसम्म-  
तायसत्त पारणगदिवसो, पडियत्तं च तेण कुलवइययणाओ मम गेहे  
आहारगहणं कायव्यं ति । ता आगच्छउ ताव सो महानुभावो । तओ तं  
कयभोयणविहाणं पणमिऊण गमिस्सामो । तओ आसन्नवत्तिना भणियं

ततो नरपतिसमादेशान्तरमेव आकर्ष्य प्रयाणकपटहृष्टवद्, करिवर-  
विराजद्वेषजालम्, उच्छ्रितध्वज-चामर-छत्रसंघातबलाकापरिगतम्,  
निशितकरवाल-कुन्तसीदामिनीसनायम् शङ्ख-काहलतूरनिर्घोषगजि-  
रवपूरितम्, अकालदुर्दिनमिव समन्ततो विगुम्भित नरेन्द्रसाधनमिति  
अत्रान्तरे च रघवराहडे नरेन्द्रगुणसेने, स्थापिते पुरतः सलिलपूर्णं कनक-  
कलशं, प्रहृते जयश्रीसमुत्फालके मङ्गलतूरे, पठत्सु विविधमङ्गलार्च-  
बन्दिबुन्देषु, अभिनयमंतापसः पारणकनिमित्तं प्रविष्टो नरेन्द्रगेहमिति ।  
ततस्तस्मिन् महाजनसमुदये आकुलीभूते नरेन्द्रनिर्गमननिमित्तं प्रधान-  
परिजने न केनचित् समुपलक्षित इति । ततः काचिद् वेलां गमयित्वा  
हृष्टकरि-तुरगसंघातावमदनभीतो निर्गतो नरपतिगेहात् । अत्रान्तरे च  
गूहीतशङ्कुच्छाये, जातज्योतिस्शास्त्रपरमार्थे, भणित ज्योतिषिकैः-  
देव ! प्रशस्तं मुहूर्तम् निर्गच्छेति । राज्ञा भणितम्-अथ तस्य अग्नि-  
धर्मतापसस्य पारणकदिवसः, प्रतिपन्नं च तेन कुलपतिवचनाद् मम गेहे  
आहारप्रहणं कर्तव्यमिति । तत आगच्छतु तावत् सं महानुभाव । ततस्त  
वृत्तभोजनविधानं प्रणम्य गमिष्यामि । तत आसन्नवत्तिना भणित

कुलपुत्रकेण-देव ! सो नु महानुभावो गन्धं चेव पवित्रिऊण हरिपकरि-  
 तुरपसंघायचमडणमीओ निगणओ रायगेहाओ । अज्ज वि ष न मयराओ  
 निगच्छइ त्ति तज्जेमि । तओ एयमायणिऊण गमंमगतो राया पयट्ठो  
 तस्स मग्गे, विट्ठो ष णेण नयराओ निगच्छन्तो अग्निगम्मतायसो । तओ  
 ओपरिऊण रहयराओ, भतिनिग्गर निगडिऊण चण्णेषु विप्रसो सबहु-  
 माणं । भयव ! करेह पमायं, विणियतमु त्ति । अहमभिप्पेए वि गमभं  
 तुह चेयागमणमणुवालेन्तो एत्तिअ येन ठिओ म्हि, जाय तुमं पवित्रिऊण  
 मम गेहं अलक्खिओ चेव मे पहाणपरियणेण निगणओ त्ति । ता निपरायु  
 त्ति । अग्निगम्मतावसेण भणिय-महाराय ! विद्वययुत्तान्तो चेव मे तुमं  
 पइआविसेसस्स; ता अल ते इमिणा दवसाएणं । सच्चपइआ नु तव-  
 त्तिणो हवन्ति, निविसेसा य लाभालाभेषु । राइणा भणियं-भयव !  
 लज्जिओ म्हि इमिणा पमायचरिएणं, तुह तिप्यतयजणियसरीरपीडाओ  
 वि मे अहिआ सरीरपीडा, दढं दहइ म संतायाणलो, पणस्सइ विद्व मे  
 महापायकम्मकारिणं च मग्गेमि अप्पाणं; ता सयलदुहिपसत्तबन्धुभूओ,  
 1

कुलपुत्रकेण-देव ! स खलु महानुभाव. साप्रतं चैव प्रविश्य हृत्पकरि-  
 तुरगसंघातावमर्दनभीतो निर्गतो राजगंहात् अद्यापि च न नगराद् निर्ग-  
 च्छति इति तर्कयामि । तत एतद् आकर्ण्य ससभ्रातो राजा प्रवृत्तस्तस्य  
 मार्गे, दृष्टश्चानेन नगराद् निर्गच्छन् अग्निशमंतापसः । तत अवतीर्य  
 रययराद्, भक्तिनिर्भर निपत्य चरणेषु विजप्तः सबहुमानम् । भगवन् !  
 कुरुत प्रसादम्, विनिवर्तस्व इति । अहमभिप्रेयेऽपि गमने त्वैव आगम-  
 नम्-अनुपालमन् एतावती बेला स्थितोऽस्मि, यावत् त्वं प्रविश्य मम  
 गेहन्-अलक्षित एव मम प्रधानपरिजनेन निर्गतोऽसि । ततो निवर्तस्व  
 इति । अग्निशमंतापसेन भणितम्-महाराज ! विदितवृत्तान्त एव मम  
 स्व प्रतिज्ञाविशेषस्य, ततोऽलं तवानेन व्यनसायेन । सत्यप्रतिज्ञाः खलु  
 तपस्विनो भवन्ति, निर्विघ्नोपायच लाभालाभेषु । राजा भणितम्-  
 भगवन् ! लज्जितोऽस्मि अनेन प्रमादचरितेन, तव तीव्रतपोजनित-  
 शरीरपीडातोऽपि मम अधिका शरीरपीडा, दढ दहति मा संतापाञ्जलः,  
 प्रणश्यति इव मम हृदयम्, आक्षिप्यते च मम घाणो, महापाप-  
 कर्म कारिण च मग्गे आत्मानम्; ततः सकलदुःखितसत्त्वबन्धुभूतः

अकारणवच्छलो य भयवं तुमं चेव मे इमस्स दुवत्तस्स उवत्तमोवायं चि-  
न्तेहि । अग्गिस्सम्मत्तावत्तेण चिन्तियं । अहो ! ! ते महारायस्स महानुभा-  
वया । अकयपारणयेण मए एत्थियंतिज्जइ त्ति । अहो ! ! ते गुरयणमु-  
स्सूसानुराओ । ता म जत्तव मए एयस्स गेहे पारणयं कयं, न ताव एस  
सत्थो होइ त्ति चिन्तिऊण भणिय च तेण—महाराय ! अनिमित्तं ते  
दुवत्तं तहायि एयस्स इमो उवत्तमोवाओ । अविग्घेण संपत्ते पारणग-  
दिवसे पुणो वि सुह चेव गेहे आहारगहण करिस्सामि त्ति पडियन्नं मए ।  
ता मा संतप्पगु त्ति । तओ धरणिनिहितजानु-करयत्तेणं भणियं राइणा-  
भयवं ! गुट्ठु भुणिओ इमस्स दुवत्तस्स उवत्तमोवाओ । अहवा विमल-  
माणमयणो चेव तवस्सिज्जओ होइ, किं वा न याणइ ? त्ति । ता अणु-  
गिहीओ मिह । तस्सिं इमं सुह अकारणवच्छलयाए । ता गच्छ तुमं  
तत्रोवणं । अहं पुण म सक्कुणोमि पच्चग्गपमायकलद्धुत्तिओ भगवन्तं  
कुलवइमयलोइउं त्ति । एवं भणिया, पणमिऊण म अग्गिस्सम्मत्तावत्तु  
निवत्तो राजा । 'न मए इयाणि गन्तव्वं' त्ति कलिऊण विसग्गिओ य  
तेणं माणभइगस्स उपरि विवत्तेओ । अग्गिस्सम्मो वि य गन्तूण तत्रोवणं,

अकारणवत्तलद्व भगवान् त्वमेव मम अस्य दुःखस्य उपशमोपायं चिन्तय ।  
अग्निशर्मतापसेन चिन्तितम् । अहो ! ! अस्य महाराजस्य महानुभावता ।  
अद्वैतपारणयेन मया एतावत् सिध्यते इति । अहो ! ! अस्य गुरजन-  
शुभूपानुरागः । ततो न यावद् मया एतस्य गेहे पारणक इतम्, न तावत्  
एव स्वस्यो भवतीति चिन्तयित्वा भजित च तेन—महाराज ! अनिमित्त  
तव दुःखम् । यथापि एतस्स अयम्-उपशमोपायः । अविघ्नेन तत्राप्ये  
पारणकदिवसे पुनरपि तवैव गेहे आहारगहण करिष्यामि इति प्रतिज्ञा  
मया । ततः मा संतप्स्यसेति । ततो धरणिनिहितजानुकरयत्तेन भजित  
राजा—भगवन् ! गुट्ठु जातः अस्य दुःखस्य उपशमोपायः । अपवा  
विमलमाननदन एव तपस्विजनो भवति, किं वा न जानाति ? इति ।  
ततोऽनुगृहीतोऽस्मि । सह्यामिदं तव अकारणवत्तलतायाः । ततो गच्छ  
त्वं तत्रोवणं । अहं पुनः न शक्नोमि प्रत्यक्षप्रमादवत्तद्धुत्तिओ भगवन्त  
कुलवत्तमयलोइतुम्—इति । एवं भजित्वा, प्रजम्प च अग्निशर्मतापस्य  
निवत्तो राजा । 'न मया इदानीं गन्तव्यम् ।' इति वचनित्वा विमल-  
तरु तेन मानभइगस्य उपरि विवत्तेः अग्निशर्मतापस्य च शब्दा तपोवनम्,

निवेदकण कुलवद्वणो जहावित्तं वृत्तन्तं 'यच्छ ! साधु कथं' ति अहि-  
 नन्दिओ य कुलवद्वणा पयन्नो यथाविसेसं ति । अणुदिवहं च पवङ्गमान-  
 संवेगेण राइणा सेविज्जन्तस्म तस्स समइच्छिओ मासो, पत्तो य एतो  
 मनोरहसएहि पारणयदियहो । तस्मिं य पारणयदियहे राइणो गुण-  
 सेणस्स देवी वसन्तसेणा दारयं पसूय ति । निवेदयं च राइणो हरिसवनेन  
 पफुल्लवपणपङ्कयाए सपरितोस पडिहारीए-महाराय ! देवी वसन्तसेना  
 तुम्हाणं अम्मुदयनिमित्त पयाणं भागधेएहि मुहंमुहेणं दारयं पसूय ति ।  
 ततो राइणा पुत्तजम्मम्मुदयसजापरोमञ्चेणं दाऊण पडिहारीए कड-  
 केऊर-कण्णालङ्कारादयं अङ्गाभरणं, दिन्ना समाणसी । वसुधरे !  
 समाइसमु णं मम ययणाओ जहासन्निहिये पडिहारे जहा-मोपावेह  
 कालघण्टापओएण मम रउजे सय्यययणाणि, यथावेह घोसणापुअवं  
 अनेपेक्षितानुअव महावाणं, यिसज्जावेह जियसत्तुम्पमुहाणं नरवर्णि  
 मम पुत्तजम्मपडित्ति, निवेएह देवीपुत्तजम्मम्मुदयं पवरानं, कटावेह  
 अयातच्छणभूयं नयरमहमयं ति । समाइद्धा य तीए जहाइद्धं पडिहाता ।  
 अणुघिद्धिं च रायसातणं पडिहारेहि । अदि य-

निवेद कुलपतये यथावृत्त, 'वरम ! साधु वृत्तम्' इति अभिनन्दितरथ  
 कुलपतिना प्रयत्नो व्रतविशेषमिति । अनुदिवस च प्रवर्धमानसवेगेन राजा  
 सेव्यमानस्य तस्य ममतिशान्तं मागः, प्राप्तश्च राज्ञो मनोरथपटौ,  
 पारणकदिवस । तस्मिन् पारणकदिवसे राज्ञो गुणसेनस्य देवी वसन्त-  
 सेना दारकं प्रभूतेति । निवेदिन च राज्ञो हृदयसेनं प्रफुल्लवदनपङ्कजा  
 सपरितोषं प्रतिहार्य-महाराज । देवी वसन्तसेना युष्माकम्-अम्मुदय-  
 निमित्तम्, वज्रानां भागधेयं गुणगुणेन दारकं प्रभूतेति । ततो राजा  
 पुत्रवज्रव्याम्मुदयमजानरोमाञ्चेन दाया प्रतिहार्यं कटक-केयूर-कणालङ्का-  
 रादिकम्-अङ्गाभरणम्, दत्त्वा ममाजति । वसुधरे ! समादिन मम  
 वचनाद ममाभिहितान् प्रतीहागन् यथा-मोचयत कालघण्टाप्रयोगेन  
 मम राज्ये सर्वकण्ठनाति, दारयन् घोसणापूर्वकम्-अनेपेक्षितानुअवं महा-  
 वातम्, विमन्त्रयन् त्रिजगत्प्रमुखाणां नरपतीनां मम पुत्रवज्रव्याम्मुदय  
 पोषणाम्, कारयन् अकालक्षणभूतं ममा-  
 प्रहं-नरवर्णि । अयातच्छण भयादिष्टं प्रतीहाराः । अनुवेष्टित च  
 राजदामनं प्रतीहारे । अदि य-

करावियं च तेहि तूररयुष्पुणदसदिसाभोयं ।  
 उन्नामि एव करयलनञ्चन्तविलासिणिसमूहं ॥२२॥  
 अन्ते उरियाहोरन्तपुष्पयत्तुत्तरीयवरपीत्तं ।  
 सयित्ते सपसाहियसंमिलन्तरामायणादण्णं ॥२३॥  
 पिट्ठागयमुट्ठिपहारभीदरामाविमुक्कसिक्कारं ।  
 मययसयित्तासिणोजणनञ्चायिज्जन्तकञ्चुहयं ॥२४॥  
 सुव्यन्तकरस्फालिततालायरमुरयमहुरनिग्घोसं ।  
 दानपरितुट्ठवट्ठबन्दिबन्धुजयसहं ॥२५॥  
 मञ्चन्तमडहवामणचेटीहासिज्जमाणनरनाहं ।  
 बद्धायाणयनिवहं बद्धायाणयं यणभिरामं ॥२६॥

पवतो य वसन्तउरे नगरे महामहोत्सवो । एवंविधे य देवीपुत्त-  
 जन्माभ्युदयानन्दि ए महाप्रभते सह राज्ञा राज्यपरिपणे अग्निशर्मर  
 पारणकनिमित्तं राज्यकुलं प्रविश्य वचनभात्रेणाऽपि केनापि अकुर  
 मनुहकर्मोदयेन आर्तध्यानदूषितमना सध्वेव निर्गन्तः । दि

कारितं च तैः तूररयुत्पन्नदसादिद्याभोगम् ।  
 उन्नामितैककरयलनृत्यमानविलासिणीसमूहम् ॥२२॥  
 अन्तःपुरिकान्धियमाणपुष्पवस्त्रोत्तरीयवरपीत्रम् (?) ।  
 सविधेयप्रमाधितसंमीलद्रामाजनाकीर्णम् ॥२३॥  
 मृच्छागतमुष्टिप्रहारभीदरामाविमुक्कसीत्कारम् ।  
 म्रदवसाविलासिनीजननरत्यमानकञ्चुकिम् ॥२४॥  
 भ्रूयमाणकरास्फालिततालादरमुरजमधुरनिर्घोषम् ।  
 दानपरितुष्टवट्ठबन्दिबन्धुजयसह्यम् ॥२५॥  
 मृत्यमानलपुवामनचेटीहास्यमाननरनाथम् ।  
 बद्धाऽऽपानकनिवहं बद्धापनक मनोऽभिरामम् ॥२६॥

प्रयुत्तश्च वसन्तपुरे नगरे महामहोत्सवः । एवंविधे च दे  
 जन्माभ्युदयानन्दिसे महाप्रभते सह राज्ञा राज्यपरिपणे अग्निशर्मर  
 पारणकनिमित्तं राज्यकुलं प्रविश्य वचनभात्रेणाऽपि केनापि अकुर  
 पतिः अशुभकर्मोदयेन आर्तध्यानदूषितमना सध्वेव निर्गन्तः । दि

च जेन-अहो ! ! मे राइनो आवालाभावाजो मेरा अगणिमो ममोरि  
 येराणुबन्धो ति । येराणु मे अतिनिगूदाधारमाचरितम्, जेन ते तया मम  
 समक्ष मनोजुकूल कथयित्वा करणेन विपरीतमाचरतीति चिन्तयन् त  
 निर्गतो नगरात् । अत्रान्तरे अज्ञानदोषेण अभावितपरमार्थमागत्वेन च  
 गुहीतः कपार्यः, अपगता तस्य परलोकावगता, प्रनष्टा धर्मभ्रष्टा, समा-  
 गता सकलदुःखतद्विजभूता अमित्री, जाता च देहपीडाकारी अतीव  
 दुःखदा । आकृष्टो दुःखदाया । ततः-

प्रथमपरीक्षितेन तेन अज्ञान-बोधवशयेन ।

घोरं निदानमेतन् प्रतिपन्नं मूढहृदयेन ॥२७॥

जइ होज्ज इमस्स फलं मए सुणिण्णस्स ययपिसेतास्स ।

ता एयस्स यहाए पइजम्मं होज्ज मे जम्मो ॥२८॥

न पुणइ पणईण पियं, जो पुरिसो विप्पियं च सत्तूणं ।

किं तस्स जणणिजोव्यणयिउट्ठणमेत्तेण जम्मणेण ॥२९॥

सत्तू य एस राया मम सिमुभावाउ चेय पायो ति ।

अपराधमन्तरेण वि, करोमि तो विप्पियमिमस्स ॥३०॥

चानेन-अहो ! ! तस्य राज्ञः आवालभावात् चैव ममहृदो ममोरि  
 येराणुबन्ध इति । प्रकाश्य तस्य अतिनिगूदाधारमाचरितम्, येन तत् तया  
 मम समक्ष मनोजुकूल कथयित्वा करणेन विपरीतमाचरतीति चिन्तयन् त  
 निर्गतो नगरात् । अत्रान्तरे अज्ञानदोषेण अभावितपरमार्थमागत्वेन च  
 गुहीतः कपार्यः, अपगता तस्य परलोकावगता, प्रनष्टा धर्मभ्रष्टा, समा-  
 गता सकलदुःखतद्विजभूता अमित्री, जाता च देहपीडाकारी अतीव  
 दुःखदा । आकृष्टो दुःखदाया । ततः-

प्रथमपरीपहृतितेन तेन अज्ञान-बोधवशयेन ।

घोरं निदानमेतन् प्रतिपन्नं मूढहृदयेन ॥२७॥

यदि भवेद् अस्य फलं मया सुचीर्णस्य व्रतविशेषस्य ।

तस्माद् एतस्य वधाय प्रतिजन्म भवतु मम जन्म ॥२८॥

न करोति प्रणयिना प्रियम्, य. पुरुषः विप्रियं च शत्रूणाम् ।

किं तस्य जननीयौवनविकुटनमात्रेण जन्मना ? ॥२९॥

शत्रुश्चैव राजा मम सिमुभावात् चैव पाप इति ।

अपराधमन्तरेणापि, करोमि ततः विप्रियमस्य ॥३०॥

इय काऊण नियाणं अप्पडिकन्तेण तस्स ठाणस्स ।

अह भावियं सुवहुसो कोहाणलजलियचित्तेन ॥३१॥

एत्यन्तरिम्म पत्तो एसो तवोवणं, अणेयवियप्पजणियकुचिन्ता-  
संघुक्कियपवड्डुमाणकोहाणलो य कुलवड्डं, सेसतावसे य परिहरिऊण  
अलबिद्धओ चेव यओ सहयारवीहियं, उवविट्ठो य विमलसिलाशिणि-  
म्मिए चाउरन्तपोडे ति । अनुसयवसेण पुणो वि चिन्तिउमारद्धो ।  
अहो !! ते राइणा ममोवरि पडिणीयभावो । कहं सव्यतावममज्जे अहं  
से ओहसणिज्जो ? ति, जेण मे पइप्पावित्तेसं नाऊण नियडिज्जहुलो तथा  
तहोषणिमन्तिय असंपाडणेण पारणयस्स किल मं खलीकरोइ ति । त  
मूढो खु सो राया कि मे एयावत्थयणयस्स खलीकरीयइ । तथा अणाहाण,  
दुब्बलाणं, परपरिभूताणं च सत्ताणं कयन्तेणेव विनिवाइयाणं या खलि-  
यारणा, न सा मानिणो मानभापूरोइ ति, वित्तेसओ समसत्तु-मित्ताणं  
परलोपवावारनिरयाणं तवस्सोणं ति । अथवा अपरिचित्ताहारमेत्तसंगस्स  
मे एतहमेत्ता कयत्थण ति । ता अलं मे जावज्जीवं चेव परिहवमेत्तेणं

इति कृत्वा निदानम्-अप्रतिक्रान्तेन तस्स स्थानस्य ।

अथ भावित सुवहुशः क्रोधानलज्वलितचित्तेन ॥३१॥

अत्रान्तरे प्राप्त एष तपोवनम्, अनेकविकल्पजनितकुचिन्तासदीप्त-  
प्रबर्धमानक्रोधानलद्वक् कुलपतिम्, शेषतापसाश्च परिहृत्य अलक्षित एव  
गतः सहकारवीथिकाम्, उपविष्टश्च विमलशिलाविनिमित्ते चतुरन्तपोठे  
इति । अनुशयवसेन पुनरपि चिन्तयितुमारब्धः । अहो !! तस्य राज्ञो  
‘ममोपरि प्रत्यनीकभावः । कथं सर्वतापसमध्ये अहं तस्य अवहसनीय ?  
इति, येन मम प्रतिज्ञाविशेषं ज्ञात्वा निकृतिबहुलः, तथा तथा उपनिमग्न्य  
असपातनेन पारणकस्य किल मां खलीकरोति इति । तद् मूढः खलु स राजा  
किं मम एतदवस्थागतस्य खलीकरोति । तथा अनापानाम् दुर्बलानाम्  
परपरिभूतानां च सत्त्वानां कृतान्तेनेव विनिपातितानां या खलीकरणा,  
न सा मानिणो मानभापूरयति इति, विशेषतः समशत्रुमित्राणां परलोक-  
व्यापारनिरतानां तपस्विनामिति । अथवा अपरित्यक्ताहारमात्रमगस्य  
मम एतावन्मात्रा कदर्थनेति । ततोऽहं मम यावज्जीवं मेव परिभवमात्रेण





न एवं तवस्तिजणवच्छले नरिन्दगुणसेने संभावियइ, अहवा विचित्तसन्धिणो हि पुरिसा हवन्ति । किं वा न संभावियइ ? । नत्थि अविस्सओ कसापाणं ति भणिऊण निवेइयं तेहि अच्चुध्विग्गेहि कुलवइणो । जहा- भयवं ! न तस्स अग्निसम्मतावसस्स इमिणा धुत्तन्तेण संपयं पि पारणयं संवुत्त ति । तओ ससंभन्तो तुरियभाणओ अग्निसम्मसमीव कुलवई, सपूइओ य तेण अग्निसम्मेण जहाणुव्वेणोवयारेण । तओ तेण भणियं-वच्छ ! कह- मियाणि पि ते न संजायं पारणयं ? ति । अहो ! ! से असरिससमापरणं राइणो गुणसेणस्स । अग्निसम्मतावसेण भणियं-भयवं ! पमाइणो चेव रायाणो हवन्ति, को वा तस्स दोओ, मम चेवापरिचत्ताहारमेत्तसंगस्स एस दोमो, जेणं तस्स वि गेह पविसामि ति । परिचत्तो मए संपयं जावज्जीवाए चेव सयलपरिहववीयभूओ एइहमेत्तो वि संगो । अओ विघ्नवेमि भयकत्तं एयम्मि अत्थे; नाहमन्नहा आणवेयव्वो ति । कुल- वइणा भणियं-वच्छ ! जइ परिचत्तो आहारो, गओ इयाणि कालो आणाए । सच्चवइन्ना खु तवस्तिणो हवन्ति । किं तु तुमए नरिन्दस्स उपरि कोवो न कायव्वो । जओ-

नैवं तपस्विजनवरसले नरेन्द्रगुणसेने संभाव्यते, अथवा विचित्रसंघयो हि पुरुषा भवन्ति । किं वा न संभाव्यते ? । नास्ति अविषयः कथायाणामिति भणित्वा निवेदितं तैरत्युद्विग्ने कुलपतये । यथा-न तस्य अग्नि- शर्मन्तापसस्य अनेन वृत्तान्तेन साप्रतमपि पारणकं संवृत्तमिति । ततः संसंभ्रान्तः त्वरितमागतः अग्निशर्मन्समीपं कुलपतिः, संपूजितश्च तेन अग्निशर्मणा यथानुरूपेणोपचारेण । ततस्तेन भणितम्-वत्स ! कथमिदानीमपि तव न संजातं पारणकम् ? इति । अहो ! ! तस्य असदृश-समाचरणं राज्ञो गुणसेनस्य । अग्निशर्मन्तापसेन भणितम्-भगवन् ! प्रमादित एव राजानो भवन्ति, को वा तस्य दोषः ? मम एव अपरित्य-क्ताहारमात्रसंगस्य एष दोषः, येन तस्यापि गेहं प्रविशामि इति । परित्यक्तश्च मया साप्रतं यावज्जीवमेव सकलपरिभवजीवभूत एता-वन्मात्रोऽपि संगः । अतो विज्ञापयामि भगवन्तम्-एतस्मिन्नर्थे; नाहम-स्यथा आज्ञापयितव्यं इति । कुलपतिना भणितम् वत्स ! यदि वा आहारः, गत इदानीं काल आज्ञायाः । सत्यप्रतिज्ञाः खलु न भवन्ति । किं तु त्वया नरेन्द्रस्य उपरि कोणे न कायव्वो । जओ-

सद्यं पुण्यकथाणं कम्मानं पापं कलविषाणं ।  
अवराहेसु, गणेषु य निमित्तमेतं परो होइ ॥३२॥

एवमनुमागिजनं पट्टिवाग्ने तापने निरुप्य गतो कुलपतिः । इतो  
य राज्ञा गुणसेनेन तथा अपानच्छगोत्तमपुत्रकृते परिजने अदृष्ट-  
स्ताए पारणकवेलाए गुमरिय, जहा पारणकदिवसो तु अग्न तस्य महा-  
सर्वस्तिस्त । अहो !! मे अहप्रया, न संपन्नं चेय महातपस्विन पा-  
णं ति तवकेमि । पुच्छिओ य गेण जहासत्रिहिओ परिजणो । किं तो  
महानुभावो तावतो अग्न इहागओ न व ? ति । तओ तेण निजं  
गवेसिऊणं निवेइयं-देव ! आगओ आमि, किं तु देवीपुत्रजन्मभुय्या-  
हिणन्दिए अदपमते परिजने न केनइ उपचरिओ ति; तओ लहुं देव  
निगाओ । राज्ञा भणिय-अहो !! मे पावपरिणई । तस्त महातपस्विस्त  
धम्मन्तरायकरणेणं देवीपुत्रजन्मभुयय पि आपयं सेय समर्येमि । सज्जहा  
न मन्दपुण्याणं गेहेसु वसुधारा पडन्ति । न य पमायवोसदूतिओ अहं उरत्त-  
निमित्तं पि से पारेमि मुहमवलोइउ । ता गच्छ, भो सोमदेवपुरोहि ।

सर्वं पूर्वकृतानां कर्मणा प्राप्नोति कलविषाकम् ।  
अपराधेषु, गुणेषु च निमित्तमात्रं परो भवति ॥३२॥

एवमनुशास्य प्रतिचारकान् तापसान् निरुप्य गतः कुलपतिः ।  
इतश्च राजा गुणसेनेन (सह) तथा अकालक्षणसीत्यमनुभवति परिजने  
अतिशान्तायां पारणकवेलायां स्मृतम्, यथा पारणकदिवसः खलु अद्य  
तस्य महातपस्विनः । अहो !! मम अधन्यता, न संपन्नमेव महातपस्विनः  
पारणकमिति तर्कयामि । पुष्टस्त्वानेन यथासनिहितः परिजनः । किं व  
महानुभावः तापगः अद्य इह आगतो न वा ? इति । ततस्तेन निपुणं  
गवेपयित्वा निवेदितम्-देव ! आगत आसीत्, किं तु देवीपुत्रजन्मा-  
भ्युदयाभिनिन्दिते अतिशमत्तं परिजने न केनचिद् उपचरित इति;  
ततो सज्ज्वेव निगतः । राजा भणितम्-अहो !! मम पावपरि-  
णतिः । तस्य महातपस्विनो धम्मन्तरायकरणेन देवीपुत्रजन्माभ्युदयमपि  
आपदं चैव समर्ययामि । सर्वथा न मन्दपुण्यानां गेहेषु वसुधारा  
पडन्ति । न च प्रमाददोषदूषितः अहम्-उदन्तनिमित्तमपि तस्य  
पारयामि मुक्तमवलोकितुम् । ततो गच्छ, भोः सोमदेवपुरोहि ।

ममाविप्रायपरिजनभावो चेन्न गवेतिरूपं तस्मा महातपस्विनां द्रुपदः  
 'किं तेन व्यवसितम् ?' इति लघुं निवेदयिह; आसद्भूद विषयं मे स्थितम् । एवं च  
 समाजतो सोमदेवपुरोहिओ गओ तपोवप । द्रिष्टो तेन यदुनवसितजग-  
 परिवारिओ, गिरिनईतदास्तन्ननिविष्टमण्डपगओ, दीहरपुसरद्वयसत्यरो-  
 चविष्टो, अमरितवसादुसरायवहायावदो अग्निसम्भतावसो ति । पणमिओ  
 विणभोणपउत्तिमद्गुणं सोमदेवेणं । तेनं चिय आसीनापुत्तयं 'सागयं'  
 ति भणिकुण 'उपविसमु' ति आइष्टो । उपविष्टो सोमदेवपुरोहिओ ।  
 भणियं च णेण-मयं । अद्वपरिवसोणदेहो लवितजगमि, ता किमेयं ?  
 ति । अग्निसम्भतावसेण भणियं-निरीहाणं, अन्नओ समासाद्वपिसीनं  
 अंगं चेन्न कितं तवस्तीणं ति । सोमदेवेण भणियं-एवं एयं, निरीहा चेन्न  
 तवस्तिणो हवन्ति; किं तु घण-घन्न-हिरण्य-मुवर्ण-मणि-भोवितक-प्रवाल-  
 द्विपद-पधारके, न उण घम्म-काओववारगे आहारमेत्तं वि । न य ईद्व  
 एत्थ सोपा, जे तुमए वि सरिताण मुत्तिमगपवन्नानं, अविमेवन्न-  
 मित्तानं, समतण-मणि-मुत्त-कञ्चनानं, संसारजसहिषोपानं आहारमेत्तं

ममाविप्रायपरिजनभाव एव गवेतिरवा तस्य महातपस्विनां द्रुपदः  
 'किं तेन व्यवसितम् ?' इति लघुं निवेदय, आगच्छते इव मम हृदये  
 एवं च ममाज्जप्तः सोमदेवपुरोहितो गतस्तपोवनम् । द्रष्टव्यं द्रुप-  
 स्विजनपरिवारितः, गिरिनदीतटास्तन्ननिविष्टमण्डपगतः ईदृश-  
 तपोवपिविष्टः, अमर्यवसादुसरधराजकयाम्बापूतः अमरितवसा-  
 प्रणतः विनयावनतोत्तमाद्गुणेन सोमदेवेन । तेन द्रुपः कृतं  
 'स्वागतम्' इति भणित्वा 'उपविश' इति आदिष्टः । सोमदेव-  
 देवपुरोहितः । भणित्वा चानेन-भगवन् ! । अग्निसम्भतावसे-  
 ततः किमेतत् ? इति । अग्निसम्भतावसेन भणितम्-निरीहा एव  
 समासादितवृत्तीनाम्-अद्भुतमेव कृतं तपस्विनो महातप-  
 भणितम्-एवमेतत्, निरीहा एव तपस्विनो महातप-  
 हिरण्य-मुवर्ण-मणि-भोवितक-प्रवाल-द्विपद-  
 पधारके ( कारकै ) आहारमानेऽपि । यथा यथा  
 मुष्माकमपि सदृशानां मुक्तिमार्गं प्रदर्शयति ।  
 समतण-मणि-मुत्त-काञ्चनानाम्,

महाराज ! कीम इयानि सत्त्वसत्परिवारेण अनुचितं एवमेतं भूमि ।  
 चरणागमनमनुचितं ? । राज्ञा भणितं-भगवन् ! अनुचित-  
 कारिणो येव अग्ने, अह्या मएज्जारिणाणं पुरिताहमाणं इमं खेत्तोविद,  
 जं महातयस्सिज्जनस्स पमायजो थायायणेण धम्मन्तरायकरणं ति । त  
 किं एइणा अजिम्बइयहिययत्तभावेण निपट्ठोमन्तिएण ? । भगवन् ! कहि  
 पुण सो महानुभावो अगितम्मतावसो । पणमामि तं, सोहेमि तम्  
 वंसणेण पायकम्मकारिणं अप्पाणं ति । कुलवइणा भणितं-महाराज !  
 मा एइहमेत्तं संतप्पमु ति । न एएण सुह निस्वेएणमणत्तणं कयं ति; किं  
 तु कप्पो येथायं सवस्सिज्जनस्स, जं चरिमकालम्मि अणत्तणविहितावे-  
 पत्तिवयनं ति राज्ञा भणितं-भगवन् ! किं बहुना मन्तिएण ? देवताभि  
 ताव तं महानुभावं । कुलवइणा भणितं-महाराज ! अलमियाणि ताव  
 तस्स वंसणेण । भाणवावडो खू सो, ता किं तौ अहिप्पेयकरज्जतराएण ? ।  
 गच्छ मुमं भयंरि, पुणो कहिंवि पेक्खेज्जमु ति । तत्रो 'जं भयं आ-  
 वेइ, पुणो आगच्छिस्सामि' ति भणित्वा अत्थत्तदुम्यणो उट्ठिओ राया ।

महाराज ! कस्माद् इदानीं सकलत्रपरिवारेण अनुचितम्-एतावन्मारी  
 भूमि चरणागमनम्-अनुष्ठितम् ? । राजा भणितम्-भगवन् ! अनुचित-  
 कारिण एव वयम्, अथवा माहशानाम् ( ? ) पुरुषाधमानाम्-इदम्  
 उचितम्, यद् महातपस्विजनस्य प्रमादतो व्यापादनेन धमन्तरायकरणम्-  
 इति । ततः किमेतेन अनिर्बुतहृदयसद्भावेन ( स्वभावेन ) निकृतिमन्त्रि-  
 तेन ? भगवन् ! कुत्र पुनः स महानुभावोऽग्निसमेतापसः ? प्रणमामि  
 तम्, सोऽयमिति तस्य दर्शनेन पापकर्मकारिणम् आत्मानम्-इति । कुल-  
 पतिना भणितम्-महाराज ! मा एतावन्मात्रं संतप्यस्व इति । ॥ एतेन  
 तव निर्वेदेन अनशनं कृतम्-इति ; किं तु कल्प एव अयं तपस्विजनस्य,  
 यत् चरमकाले अमृतनविधिना देहपरित्यजनम्-इति । राजा भणितम्-  
 भगवन् ! किं बहुना मन्त्रितेन ? प्रेक्षेतावत् तं महानुभावम् । कुल-  
 पतिना भणितम्-महाराज ! अलमिदानीं तावत् तस्य दर्शनेन । ध्यान-  
 व्यापृतः खलु सः, ततः किं तस्य अभिप्रेयकार्यन्तरायेण ? । गच्छ त्वं  
 नगरीम्, पुनः कुत्रचित् प्रेक्षास्व इति । ततः 'यद् भगवान् आज्ञापयति,  
 पुनरागमिष्यामि' इति भणित्वा अत्यन्तदुर्मना उत्थितो राजा ।

पुणमिऊण कुलवद्दं पयट्ठो नयोरं । तओ एवकेणं सानुक्कोमेणं च बाल-  
तायसकुमारेणं अणुगच्छिऊण येवभूमिभायं निवेदओ से अग्निमम्मामि-  
प्पाओ त्ति । तओ राइणा चिन्तियं-किमिह पुणागमणेणं ? जइ पर  
कुलवद्दं आयासे पाडिज्जइ । ता न जुत्तं ममेहं नमरे वि चिट्ठिउ, मा से  
महानुभावस्स तस्स असोयत्वं पि अवर सुणिस्सं ति एवं चिन्तयन्तो  
पत्तो वसन्तउरं । पुच्छिया णेणं संवच्छरिया 'कया अम्हाण रिइपइ-  
ट्ठियगमणदिपहो परिसुज्जइ' ति । तेहिं च निच्च तवकम्मवावडत्तणे-  
णोवल्लडत्तोहणविणेहिं विवत्तं 'महाराय ! कल्ल चेव परिसुज्जइ' ति ।  
तओ राइणा समाणसो परियणो 'पयट्ठह लहं कल्ल'ति । तओ रिइय-  
दिपहे महया चउपरेण निगओ राया । अणवरयपयाणएहिं च पत्तो मास-  
मेत्तेण कालेण रिइपइट्ठियं । तओ ऊसियविचित्तकेउनिवह, विविह कयट्ठ-  
सोहं, सोहिपत्तपुप्फोवयाररायमणं, धवल्लिपपासायमालोवसोहिपं, महावि-  
भूईए पविट्ठो नयरं, तस्य वि यत्तोरणनिमित्तवन्दनमालं, सविसेसत्तपाइ-  
यमहोवयारं, सव्वओभइं नाम पासायं । तस्य य तम्मि चेव दिपहे भागओ

प्रणम्य कुलपतिं प्रवृत्तो नगरीम् । तत एकेन सानुक्कोसेन च बालतापस-  
कुमारेण अनुगम्य स्तोत्रमूमिभागं निवेदितस्तस्य अग्निशर्माग्निप्राय इति ।  
ततो राजा चिन्तितम्-किमिह पुनरागमनेन ? यदि परं कुलपतिः आयासे  
पात्यते । ततो न युक्तं मम इह नगरे अपि रथातुम्, अथ सा महानु-  
भावस्य तस्य अश्रोतव्यमपि अपरं श्रोष्यामि इति । एव चिन्तयन् प्राप्तो  
वसन्तपुरम् । पृष्ट्वाश्च तेन सावसरिका. 'कदा अस्माकः क्षितिप्रति-  
ष्ठितगमनदिवसः परिशुध्यति ?' इति । तैश्च नित्यं तत्कर्मव्यापृतत्वेन  
उपलब्धशोभनदिनैः विजृम्भम्-'महाराज ! कस्यमेव परिशुध्यति' इति ।  
तैश्च नित्यं तत्कर्मव्यापृतत्वेन उपलब्धशोभनदिनैः विजृम्भम्-'महाराज !  
कस्यमेव परिशुध्यति' इति । ततो राजा समाजृम्भः परिजनः 'प्रथतं ध्वं  
लघु कल्मम्' इति । ततो द्वितीयदिवसे महता चतुतरेण निर्गतो राजा ।  
अनवरतप्रयाणश्च प्राप्तो मासमात्रेण कालेन क्षितिप्रतिष्ठितम् । तत  
उच्छ्रितविचित्रकतुनिवहम्, विविधकृताञ्जलिभम्, द्योमितसपुष्पोपचार-  
राजमार्गम्, धवल्लिप्रासादमालोपशोभितम्, महाविभूत्या प्रविष्टो  
नगरम्, तत्राऽपि च तोरणनिमित्तवन्दनमालम् सविसेसमपादिनमहो  
पचारम्, सर्वतोभद्रं नाम प्रसादम् । तत्र च तस्मिन्नेव दिवसे भागताः



पणमिऊण कुलवई पयट्टो नयारि । तओ एक्केणं साणुक्कोमेणं च वाल-  
तायसकुमारेणं अनुगच्छिऊण येवभूमिभायं निवेइओ से अग्निसम्मानि-  
प्पाओ ति । तओ राइणा चिन्तियं-किमिह पुणागमणेणं ? अइ परं  
कुलवई आयासे पाडिग्गइ । ता न जुत्तं भमेहं नमरे यि चिट्ठिउ, मा से  
महाणुभावस्त तस्त असोपय्यं पि अवर सुणिस्सं ति एवं चिन्तयन्तो  
पत्तो वसन्तउरं । पुच्छिपा णेणं संवच्छरिया 'कया अम्हाण तिइपइ-  
ट्ठियमणदियहो परिसुग्गइ' ति । तेहि च निच्च तक्कम्मवावडत्तणे-  
णोवल्लरौहणविणेहि विभ्रत्तं 'महाराय ! कल्ल चेय परिसुग्गइ' ति ।  
तओ राइणा समानत्तो परियणो 'पयट्टह लहुं कल्ल'ति । तओ दिइय-  
दियहे महया चउपरेण भिगओ राया । अणवरयपयाणएहि च पत्तो मास-  
मेत्तेण कालेण लिइपइट्ठियं । तओ ऊसियविचित्तकेउमिवह, विविह कयट्ट-  
सोहं, सोहियसपुप्फोषपाररायमगं, धवलियपासायमालोवसोहियं, महावि-  
भूईए पविट्टो नयरं, तस्य वि० तोरणनिम्मियवन्दनमाल, सविसेसत्तपाइ-  
यमहोवयारं, सत्त्वओभइ नाम पासायं । तस्य य तम्मि चेय दियहे आगओ

प्रणम्य कुलपतिं प्रवृत्तो नगरीम् . तत एकेन सानुक्कोमेन च बालतापस-  
कुमारेण अनुगम्य स्तोकभूमिभागं निवेदितस्तस्य अग्निशर्माभिप्राय इति ।  
ततो राजा चिन्तितम्-किमिह पुनरागमनेन ? यदि पर कुलपति, आयासे  
पात्यते । ततो न युक्त मम इह नगरे अपि स्थातुम्, अथ मा महाणु-  
भावस्य तस्य अथोतव्यमपि अवर श्रोष्यामि इति । एव चिन्तयन् प्राप्तो  
वसन्तपुरम् । पृष्टाश्च तेन मावत्सरिका 'कदा अस्माक क्षितिप्रति-  
ष्ठितगमनदिवसः परिशुध्यति ?' इति । तैश्च नित्यं तत्कर्मव्यापृतत्वेन  
उपलब्धशोभनदिनैः विज्ञप्तम्-'महाराज ! कल्पमेव परिशुध्यति' इति ।  
तैश्च नित्यं तत्कर्मव्यापृतत्वेन उपलब्धशोभनदिनैः विज्ञप्तम्-'महाराज !  
कल्पमेव परिशुध्यति' इति । ततो राजा समाज्ञप्तः परिजनः 'प्रवर्तध्वं  
शु कल्पम्' इति । ततो द्वितीयदिवसे महता चतसरेण निर्गतो राजा ।  
अनवरतभ्रमाणश्च प्राप्तो मासमात्रेण कालेन क्षितिप्रतिष्ठितम् । तत  
उच्छ्रितविचित्रकेतुनिवहम्, विविधकृताष्टशोभम्, शोभितसपुष्पोपचार-  
राजमार्गम्, धवलश्रीसादमालोपगोभितम्, महाविभूत्या प्रविष्टो  
नगरम्, तत्रापि च तोरणनिमित्तवन्दनमालम् सविशेषसपादितमहो-  
पचारम्, सर्वतोभङ्गं माम प्रसादम् । तत्र च तस्मिन्नेव दिवसे आगतः



पुरिता। निवेदो मो नेहि 'देव ! एततो गुणो' ति । तत्रो तो म इदृश  
 पयसं तवीहृत्संगुतो, बाहुजामरिमोयनो, उग्रीवगणमागिमागनो स्ति  
 तहाविहृ अणाविजगणीयं अयत्तन्तरं पारिजगमारतिउमाइतो । तत्रो  
 मए पुच्छिओ केयन्ती । भयवं ! किमेवं ? ति । तेन भणियं-पुरल  
 पुरयभवभासओ पणओ ति । मए भणियं-भयवं ! किमेत मं पाव-  
 हियाणइ ? । भययया भणियं-न रिमेताओ, हिणु सामन्नओ ति ।  
 ईइतो खेव एत संसारसहायो ति, जग्गणन्तरमवामरया भावणा अणा-  
 भोगओ वि कच्चि कालं अनुवत्ताइ ति । तत्रो मए भणियं-भयवं ! अ  
 कस्स कम्मस्स एत विवागो ? । भययया भणियं-जह्ममयमाणजणिपत्तम् ।  
 मए भणियं-भयवं ! को वि वाणंण माणो कओ ? ति । भययया भणियं-  
 सुण, एत्थ खेवाणन्तरजग्गे पवत्ते भयणमहसथे, निगमागु विचित्तवेत्तागु,  
 मयरच्चत्तरीगु तवणजणयत्तपरिणएण बहुजणसंसणिग्ग वसन्तकीलमणु-  
 यन्तेण हिट्ठा समासन्नचारिणी परयतोहगच्चत्तरी ति । इदं दूण य अन्नान-  
 बोत्तेण जाइ-कुलाइगवित्तेण 'कहं नीयच्चत्तरी अन्हाणच्चत्तरीए समासन्न

पुरयाः । निवेदितः तैः 'देव ! एष स दुनकः' इति । ततः स मा इदृश  
 प्रचलदीर्घलागूलः, बाष्पजलमृतलोचन, उद्ग्रीवमयचालिताननः किमपि  
 तथाविधम्-अनाद्वयानीयम् अवस्थान्तर प्राप्य आरसितुमारब्धः । तत्रो  
 मया पुष्टः केवली । भगवन् ! किमेतत् ? इति । तेन भणितम्-पुरल-  
 पूर्वभवभासासतः प्रणय इति । मया भणितम्-भगवन् ! किमेव मां  
 प्रत्यभिजानाति ? । भगवता भणितम्-न विसेपतः, किन्तु सामान्यत  
 इति । ईइत एव एष संसारस्वभाव इति, जग्गणन्तरमवाम्पस्ता भावता  
 अनाभोगतोऽपि कचित् कालम्-अनुवर्तते इति । ततो मया भणितम्-  
 भगवन् ! अय कस्य कर्मणः एष विपाकः ? । भगवता भणितम्-  
 जातिमदमानजनितस्य (कर्मणः) । मया भणितम्-भगवन् ! कोऽपि  
 च अनेन मानः कृतः ? इति । भगवता भणितम्-शृणु, अत्र खेव अनन्द-  
 रजमानि प्रवृत्ते मदनमहोरसवे, निर्गन्तागु विचित्रवेद्यागु, नगरचत्तरीगु  
 तवणजणयत्तपरिणतेन बहुजनप्रसासनीया वसन्तकीलाम्-अनुभवता इत्थ  
 समासन्नचारिणी वस्त्रसाधकचत्तरी इति । इदं द्वा च अज्ञानदोषेण  
 जाति-कुलादिगवितेन 'कर्म' नीचचत्तरी अस्माक चत्तरी समासन्न

परित्वयम्' इति कथयिष्या चत्थसोहृगा । पहाणो त्ति करिय वडपरं  
 कययिऊण संजमियसत्थवत्तो नेमाविओ चारयं ऊसविओ । एत्थ-  
 न्तरम्मि गयमानपरिणामवत्तिणा बद्धं परभवउत्थं । निवत्ते य मयण-  
 म्हुसवे नगरलोएण मोयाविओ ऊसविओ । एसो य तवकम्मपरि-  
 णामवत्तओ मरिऊण एत्थ उववन्नो त्ति । तओ मए चिन्तियं-  
 अहो ! ! अप्पसुहं नियणं बहुदुक्खफलं, धिरत्थु संसारवासस्स । ता  
 पुच्छामि भयवन्तं 'किपज्जवसानमेयं नियणं ? कि वा एस भविओ,  
 अमविओ वा ? सिद्धिगामो असिद्धिगामो संपत्तयीओ वा न य ?' इति  
 चिन्तिऊण पुच्छियं मए । तओ भयवया भणियं-सुण, जपज्जवसानमेयं  
 नियणं । इओ सुणयभवओ एस अहाउय पालिऊण उववट्टो समाणो  
 इमस्स चेव ऊसदिप्पस्स गहपसूपाए घोडयडिगाभिहाणाए रासहीए  
 गम्भम्मि रासहत्ताए उववज्जिहि त्ति । तओ य निगओ समाणो ऊस-  
 दिप्पस्स अमणोरमो, किलेससंपावियसरीरवत्ती, गयभाइवहणपरि-  
 खेइयसरीरो, जीविपसमयं चिट्ठिऊण मओ समाणो ऊसदिप्पसंगयस्स  
 चेव माइदिप्पसमियस्स चण्डालस्स अणहिगाभिहाणाए भारियाए

परि-व्रजति' इति कथयिता वदन्नशोधकाः । प्रधान इति कृत्वा दृढतर  
 कथयित्वा समित्त (बद्ध) सर्वगात्रः नायितस्चारक पुण्यदत्तः । अत्रा-  
 न्तरे गुरुकमानपरिणामवत्तिना बद्धं परभवामुष्कम् । निवृत्ते मदनमहो-  
 त्तवे नगरलोकेन मोचितः पुण्यदत्तः । एव च तत्कर्मपरिणामवत्तः  
 भूत्वा अत्र उपपन्न इति । ततो मया चिन्तितम्-अहो ! ! अल्पसुखं  
 निदानं बहुदुःखफलम्, धिगस्तु संसारवासम् । ततः पूच्छामि भगवन्तम्  
 'किपर्यवसानमेतद् निदानम् ? कि वा एष भव्यः, अभव्यो वा ? सिद्धि-  
 गामो असिद्धिगामो संप्राप्तयीओ वा न वा ?' इति चिन्तयित्वा पृष्ट  
 मया । ततो भगवता भणितम्-शृणु, यत्पर्यवसानमेतद् निदानम् । इतः  
 शुनकभवाद् एव ययायुष्कं उद्वृत्तं सन् अस्मैव पुण्यदत्तस्य गेहप्रसूताया  
 घोटपटिकाभिधानाया रासम्या गर्भे रासभतया (उपपत्स्यते) उत्पत्स्यते  
 इति । ततश्च निर्गतः सन् पुण्यदत्तस्य अमनोरमः, क्लेशसंप्रापितशरीरवृत्तिः,  
 गुरुभारोद्ग्रहणपरिक्षेदितशरीरः, जीवितसमयं स्थित्वा मृतः सन् पुण्यदत्त-  
 संगतस्यैव मातृदत्तसंज्ञितस्य चाण्डालस्य अनधिकाभिधानाया भार्यायाः

कुच्छिसि नपुंसगताए उववज्जिहि ति । तओ य निक्खान्तो समाणो कुट्टवदो-  
 हागकलङ्कूत्तिसो, अपरिणापयित्तयसंगो, कंचि कालं नपुंसगताए जीविज्ज  
 सीहविणिवाइयसरीरो देह पमोत्तूण तीसे चेव चण्डालमहिलियाए  
 कुच्छिसि इत्थिगताए उववज्जिहि ति । तओ विणिग्गयमेत्तो चेव पद्म-  
 बालमावत्ती भुयंगडक्को मरिऊण ऊत्तविन्नस्स चेव गम्भदासीए इत्थिया-  
 मिहाणाए कुच्छिसि नपुंसगताए उववज्जिहि ति । तओ विणिग्गओ  
 समाणो जञ्चन्धमइहलुज्जो मव्वलोयपरिभूओ कंचि कालं नपुंसगतं  
 परिपालिऊण पयत्तं नयरडाहे कित्ताणुणा छारोक्कयसरीरो पञ्चत्तमुक्-  
 कच्छिऊण तीसे चेव गम्भदासीए कुच्छिसि इत्थियत्ताए उववज्जिहि  
 ति । समुत्पन्नो य पीठसप्पीभवित्सइ ति । तओ एत्थेय नगरे रायमाणे  
 गच्छन्ती विवरिण मत्तहत्थिणा चाघाइया समाणी इमस्स चेव ऊत्त-  
 विन्नस्स कालञ्जणिवाभिहाणाए भारियाए कुच्छिसि इत्थियत्ताए उव-  
 वज्जिहि ति । जाया समाणो कमेण सपत्तजोक्खणा । विन्ना य ऊत्त-  
 विन्नेण ऊत्तरवित्तमाभिहाणास्स अक्खन्तदारिद्राभिभूयस्स । इत्थिया क-  
 पाणिग्गहणा आपन्नसत्ता होऊण पसूइत्तमए चेव महावेवणाहिभूया कालं

कुशो नपुंसकतया उपत्स्यते इति । ततश्च निष्क्रान्तः सन्  
 कुरूपदोर्भाग्यकलङ्कूद्विषित, अपरिज्ञातविषयसंगः, कश्चित् कालं नपुं-  
 सकतया जीवित्वा सिंहविनिपातितसरीरो देहं प्रमुच्य तस्या इह  
 एव प्रथमदामभाववतीं भुजगदष्टं भूत्वा पुण्यदत्तस्य एव गर्भदास्याः  
 (प्रभूतिरमंकारिण्या, गृहदारया वा) दत्तकाभिधानायाः कुशो नपुंस-  
 कतया उपपत्स्यत इति । ततः विनिर्गतः सन् जात्यन्धलघुकुब्जः सर्व-  
 भोगपरिभूतः कश्चित् कालं नपुंसकत्वं परिपात्य प्रयुक्तं नगरदाहं दृष्ट्वा  
 नृणां भस्मीकृतसरीरः पञ्चत्वमुपगम्य तस्या एव गर्भदास्याः कुशो  
 स्त्रीतया उपपत्स्यत इति । समुत्पन्नश्च पीठसपी भविष्यति इति ।  
 ततोऽर्चं नगरे राजमाणे गच्छन्ती विहृप्तेन मत्तहस्तिना व्यापारिणा  
 मनीं अर्च्यैव पुण्यदत्तस्य कालाञ्जनिवाभिधानाया भार्यायाः कुशो  
 स्त्रीतया उपपत्स्यते इति । जाता सती कमेण सप्राप्तयोवना । दत्ता य  
 रश्मेन पुण्यरश्मिवाभिधानस्य अत्यन्तदारिद्र्याभिभूतस्य । स्त्री इह-  
 . इहणा ज्ञानप्रसत्ता भूत्वा प्रभूतिरमये एव महावेवणाभिभूता कालं

काऊण सजणगीए चेव पुत्तत्ताए उववज्जिहि ति । उववज्जो य सो बाल-  
भावे चेव गन्धारनिमगातीरम्मि खेत्तमाणो ऊसदिमसत्तुणा चिलाय-  
नामेण 'रिउपुतो' ति गिण्हऊण सिरोहरानिवद्धगक्ष्यसिलायलो दहम्मि  
परिषिखप्पिहिद् । एयपज्जवसाणमेयं नियाणं । भविओ य एसो सिद्धि-  
गामी य, केवलमसंपत्तवीओ ति । तओ मए भणियं-भयवं ! कंहिपुणो  
सो जलमरणाणन्तरं उववज्जिहिद् ? ति, कया वा बीयसंपत्ती य भवि-  
स्सइ ? भगवया भणियं-सुण, जलमरणाणन्तरं थाणमन्तरेसु उववज्जिहि  
ति । तओ तम्मि चेव जम्मे आणन्दतित्ययरसमीवे सासयमुहकप्पपाय-  
वेककीयं सम्भत्तं पाविहिद् । तओ चउगइसभावओ संखेज्जेसु समइच्छि-  
एसु भवगहणेसु, इहेव गन्धारजनवए पाविऊण भरवइत्तणं, अमरतेय-  
विज्जाहरसमणगणिसमीवे पवज्जिऊण पव्वज्जं, संपत्तकेवलो भुत्ति पावि-  
स्सइ ति । तओ ममेयं सोऊण जाओ संवेओ, नियत्ता भवचारगाओ मई ।  
तओ अनुस्रविय जणणि-जणए, काऊण जहोच्चियं करणिज्जं, निवर्त्ततो सुगही-  
यंनामधेयस्स भगवओ इन्द्रवत्तगणहरस्स समीवे । ता एयं मे निग्घेयकारणं

कृत्वा स्वजनन्या एव पुत्रतया उपपत्स्यते इति । उपपन्नश्च स बालभावे  
एव गांधारनिम्नगातीरे खेल्न पुण्यदत्तशत्रुणा चिलास (किरास) नाम्ना  
'रिपुपुत्रः' इति गृहीत्वा क्षिरोधरानिवद्धगुरुकशिलातलः द्रष्टे परिक्षेप-  
यिष्यते । एतत्पर्यवेवसानमेतद् निदानम् । भव्यश्च एष सिद्धिगामी च,  
केवलम्-असंप्राप्तबीजः-इति । ततो मया भणितम्-भगवन् ! कुत्र पुनः  
स जलमरणाणन्तरम्-उपपत्स्यते ? इति, कदा वा बीज-सम्यक्त्व-  
संप्राप्तिः, भुक्तिःसंप्राप्तिश्च भविष्यति ? । भगवता भणितम्-शृणु,  
जलमरणाणन्तरं वानव्यन्तरेषु उपपत्स्यते इति । ततः तस्मिन् एव  
जन्मनि आनन्दतीर्थकरसमीपे शाश्वतसुखकल्पपादपैकबीजं सम्यक्त्वं  
प्राप्स्यति । ततः चतुर्गंतिसमापन्नः संख्येयेषु समतिगतेषु भवग्रहणेषु, इद्वैव  
गांधारजनपदे प्राप्य नरपतित्वम्, अमरतेजोविद्याधरधमणगणिसमीपे  
प्रपद्य प्रव्रज्याम्, संप्राप्तकेवलः भुक्तिं प्राप्स्यति इति । ततो मम एतत्  
श्रुत्वा जातः संवेगः, निवृत्ता भवचारकाद् भतिः । ततोऽनुज्ञाप्य जननी-  
जनकान्, कृत्वा यथोचितं करणीयम्, निष्क्रान्तः सुगृहीतनाम  
भगवत् इन्द्रवत्तगणधरस्य समीपे । तत एतद् मम निर्वेदका



जन्तो य मह्य-ऽऽजय-मुत्ती तय-संजमे ॥ बोधये ।

सच्चं सोयं आकिञ्चनं च धम्मं च जइधम्मो ॥४१॥

एयस्स उण बुविहस्स बि धम्मस्स मूलवत्थु सम्मतं । तं पुणो  
अणाइकम्मसंतानवेडियस्स जन्तुणो दुल्लह हवइ ति । तं च कम्मं अट्ठहा ।  
ते जहा-भाणावरणिग्गे, हरिस्सणावरणिग्गं, वेयणिग्गं, मोहणिग्गं,  
माउयं, नामं, गोत्तं, अन्तरायं च । एयस्स उण निमित्तं-मिच्छत्तं,  
अघ्राणं, अविरट्ठं, पमाओ, कप्पाया, ओगा य ति । एगवरिणामसंचियस्स  
बुविहा ठिई समवत्ताया । तं जहा-उक्कोत्तिया य, जह्मिप्पिया य । तत्थ  
णं जा सा उक्कोत्तिया, सा तिप्प्यामुहपरिणामजणियाणं भाणावरण-  
हरिस्सणावरण-वेयणीय-अन्तरायाणं तोत्तं सागरोवमकोट्टाकोट्टीओ, मोहणि-  
क्कस्स य तत्तट्ठि, नाम-गोयाणं वोत्तं, तेत्तोत्तं च सागरोवमाइं आउयस्स ति ।  
जह्मा उण तहाविहपरिणामसंचियस्स वेयणीयस्स आरतं मुहुत्ता, नाम-  
गोयाणं अट्ठ, तेत्ताणं भिन्नमुहुत्तं ति । एवठियस्स य इमस्स कम्मस्स अहाप-  
वत्तकरणेण जया धंसणघोलणाए कह्वि एमं सागरोवमकोट्टाकोट्टि मोत्तूण

धान्तिस्व मादंवा-ऽऽजय-मुत्ति. तप.-सयमो च बोद्धव्यो ।

सत्यं शौचं आकिञ्चन्य च ब्रह्म च यत्तिष्ठमः ॥४१॥

एतस्य पुनः द्विविधस्य अपि धर्मस्य मूलवस्तु सम्यक्त्वम् । तत्  
पुनः भनादिकर्मसंतानवेदितस्य जन्तोः दुर्लभं भवति इति । तच्च कर्म  
अष्टधा । तद्यथा-ज्ञानावरणीयम्, दर्शनावरणीयम्, वेदनीयम्, मोह-  
नीयम्, आयुष्यम्, नाम, गोत्रम्, अन्तरायं च । एतस्य पुननिमित्तम्-  
मिच्छात्वम्, अज्ञानम्, अविरतिः, प्रमादः, कप्पायाः, योगादयेति । एक-  
परिणामसंचितस्य एतस्य द्विविधा स्थितिः समाख्याता । तद्यथा-उत्कृष्टा  
च, जघन्या च । तत्र या सा उत्कृष्टा, सा तीव्राऽभूतपरिणामजनितानां  
ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-अन्तरायाणां-त्रिद्यत् सागरोपमकोट्टा-  
कोटिः, मोहनीयस्य सप्ततिः, नाम-गोत्रयोः विद्यतिः, त्रयस्त्रिंशच्च  
सागरोपमाणि आयुष्यस्य इति । जघन्या पुनः तद्यद्विधपरिणाम-  
संचितस्य वेदनीयस्य द्वादश मुहूर्ताः, नाम-गोत्रयोः अष्ट, शेषाणां  
भिन्नमुहूर्तम्-इति । एवस्थितस्य च अस्य कर्मणः यथाप्रवृत्तकर-  
णेण यदा पर्यणपूर्णमया कथमपि एका सागरोपमकोट्टाकोटिं युक्त्वा

मग्नद तमेव सच्चं नीसंनं जं जिणेहि पन्नतं ।  
 सुहपरिणामो सच्चं कंटादयितोत्तिपारहिओ ॥४९॥  
 एवंविहपरिणामो सम्महिट्ठी जिणेहि पन्नतो ।  
 एसो य भवसमुदं लंघइ भंवेण कालेण ॥५०॥

तओ य तीणे वि य णं डिईए पलिओयमपुट्तमेत्तं लीणे स-  
 मत्यओ सुहपरिणामगम्भ देसथिरइ पट्टियग्गइ । तं जहा-धूमप-  
 णादवापविरमण वा, धूलगमुत्तायायविरमणं वा, धूलयावत्तादानवि-  
 मणं वा, परदारगमनाविरमणं वा, सदारसतोसं वा, अपरिमि-  
 परिणहविरमणं वा । ते य एव देसविरइपरिणाममुत्ते, पडिक्क-  
 णुव्वए, भावओ अपरिवडियपरिणामे नो सल्लु समायरइ इमे ज-  
 पारे । त जहा-वग्ग वा, वह वा, छविच्छंय वा, अहभाराओपणं वा,  
 मत्तपाणयोच्छंय वा; तह सहसग्गवत्ताण वा, रहस्सग्गवत्ताणं वा,  
 सदारमन्तमं वा, मोत्तोवएस वा, कूटलेहकरण वा; तथा तेणाहा  
 वा, तत्करपओणं वा, विवद्धरज्जाइकमं वा, कूटतुल-कूटमाणं वा ।

मन्यते तदेव सत्य निःशङ्क यद् जिने प्रज्ञप्तम् ।  
 शुभपरिणाम. सर्वं काशादाविथातसिकारहितः ॥४९॥  
 एवविधपरिणाम. सम्मगट्टिजिनेः प्रज्ञप्तः ।  
 एष च भवसमुद्र लपते स्ताकन कालेन ॥५०॥

ततश्च तस्या अपि च स्थितेः पत्न्योपमपुयस्त्वमात्रे लीणे परमाणं  
 शुभतरपरिणामगम्भां दंशविरति प्रतिपद्यते । तद्यथा-स्थूलकप्राणादि-  
 पातविरमण वा, स्थूलकमुपावादविरमण वा, स्थूलकाज्जत्तादानविरम-  
 वा, परदारगमनाविरमण वा, स्वदारसतोप वा, अपरिमितपरिवहविरम-  
 वा । स च एव दंशविरतिपरिणामयुक्त, प्रतिपन्नाङ्गुवत्तः भावतोऽति-  
 पतितपरिणाम. नो सल्लु समाचरात् इमान् अतिचारान् । तद्यथा-वग्ग  
 वा, वह वा, छवि( चारो )च्छंय वा, अतिभाराओपणं वा, मत्त  
 पाणयोच्छंय वा; तथा सहसाग्ग्यास्यान वा, रहस्याग्ग्यास्यानं वा,  
 सदारमन्तमंद वा, मुपांगदस वा, कूटलसकरण वा; तथा स्तनाह  
 वा, तत्करपवाग वा, विवद्धराग्ग्यातकम वा, कूटतुला-कूटमाणं वा,

तत्पण्डितव्यवहारं वा; तथा इतिरियपरिभ्रमिह्यागमनं वा, अपरिभ्रमिह्यागमनं वा, अणंगरीडं वा, परविवाहकरणं वा, कामभोगतिव्याहिलातं वा; तथा ऐतदत्युपमाणाद्वचनं वा, हिरण्य-भुवण्यप्रमाणाद्वचनं वा, धन-धनप्रमाणाद्वचनं वा, दुष्य-चतुष्यप्रमाणाद्वचनं वा, कुप्यप्रमाणाद्वचनं वा; तथा अग्रे य एवजाद्वै ससारसागरहिण्डननिमित्त-भूए मुहपरिणामभावओ चेव नो आचरति इति । तथा इमे एवाह्वे उत्तर-गुणे य पञ्चगज्ज । त जहा-उद्धृदिसिगुणव्ययं वा, अहोदिसिगुणव्ययं वा, तिरियदिसिगुणव्ययं वा; तथा भोगोपभोगपरिमाणलक्षणगुणव्ययं वा, उपभोग-परिभोगहेतु-स्वरकम्माद्वपरिवर्जनं वा; तथा अवगमाणाव-रिय-वमायावरिय-हिंस्रप्याण-पापकर्मोपदेशलक्षणान्यदण्डविरहगुण-व्ययं वा, तथा सावयगजोगपरिवर्जन-निरवयगजोगपडिसेवनालक्षण-सिक्तावयं वा, तथा दिसिक्तावयं हिंस्र दिसापरिमाणस्त पडिदिनप्रमाण-करणदेसावगासिक्तावयं वा, तथा आहार-सरीरसत्कार-व्यय-अव्यापारलक्षणपीपघसिक्तावयं वा, तथा न्यायागपानां, कल्पनीया-नाम्, अक्ष-पानादीनां द्रव्याणां देशकाल-श्रद्धा-सत्कारकमयुतं पराए भसीए

तत्प्रतिरूपकव्यवहारं वा; तथा इतिरियपरिगृहीतागमनं वा, अपरि-गृहीतागमनं वा, अणंगरीडं वा, परविवाहकरणं वा, कामभोगतीव्रा-भिलाप वा; तथा क्षेत्रवस्तुप्रमाणाद्वचनं वा, हिरण्य-भुवण्यप्रमाणाद्व-चनं वा, धन-धनप्रमाणाद्वचनं वा, दुष्य-चतुष्यप्रमाणाद्वचनं वा, कुप्यप्रमाणाद्वचनं वा; तथा अग्रे य एवजातिकान् ससारसागर-हिण्डननिमित्तभूतान् शुभपरिणामभावत एव नो आचरति इति । तथा इमान् एतद्रूपान् उत्तरगुणाद्वै प्रतिपद्यते । तद्यथा-ऊर्ध्वदिग्गुणव्रतं वा; अधोदिग्गुणव्रतं वा, तिर्यग्दिग्गुणव्रतं वा, तथा भोगोपभोगपरिमाण-लक्षणगुणव्रतं वा, उपभोग-परिभोगहेतु-स्वरकम्माद्वपरिवर्जनं वा; तथा अपध्यानाचरित-प्रमादाचरित-हिंस्राप्रदान-पापकर्मोपदेशलक्षणान्यदण्ड-विरतिगुणव्रतं वा, तथा सावयगजोगपरिवर्जन-निरवयगजोगप्रतिसेवना-लक्षणविक्षाव्रतं वा, तथा दिग्भ्रतगृहीतस्य दिक्परिमाणस्य प्रतिदिन-प्रमाणकरणदेसावगासिक्तावयं वा, तथा आहार-सरीरसत्कारव्यय-अव्यापारलक्षणपीपघसिक्तावयं वा, तथा न्यायागपानां, कल्पनीया-नाम्, अक्ष-पानादीनां द्रव्याणां देशकाल-श्रद्धा-सत्कारकमयुतं परया भक्त्या



ततो रक्वणेतिरितमत्तोत् सागयं, अजन्तं, केवलवरनाङ्गं  
 पाउण्ड ॥ ततो क्रमेण रज्जिमतेसमजोगत्याहिकम्मे, मत्प्रकम्पिणमुक्ते  
 पाउण्ड सासयं धामं ति ॥ एतन्तरमि य गुदययणागणनज्जिणमुत्  
 परिणामाणलद्वुवद्वुवम्मेधनेन, भावतो गवप्रसम्भता-ऽणुग्रह-गुणग्रह-  
 तिरक्षावयगुणद्वानेन भजिय गुणसेनेन-भयवं । धरोहं, जेण मद्  
 पायमलपयसात्तनं, रागाद्विषयायनं, पसमाद्विगुणकारणं, भवचारयनित्तं  
 रणं सुयं ते ययनं ति । ता आइराह संपयं, जं मद् काययं ति । अहवा  
 आइहं चेय भयवया । ता देहि मे ताव विहिधम्मसारमू ए अणुग्रहाए  
 गुणद्वाने । गुदणा भणियं-‘किञ्चमेयं तएमारितानं भावसत्ताणं’ ति  
 विहिधुययं विध्नाजि ते अणुग्रहाणि, अणुसासित्तो य बहुविहं । ततो  
 वन्दिकणः परमभत्तोए सपरिवारं गुदं पविट्ठो नयरं । कयमोयणोवपारो  
 य परिणयप्पाए दिवहे पुणो वि निगमो.ति । वन्दिया य जेण देव  
 गुरयो । कालोदयमणुसासित्तो य गुदणा । ततो य कंचि वेलां पज्जुपासि  
 ळण विहिणा पुणो नयरं पविट्ठो ति । एवं उभयकालं गुरुवंसन-सव-

ततः क्षपकश्रेणिपरिसमाप्ती शास्वतम्, अनन्तम्, केवलवरज्ञान-  
 वरीनं प्राप्नोति । ततः क्रमेण क्षपितक्षेपमवोपग्राहिकमौशः सर्वकर्म-  
 विप्रमुक्तः प्राप्नोति शास्वतं स्थाम इति ॥ अत्रान्तरे च गुरुवचना-  
 कर्णनजनितशुभपरिणामानलदग्धबहुकर्मधनेन, भावतः प्रपक्षसम्भक्ता-  
 ऽणुग्रह-गुणग्रह-शिक्षाव्रतगुणस्थानेन भणित गुणसेनेन-भगवन् । धम्मो-  
 हम्, येन भया पापमलप्रक्षालनम्, रागादिविषयात्तनम्, प्रसमाद्विगुण-  
 कारणम्, भवचारकनिस्सारणं श्रुतं तव वचनम् इति । तत आदिशत  
 साप्रतम्, यद् भया कर्तव्यमिति । अथवा आदिष्टमेव भगवता । ततो  
 देहि मम सावद् गृहिधर्मसारभूतानि अणुग्रहादिकानि गुणस्थानानि ।  
 गुदणा भणितम्-‘कृत्यमेतत् त्वादृशानां भव्यसत्त्वानाम्’ इति विधि-  
 पूर्वेकं दत्तानि तस्मिन् अणुग्रहाणि, अनुशासितदश बहुविधम् । ततो वन्दित्वा  
 परमभक्त्या सपरिवारं गुरुं प्रविष्टो नयरम् । कृतभोजनोपचारश्च  
 परिणतप्राये दिवसे पुनरपि निर्गत इति । वन्दितश्च अनेन देवगुरुवः ।  
 कावोविनमनुसासितदश गुरुणा । ततश्च काचिद् वेलां पर्युपास्य विधिना  
 पुनर्नगरं प्रविष्ट इति । एवम्-उभयकालं गुरुवर्शन-सद्वचनभवनसौख्य-

यणसुणसोवत्तमणुह्वन्तस्स अर्हो मासो, परिणजो से धम्मो । कप्प-  
समत्तीए य मयो अन्नत्थ मयव विजयसेणायरिओ त्ति । तओ अद्द-  
वक्कन्तेसु कइवदिनेसु राइणो गुणसेनस्स पासावतलसत्थियस्स कहवि  
सोऊण हाहारवगग्धिभणं मरणनरवइणो विव पयाणवक्क, ससाररक्कसस्स  
विव अट्टट्टहासं, जीवलोकस्स विव पमायच्चरिय मयगग्धिण्डिमसद्दु; पेच्छि-  
ऊण तं कयन्तवसयत्तिणं; चउपुरिसधरियकायं, कन्दन्तवन्नुजणपरिवारिय  
सवं; परमसवेगभावियमइस्स, इन्दयालसरिसजीवलोकमयगच्छिऊण धम्म-  
ज्जाणजलपक्खालियपावलेवस्स समुप्पन्ना चिन्ता-अम्हे वि एवं सेव मरण  
धम्माणो त्ति । अहो ! ! नु खलु एव विरसावसाने जीवलोए, ते धन्ना,  
जे तेलोक्कवन्धुभूए, अचिन्त्यचिन्तामणिसन्निहे, परमरिसिस्सव्वभुदेसिए  
धम्मे कयाणुराया अगारवासाओ, अणगारिय पव्वयन्ति । तओ य पाणवह-  
मुसावाय-अवत्तावाण-मेहुण-परिग्गहविरया, बायालीसेसणादोसपरिसुद्ध-  
पिण्डगहिणो, संजोयणाइपञ्चदोसरहियमिमकालमोइणो, पञ्चसमिया,  
तिगुत्ता, निरइयारवयपरिपालणमत्थमेव इरियासमियाइपणवीसभावणो  
ववेया, अणसणमूणोयरियाइ-वायच्छित्त-विनयाइसबाहिरिभित्तरतपो-

मनुभवतः अतीतो मासः, परिणतस्तस्य धर्मः । कल्पसमाप्तौ वगतोऽ-  
न्यत्र भगवान् विजयसेनाचार्य इति । ततोऽतिक्रान्तेषु कतिपयदिनेषु राज्ञो  
गुणसेनस्य प्रासादतलसंस्थितस्य कथमाप श्रुत्वा हाहारवगर्भाणि मरण-  
नरपतेरिव प्रयाणवक्त्रकाम्, ससारराक्षसस्य इव अट्टाट्टहासम्, जीवलोकस्य  
इव प्रमादचरित मृतकडिण्डिममन्दम्; प्रेक्ष्य तत् कृतान्तवधवति चतु-  
ष्टुरुपधृतकायम्, कन्दद्वन्द्वधुजनपरिवारित शवम्; परमसवेगभावितमतेः,  
इन्द्रजालसदृशजीवलोकम्-अवगम्य धर्मध्यानजलप्रक्षालितपापलेपस्य समु-  
त्पन्ना चिन्ता-वयमपि एवमेव-मरणधर्माण इति । अहो ! ! नु खलु  
एव विरसावसाने जीवलोके ते धन्याः, ये त्रैलोक्यबन्धुभूते, अचिन्त्य-  
चिन्तामणिसन्निभे, परमपिसर्वज्ञदेहिते धर्मे कृतानुरागा आगार-  
धासाद् अनगारितां प्रव्रजन्ति । ततश्च प्राणवध-भूपावाद-अदत्ताऽऽ-  
दानं मेधुनपरिग्रहविरताः, द्विचत्वारिंशदेषणादोषपरिसुद्धपिण्डगहिणः,  
संयोजनादिपञ्चदोषरहितमितकालभोजिनः, पञ्चसमिताः, त्रिगुप्ताः,  
निरतिचारव्रतपरिपालनार्थमेव ईर्यासमितादिपञ्चविंशतिभावनोप-  
पेताः, अनयम-ऊनोश्चिकावि-प्रायश्चित्त-विनयादिसबाह्याऽभ्यन्तरतपो-

गुणप्रधाना, भासाद्वयानेगपडिमाधारिणी, विविक्तवर्णाभिग्रह  
अष्टाण-लोच-लङ्कावज्जवत्तिणो, निष्पडिकम्मसरीरा, सम-तण-मणि-  
मुत्त-लेट्ठु-कञ्चणा, किं बहुणा, अट्टारससीलंगसहस्तधारिणी, उप-  
माईयधिबुद्धजणपसंसियपसममुहमेया, अणोगगामा-असर-नगर-पट्ट-  
मडम्ब-दोणमुह-संनिवेशसयसंकुल विहरिऊण मेदिणि, मिच्छतपडुम-  
पडिबद्धे य सद्धम्मकहणदिवायरोदणं बोहिऊण भव्वकमलापरे, म-  
तयच्चरणपरिकम्मियसरीरा जिणोवड्ढेण मग्गेण कालमासे कालं क-  
पाओयगमणेण देहं परिच्छयन्ति । ततो अहं वि इयानि इमेण ।  
विहिणा देहं परिच्छइस्स ति । पत्तो य मए भवरायसहस्तदुल्लो, स-  
ललोपालोपदियामरो, सासयमुहप्पयानेनककप्पयावो, सयलतेतो-  
निययमचिन्तामणी, वियडसंसारजलहिपोयमूओ, धम्मसारहो, म-  
यिजयसेणायरिओ ति । अओ पवज्जामो धीरपुरिससेविपं कम्म-  
दायानल एपस्स समीवे महापव्वज्जं ति चिन्तिऊण सदाविदा ।  
मुपुडिपमुहा मन्तिणो । कहिओ य तेसि निययाहिप्पाओ । तओ  
संगओ चेवीयलद्धजिणवयणसारोहि भणिपं च तेहि-अहो ! महापु-

गुणप्रधाना, भासादिकानेकप्रतिमाधारिणी, विविक्तवर्णाभिग्रह  
अष्टाण-लोचलङ्कावज्जवत्तिणः, निष्प्रतिकर्मसरीराः, समतुण-मणि-मु-  
लेट्ठु-कञ्चना, किं बहुना, अष्टादशशीलाङ्गसहस्रधारिणी, उपमा-  
विबुधजनप्रशंसितप्रशममुग्धमेता, अनेकग्रामा-असर-नगर-पट्टन-म-  
द्रोगमुत्त-संनिवेशशतमकुला विहृत्य मेदिनीम्, मिष्यात्यपङ्कमानप्र-  
दाय सद्धर्मकथनदिवाकरोदयेन बोधयित्वा भव्वकमलारुरान्, महात-  
रणपरिकर्मितसरीरा, जिणोवड्ढेण मार्गेण कालमासे कालं कुरवा-  
पोतगमनेन देहं परित्यजन्ति । ततोऽहमपि इदानीम्-अनेन एव विधिना  
पण्यिष्यामि इति । प्रायश्च मया भवशतसहस्रदुर्लभः, सकललोच-  
दिवाकरः, दास्यन्मुगप्रदानेककल्याणदणः, सकलललोचयनिवासा-  
मणि, विहृतसमारजलधिपीनभूतः, धर्मसारविः, भगवान् विजय-  
चार्य इति । अतः प्रव्रजामः धीरपुरणमेवितो कर्मवनदावानलम्-न-  
सर्माने महाप्रव्रज्याम्-इति चिन्तिष्यत्वा सदाविताः तेन मुमुक्षु-  
यन्ति । कथितवन्तं तदा निजकावित्रायः । ततः सत्प्रसङ्ग-  
उपपत्तिनिवचनसारेः भणिपं च तैः-अहो ! महापुत्रपरमा

सहावाणुह्वं देवेन मन्त्रितम् । खरपक्षेणचालियनलिजलमज्जगयचन्द्र-  
 बिम्बचञ्चलमि जीवलोए किञ्चमेयं भवियाणं, अहासुहं, मा करेह  
 पडिवन्धं ति । अग्रं च-देव ! को नाम कस्सइ सुहित्तणं पवज्जिऊणं तं  
 पलित्तजालावलीपरिगयाओ गेहाओ निसरन्तं वारेइ ? पलित्तं च सर्व-  
 दुक्खजलणेण संसारयेहं ति । ता बहुमयं नाम अम्हाणमेयं देवस्स वव-  
 सियं । असमत्था य अम्हे बुद्धिविहवेण भवओ मरणं निवारयेत्तं ति । तओ  
 राइणा एयमायणिऊण 'एवमेयं' ति, 'को तुम्मे मोत्तूण मम अन्नो  
 हिओ' अहिण्णन्दिऊण सबहुमाणं प्हुट्टमुहकमलेणं दवावियं आघोसणा-  
 पुव्वयं महादानं, काराविया भत्तिविहवाणुहवा जिणाययणाईसु अट्टा-  
 हिया महिमा, सम्मानिओ य पणइवग्गो, बहुमाणिआ पउरजणवधा,  
 विप्रं चन्द्रसेनाभिहाणस्स जेट्टपुत्तस्स रज्ज, पडिवन्ना भावओ पव्वज्जा ।  
 'सुए य इओ गमिस्सामि, यत्थ भयवं विजयसेनापरिओ' ति चिन्ति-  
 ऊण ठिओ विविस्सेस्सि सव्वराइयं पडियं । इओ ॥ सो अग्गिसम्म-  
 तावसो अपडिक्कन्तो चेव तन्निघाणाओ कालं काळण विञ्जुक्कुमारेसु दिवङ्गु-  
 पलिओवमद्दिई देवो जाओ ति । दिओ य तेण उवओणो 'किं मया ह्वं वा,

देवेन मन्त्रितम् । खरपक्षेणचालितनलिजलमज्जगयचन्द्रबिम्बचञ्चले  
 जीवलोके कृत्यमेतद् भव्यानाम्, ययासुखम्, मा कुस्त प्रतिबन्धम्-  
 इति । अन्यच्च-देव ! को नाम कस्यचित् सुधीरवं प्रपद्य तं प्रदीप्त-  
 ज्वालावलीपरिगताद् गेहाद् निस्सरन्तं वारयति ? प्रदीप्तं च सर्व-  
 दुःखज्वलनेन संसारगेहम्-इति । ततो बहुमतं नाम अस्माकम्-एतद्  
 देवस्य व्यवसितम् । असमर्थाश्च वयं बुद्धिविभवेन भवतो मरणं निवार-  
 यितुम्-इति । ततो राज एतद् आकर्ण्य 'एवमेतद्' इति, 'को युष्मान्  
 मुक्त्वा मम अन्योहितः' अभिनन्द्य सबहुमानं प्रहृष्टमुखकमलेन क्षापितम्-  
 आघोषणापूर्वकं महादानम्, कारिता भक्तिविभवानुरूपा जिनायतनादिषु  
 अष्टाहिका महिमा, सम्मानितश्च प्रणयिवर्गः, बहुमानिताः पोरजनपदाः,  
 दत्तं चन्द्रसेनाभिधानस्य ज्येष्ठपुत्रस्य राज्यम्, प्रतिपन्ना भावतः प्रवज्ज्या ।  
 'क्ष्वश्च इतो गमिष्यामि, यत्र भगवान् विजयसेनाचार्यः' इति चिन्तयित्वा  
 स्थितो विविक्तदेशे सर्वरात्रिकीं प्रतिमाम् । इतश्च सः अग्निसमंतापसः  
 अप्रतिकान्त एव तन्निदानात् कालं कृत्वा विमुक्तुमारेषु द्व्यर्धपत्न्योपम-  
 स्तिष्ठिर्देवो जात इति । इतश्च तेन उपयोगः 'किं मया ह्वं वा,

जट्टं वा, वाणं वा विप्रं, जेण मए एसा विख्या वेवड्ढी पत्त' ति ।  
आमोदओ जेण पुट्टजम्मवृत्तन्तो, कुयिओ य उवरि गुणसेतम् ।  
विहंगेणाहोदऊण आगओ तस्स समीयं । विट्ठो य जेण पडिमं डिओ  
गुणसेणो । तओ य-

पडिमं ठियस्स तेणं यिउग्घिया कोहमूडहियएण ।  
निरयाणलजलियसिहा अइघोरा पंसुवुट्ठि ति ॥५३॥  
तोए य उज्जमानो अणाउलं गययत्तत्तसंपन्नो ।  
त्तिन्तेइ भावियमणो धम्मम्मि जिणप्पणोयम्मि ॥५४॥  
सारीर-माणसोहं बुवसेहि अभिवदुयम्मि संसारे ।  
मुलहमिणं ज बुवरं दुलहा सद्धम्मपडियसी ॥५५॥  
धन्नोहे जेण मए अणोरपारम्मि भयसमुदुम्मि ।  
भयसपत्तहस्सालुलहं रुद्धं सद्धम्मरयणमिणं ॥५६॥  
एपस्स पमाथेण पालिज्जन्तस्स सद्ध पयसेणं ।  
जम्मन्तरम्मि जीवा पायन्ति न बुवसदोगच्छं ॥५७॥

इष्ट वा, दानं वा, दानम्, येन मया एसा दिव्या देवधिः प्राप्ता' इति ।  
आमोदिता य तेन पुट्टजम्मवृत्तान्ते, कुयितरश्च उपरि गुणसेतस्य विप्र-  
हतेन आगम्य आगम्यस्य समीपम् । इष्टश्च तेन प्रतिमां विपः  
गुणसेन, । ५३-५७-

पडिमं ठियस्स तेन विट्ठिना कोहमूडहियएण ।  
निरयाणलजलियसिहा अनिघोरा पामुवुट्ठिरिति ॥५३॥  
तोए य उज्जमानो अणाउलं गययत्तत्तसंपन्नो ।  
त्तिन्तेइ भावियमणो धम्मम्मि जिणप्पणोयम्मि ॥५४॥  
सारीर-माणसोहं बुवसेहि अभिवदुयम्मि संसारे ।  
मुलहमिणं ज बुवरं दुलहा सद्धम्मपडियसी ॥५५॥  
धन्नोहे जेण मए अणोरपारम्मि भयसमुदुम्मि ।  
भयसपत्तहस्सालुलहं रुद्धं सद्धम्मरयणमिणं ॥५६॥  
एपस्स पमाथेण पालिज्जन्तस्स सद्ध पयसेणं ।  
जम्मन्तरम्मि जीवा पायन्ति न बुवसदोगच्छं ॥५७॥

ता एवो चिचय गफनो मज्झमजापरणदोगपरिहीणो ।  
 सद्धम्मजाभगदभो जम्मो जाइम्मि संसारे ॥५८॥  
 विनिहइ य मज्झ हिययम्मि जो बभो ततस अग्गितम्मरस ।  
 परिमयरोवुप्पाभो 'तवइ अकज्जं कयं पच्छा' ॥५९॥  
 एहि पुण पटिवन्नो मेसि मय्येणु सेय जीवेणु ।  
 जिनवचनाभो अहयं वितोताभो अग्गितम्मरसि ॥६०॥  
 इय सो गुहपरिणामो तेणं विनिपाइओ उ पावेणं ।  
 मरिऊणं उचयन्नो देवो सोहम्मकल्पम्मि ॥६१॥  
 अह मागरोवमाऊ जाओ चन्दाणणं विमानम्मि ।  
 देवानुप्पत्तिविहि समासओ एत्थ वुत्तामि ॥६२॥  
 ओहेणं चिय जह ते हवन्ति जं च उच्छरावओ तेसि ।  
 निम्पत्तन्तिमरे जह परमं देवस करणिज्जं ॥६३॥  
 जह मेहा-ज्जनि-तिपासिन्धवाप-विग्गूण संभवो होइ ।  
 गयणम्मि एणेण तहा देवाण वि होइ उत्पत्ती ॥६४॥

तत एतद् एव गफन मम मनावरणदोषपरिहीनम् ।  
 सद्धर्मजाभगुदधं जन्म अनारो संसारे ॥५८॥  
 विनिव्रति च मम हृदये यः वृत्तस्तरय अग्निधर्मणः ।  
 परिमयवरोपात्तादः 'तपति अकार्यं इतं परत्वात्' ॥५९॥  
 इदानीं पुनः प्रतिपन्नो मंत्री सर्वेषु एव जीवेषु ।  
 जिनवचनाद् अह विप्रोपतः अग्निधर्मणि ॥६०॥  
 इतः ॥ गुहपरिणामः तेन विनिपातितस्तु पापेन ।  
 मृत्वा उपपन्नो देवः शीघ्रमंकल्पे ॥६१॥  
 मय मागरोवमायुः जातः चन्द्रामने त्रिमाने ।  
 देवानाम्-उत्पत्तिविधिं समामतोऽत्र वदयामि ॥६२॥  
 ओपेन एव तथा ते भवन्ति यद्वच अप्परआदयरतेषाम् ।  
 निर्वर्तयन्ति इतरे (?) यथा परमं देवस्य करणीयम् ॥६३॥  
 यथा मया-ज्जनि-निवर्त्तगृहाप-विद्युतां संभवो भवति ।  
 गगने क्षणेन तथा देवानामपि भवति उत्पत्तिः ॥६४॥

मो पुन भोक्तृण इमं विमलम् देवमपनिग्ने ।  
 निर्वृत्तेऽसरीरं दिव्यं अन्तोमुद्भूतेन ॥६५॥  
 तस्मि समयस्मि तस्य य गायन्ति मनोहरा इ गेयाः ।  
 कुसुमपवरं मुपन्ति य सभमरयं तियगविलयाओ ॥६६॥  
 नचवन्ति दिव्यविभ्रमसंपादयति य सकोउहत्लाओ ।  
 यजन्तियिविहमणहरतिसरीषीणासनाहाओ ॥६७॥  
 देवा य हरिसियमणा करेन्ति उत्क्रिष्टसोहृणाय च ।  
 मुणिऊण तस्स जम्मं मुवुल्लहं सयलमुपणम्मि ॥६८॥  
 इयरी पि य कामगुणे सह-स्फास-रस-रूप-गन्धे य ।  
 दिव्ये समणुहयन्तो हिट्ठो उट्ठेऽ सयराहं ॥६९॥  
 सुरयणनयणाणन्दो दिव्यं देवसुयं अहिजिवन्तो ।  
 भासुरवरयोन्दिधरो संप्पुण्णो सारयससि इव ॥७०॥  
 तियसविलया उ तत्थ य तेहि य रुद्धहाउ मधुरवचनेहि ।  
 जय जय जय ति नन्दा ! पुणन्ति हिट्ठाउ एएहि ॥७१॥

स पुनः भोक्तृणा इमं देहं विमले देवशयनीये ।  
 निर्वर्तयति शरीरं दिव्यम्-अन्तर्मुहूर्तेन ॥६५॥  
 तस्मिन् समये यत्र च गायन्ति मनोहराणि गेयानि ।  
 कुसुमप्रकरं मुच्यन्ति च सभमरकं त्रिदशवनिताः ॥६६॥  
 मृत्यन्ति दिव्यविभ्रमसंपादितत्रिदशकुनूहलाः ।  
 बाधमानविविधमनोहरत्रिस्वरीवीणासनाद्याः ॥६७॥  
 देवाश्च हृष्टमनसः कुर्वन्ति उत्क्रिष्टसिंहनादं च ।  
 गात्वा तस्य जन्म सुदुर्लभं सकलमुखे ॥६८॥  
 इतरोऽपि च कामगुणान् शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गन्धान् च ।  
 दिव्यान् समनुभवन् हृष्ट उत्तिष्ठति क्षीघ्रम् ॥६९॥  
 सुरजननयनानन्दः दिव्य देवांशुकम्-अधिशिषन् ।  
 भासुरवरशरीरधरः संपूर्णः पारदशशीव ॥७०॥  
 त्रिदशवनितास्तत्र च तैश्च मुन्दरा मधुरवचनैः ।  
 जय जय जय इति नन्द ! स्तुवन्ति हृष्टा एतैः ॥७१॥

तिर्यसा वि परमहिम्ना गण्डयलावडियकुण्डलुज्जोया ।  
 मुरतरकुसुमाहरणा नमन्ति जयसद्गुहलबोलं ॥७२॥  
 अहं तं दिव्यपरियणं ददूणं लोयणेण संभन्तो ।  
 विप्रं ह्ययं व किं मे इमं फलं जस्स दिव्यं ति ॥७३॥  
 काऊण य उयओगं दिव्वेणं ओहिणा विसुद्धेणं ।  
 मुणिऊण सुचरियं तो करेइ अहं देवकरणिज्जं ॥७४॥  
 सासयजिणपडिमाणं पूयं पूयाइहो महारम्मं ।  
 पोत्थयरयणं च तथा वाएइ मुहुत्तमेत्तं तु ॥७५॥  
 अहं तिर्यससुन्वरीओ निज्जियमुहयन्दचन्दबिम्बाओ ।  
 पीणुअयसुपसाहियवरयणहरबन्धुरंगीओ ॥७६॥  
 तवलीतरंगभंगुरमज्जविरायन्तहाररम्माओ ।  
 मुहलरसणाहिणन्दियवित्थिण्णनियम्बबिम्बाओ ॥७७॥  
 तत्ततवणिज्जसन्निहमणहरयोरोरुजुयलकलियाओ ।  
 नहयन्वसमुज्जोयियकुम्भुअयचलणसोहाओ ॥७८॥

त्रिदशा अपि परमहिम्ना गण्डतलापतितकुण्डलादुद्योताः ।  
 मुरतरकुसुमाहरणा नमन्ति जयसद्गुहलबोलम् ॥७२॥  
 अथ तं दिव्यपरिजनं दृष्ट्वा लोचनेन सभ्रान्तः ।  
 इत्तं ह्युत वा किं मया इदं फलं यस्य दिव्यमिति ॥७३॥  
 कृत्वा च उपयोगं दिव्येन अवधिना विदुद्धेन ।  
 ज्ञात्वा सुचरितं ततः करोति अथ देवकरणीयम् ॥७४॥  
 शाश्वतजिनप्रतिमानां पूजा पूजार्हः महारम्याम् ।  
 पुस्तकरत्नं च तथा वाचयति मुहूर्तमात्रं तु ॥७५॥  
 अथ त्रिदशसुन्दर्यः निर्जितमुखचन्द्रचन्द्रबिम्बाः ।  
 पीनीभ्रतमुपसाधितवरस्तवनभरबन्धुराङ्गणः ॥७६॥  
 त्रिवलातरगभंगुरमध्यविराजद्धाररम्याः ।  
 मुखरसना (मेखला)ऽभिनन्दितविस्तीर्णनितम्बबिम्बाः ॥७७॥  
 तप्ततपनीयसंनिभमनोहरस्थूलोरुगुलकलिताः ।  
 नखचन्द्रसमुद्भूतोत्तकूर्मोन्नतचरणशोभाः ॥७८॥



गाढपरिमोतरतरिपनितारासंगारभापरम्माभी ।  
 पेच्छइ समुत्तिपाओ दम्भहृगरसलियमणाओ ॥७९॥  
 किकरगणे य धगियं भनुरतो विव्यविहवसंपन्ने ।  
 तियसमयणां पेच्छह सामिय । इय जंपिरे लइहे ॥८०॥  
 तियसविलयाहि शनयं जयसहपणामियप्पमायाहि ।  
 मोहणविचरणाहि पेच्छइ तो तियमभण्णाई ॥८१॥  
 वित्तिपणमरगयसिलासंचयसंजनिवियपड्डीडाई ।  
 मणिरयणजइयमणहरफलिहामणिमितिनुताई ॥८२॥  
 वेदलियतम्भविरइयविचित्तवरसालमञ्जियसयाई ।  
 तह दिव्यलग्गचामरपण्णुत्तकुडन्तरालाई ॥८३॥  
 धरविधिहवेयच्छन्दयविरइयपल्लकुसनाहाई ।  
 परिलम्बियपटुंसुयमुत्तावलजनिवसोहाई ॥८४॥  
 तियसतठकुसुममण्डियकुट्टिमसंकन्तममरवन्द्याई ।  
 धूपपटियाउलाई परिलम्बियवरयणदायाई ॥८५॥

गाढपरितोषप्रसूतविलासशृंगारभापरम्माः ।  
 प्रेक्षते समुच्छ्रिता भग्नयशरसलियतमनसः ॥७९॥  
 किकरगणादय गाढम्-भनुरवतान् दिव्यविभवसंपन्नान् ।  
 त्रिदशभवनानि प्रेक्षन् स्वामिक । इति जल्पाकान् सुन्दरान् ॥८०॥  
 त्रिदशवनिताभिः भग्नकं जयशब्दप्रमाणामितप्रभाषाभिः ।  
 मोहनविचक्षणभिः प्रेक्षते ततः त्रिदशभवनानि ॥८१॥  
 विस्तीर्णमरकतनिलासचयसंजनितविकटपीठानि ।  
 मणिरत्नचचित्तमनोहरस्फटिकमणिमित्तियुक्तानि ॥८२॥  
 वैदूर्यस्तम्भविरचितविचित्रवरसालमञ्जकाशतानि ।  
 तथा दिव्यसङ्गचामरप्रयुक्तकुटान्तरालानि ॥८३॥  
 धरविधिहवेयच्छन्दकविरचितपल्लकुसनायानि ।  
 परिलम्बितपटुंशुकमुक्तावलजनिताशोभानि ॥८४॥  
 त्रिदशतठकुसुममण्डितकुट्टिमसंकान्तभ्रमरवन्द्यानि ।  
 धूपपटिकाकुलानि परिलम्बितरत्नदायानि ॥८५॥

अह तेसु तियससुन्दरिनिषहेण समं पुरा सुकयपुण्णो ।  
चिद्वद्द परितुद्वमणो भुज्जन्तो दिव्ववरमोए ॥८६॥  
भुज्जिसु सो वि दिव्वे भोए चन्दाणणे विमाणम्मि  
सुरसुन्दरोहि सद्धि जहिण्णिण्ण सागरमणूणं ॥८७॥

‘समराहृषिकहाए’ पढमो भयो समस्तो ।



अथ तेषु त्रिदशसुन्दरीनिवहेन सम पुरा सुकृतपूर्णः (पुण्य.) ।  
तिष्ठति परितुष्टमना भुञ्जानो दिव्यवरभोगान् ॥८६॥  
अमुक्त सोऽपि दिव्यान् भोगान् चन्द्रानने विमाने ।  
सुरसुन्दरीभिः सार्धं यथेच्छितान् सागरमनुजम् ॥८७॥

पाकिनीमहत्त रासुनु-परमगुणानुरागि-परमसत्यप्रिय-परमकादजिक-  
भगवत्-श्रीहरिभद्रसुरिवररक्षितायो 'समरादित्यकृपायाम्'  
प्रथमो भवः समान्तः ।



सद्यः चित्तं ध्यायन् होतुं अर्चयन् परोपकाराय ।

बालसहितस्तथा जवन्तो जगत्स भुवनं पदमेव ॥२॥

ततो जहागुहेन धम्मनिरयात् पयोपकारमपादनेन सुलब्धं जन्मकम्  
अद्वयकन्ता नय मासा अर्द्धमरात्रिदिवा । ततो पगतो तिथिकरण-मुद्र-  
जोए मुकुमालपाणि-पादं सवलजनमनोरहेहि देवी तिरिगन्ता दार-  
प्रसूयति । निवेदितो राज्ञो मुद्रकरिकाभिधानया दास्या पुत्रजन्म । परि-  
जन्मो । परितुष्टो राजा, दत्तं च तस्यै पारितोषिकम् । कारितं च बन्धन-  
मोचनाद्वयं करणिज्ज, पयसो य नगरे महानन्द, गोमिता नगरीमार्गा, प्रशान्ति-  
पत्तमाविभो रयो कुङ्कुमजलेन, त्रिप्रकोणानि रवन्मधुकरमनायानि विचित्रकुसुमानि  
कुसुमादं, कयाभो हृद्भवनसोहाभो, पथभवनेषु समाहृतानि मङ्गलतूर्याणि, सहस्रं  
सहरित ॥ नञ्चिय रायजगन्नागरेहि ति । एवं च पञ्चदिनं महामहद्-  
माणन्दसौख्यमनुभवन्तोरतिशान्तः प्रथममासः । पञ्चद्वयिणं च तस्य नाम  
बालस्तु सुविणयदंशनिमित्तेणं सोहो ति । सो म विसिद्धं पुण्यफलमनु-  
भवन्तो अभग्न(ज्ज)मानप्रसरं प्रणयिनां मनोर-  
हणं पुण्येन-

सर्वा एव धन्यानां भवति अथस्या परोपकाराय ।

बालसहित इवोदयो जनस्य भुवनं प्रकाशयति ॥२॥

ततो मयासुध धर्मनिरतया परोपकारमपादनेन सुलब्धं जन्मकम्  
अतिशान्ता नय मासा अर्द्धमरात्रिदिवा । ततः प्रशस्तं तिथिकरण-  
मुद्र-योगे मुकुमारपाणि-पादं सवलजनमनोरहेः देवी श्रीकान्ता दार-  
प्रसूतेति । निवेदितं राज्ञः शुभं करिकाभिधानया दास्या पुत्रजन्म । परि-  
तुष्टो राजा, दत्तं च तस्यै पारितोषिकम् । कारितं च बन्धनमोचनादि-  
करणायम्, प्रवृत्तश्च नगरे महानन्द, गोमिता नगरीमार्गा, प्रशान्ति-  
रजः कुङ्कुमजलेन, त्रिप्रकोणानि रवन्मधुकरमनायानि विचित्रकुसुमानि  
कुसुमाः हृद्भवनसोभाः, पथभवनेषु समाहृतानि मङ्गलतूर्याणि, सहस्रं  
प्रतिदिनं महामहद् आनन्दसौख्यमनुभवन्तोरतिशान्तः प्रथममासः । प्र-  
तिदिनं च तस्य नाम बालस्य स्वप्नकदम्बनिमित्तेन सिंह इति । स  
विसिद्धं पुण्यफलमनुभवन् अभग्न(ज्ज)मानप्रसरं प्रणयिनां मनोर-  
हणं पुण्येन-

जोव्यणमणुवमसोहं कलाकलावपरियद्वियच्छायं ।

जणमणनयणाणन्दं चन्दो ह्य क्रमेण संपत्तो ॥३॥

अथवा य संपत्तजोव्यणस्त कुमुमचावस्त वि हियवानुकूलो तदण-  
जणहिययाणन्दयारी आगतो यत्तन्तसमथो । जत्य सविसेस कुमुममय-  
कोदण्डमण्डलीतांघियसिलीमुहो रइं दसिऊण जणहिययाइ विधिउ पयत्तो  
मयथो । अणन्तरं च तस्स धेउ जयजयसहो ह्य कोइलाहि कओ कोला-  
हली, विरहगिगइजन्तपहियसंपादधूमपइल य विरगिभयं सहकारेसु  
भमरजालं, गययइयामसाणजालणेहि विव पलित्त दिसामण्डलं विमुय-  
कुमुमेहि ति । तथो एवंपिहे यत्तन्तसमए सो सोहपुमारो अणेयतदण-  
जणवेडिओ महामिभूईए केतिनिमित्तं मओ पमुदयपरहुयासइजणिय-  
तदणीअणचित्तविग्गममुत्तोलं गुरहिमलयवयणपणरचावियकुमुमभरभरज-  
माणलयाविडियजालं मयमुदयमुहलमहुयरकुलोदगीयमाणगसोहं वासहरं  
पिय दसन्तलच्छीए कोलामुन्दरं माम उज्जाणं, पयत्तो य कोलितं विचित्त-  
कोलाहि ति । दिट्ठा य तेण तत्थ उज्जाणे नाइदूरदेससट्ठिया कुमुमपरिमल-  
मुपगयवेणिमहुयरावली विदुमलयायम्बहथपत्तया उरवेत्तन्तकोमलतणु-

धोवनमनुवमसोम कलाकलावपरिवधितच्छायम् ।

जनमनोनयनानन्द चन्द्र इव क्रमेण संप्राप्तः ॥३॥

अथवा य संप्राप्तधोवनस्य कुमुमचावस्यावि हृदयानुकूलः तदण-  
धनहृदयानन्दकारी आगतो यत्तन्तसमयः यत्र सविशेष कुमुममयकोदण्ड-  
मण्डलीसंघितसिलीमुखो रजि दसंपित्वा जनहृदयानि ध्वंशुः प्रवृत्ता  
मदनः । अनन्तरं च तस्यैव जयजयसहो ह्य कोनिलानिः कृतः कोला-  
हलः, विरहगिगइजन्तपहियसंपादधूमपइलमिव विरगिभयं सहकारेसु  
भमरजालम्, गनपतिबादमसानुबलनेरिव प्रदीप्त दिग्मण्डलं विदुः  
कुमुमेरिति । तत्र एवंविधे यत्तन्तसमये न सिहपुमारोऽनेवतरणजन-  
वेष्टितो मर्त्यवभूत्वा केतिनिमित्तं यतः प्रमुदितपरभुताद्यद्वयनिष्ठतरणी-  
चित्तविभ्रमोत्तोलं गुरभिर्मन्यदवनप्रनतितकुमुमभरपद्ममानलताविद-  
रिजालं मइमुदिनमुत्तरमद्यकरकुलोदगीयमानादलोभ बागमुदयिच बागल-  
नहस्याः श्रीरामुन्दरं मामोत्तानम् प्रवृत्तश्च श्रीरिणु विविचरिडा-  
मिरिति । इत्था च तेन तत्रोत्ताने नाइदूरदेससट्ठिया कुमुमपरिमल-  
मुपगयवेणीमहुयरावली विदुमलयायाम्बहृत्पत्तया



प्रथमागमाग्रे; ता भग्नरायोयड आगवपरिगहेनं इमं एत  
एतो, बीरउ मे सज्जनजनान सम्बन्धपायवर्धयाम् सागय, दिग्गज मे  
सहस्रेण कालोचित वसन्तकुसुमाभरणसनाह सम्बोधंति । कुसुमावली  
भणितं—हन्ता । न सख्युत्तमि भद्रमज्जागेण इमं एवम काउ; ता मुम  
वेय एत कालोचितं करेति । एतन्तरमि य पत्तो तमूहेनं कुमारो ।  
ततो सज्जन भगव भणितो पियवरोए—'सागय रद्विरहितस कुसुम-  
बावात, इह उपविशतु महानुभावो' । ततो गो गपरितो ईति पितृ-  
मिह 'आनि य भहं एतिय कालं रद्विरहितो, न उच गपय' ति  
भणितुमुत्तिष्ठो । उपनीय च पियवरियाए माहवीकुसुममालासनाह  
कलधोतमयतमियाए सम्बोधं, गहियं च तेन । एतन्तरमि य आगमो  
कुसुमावलीजनणीए आह्वाननिमित्तं येतिमो सभरायणो नाम कन्न-  
उरमहत्तगो । विद्वा य तेन सानुरागं अपेष्टन्तमद्विष्टपेष्टिह  
कुमारमवलीएतो कुसुमावली । चिन्तिय च तेन । समापतो मयणो  
रिए, जइ बिहो भणुपित्तगह । ततो पश्चात्तप्रमाणतून कुमारमहि-  
नन्ध भणिय सभरायणेन । वरसे । कुसुमावलि । देवी मुक्तावली

प्रथमागमा वय; तस्माद् अन्तर्कार्यतामागनपरिग्रहेण इमं प्रदेताम् एव;  
विपता तस्य सज्जनजनाना सम्बन्धपायवर्धयाम् सागयतम्, बीमता तस्य  
स्वहस्तेन कालोचित वसन्तकुसुमाभरणसनाय सम्बुलमिति । कुसुमावल्या  
भणितम्—हन्ता । न सख्युत्तमि भद्रिमाध्वसेनेदमेतस्य कर्तुम्; तस्मात् स्वमे-  
वात्र कालोचित कुद इति । अत्रान्तरे च प्राप्तस्तमूहेन कुमारः । ततः  
'सज्जिस्वात्जनं भणित, प्रियभूया—'स्वागत रतिविरहितस्य कुसुमचापस्य,  
इह उपविशतु महानुभावः' । ततः स गपरितो ईयद् बिहस्य 'आसं  
बाहम् एतावन्त काल रतिविरहितो, न पुनः साम्प्रतम्' इति भणितो-  
पविष्टः । उपनीय च प्रियभूया माधवीकुसुममालासनाय कलधोतमय-  
तलिकायां (मुवर्णमयभाजनविशेषे) सम्बुलम्, गृहीत च तेन । अत्रान्तरे  
च आगतः कुसुमावलीजन्या आह्वाननिमित्तं प्रेषितः सभरायणो नाम  
कन्यान्त, पुरमहत्तः (कन्धुकी) । दृष्टा च तेन सानुरागमपदन्तमर्दा-  
दिप्रेक्षितः कुमारमवलीकन्यन्ती कुसुमावली चिन्तितं च तेन । समापतो  
मदनो रत्ना, यदि विधिरनुवर्तिष्यते । ततः प्रत्यासन्नमागत्य कुमारमभि-  
नन्द्य भणितं सभरायणेन । वरसे । कुसुमावलि । देवी मुक्तावली

आज्ञापयति 'अतिचिर कीदृश, मा शरीरमेव ते भविष्यति; ताम्रं  
 लघु आगन्तव्यम्' इति । ततः 'यदस्या आज्ञापयति' इति भगिन्ना  
 सप्तधर्मं कुमारमवलोकयन्ती निगन्ता उद्यानात्, प्राप्ता च कुमारदेव  
 चिन्तयती निजकनेहम् । ततां देवी प्रणम्याकृडा दन्तवलभिकाम् । तज्ज  
 कुमारमेवानुस्मरन्ती विभुवतदीर्घनिःश्वासा समुपविष्टा पत्युद्वेगयतीये  
 विसर्जितवच्च तया संमान्य शरीरसाधं ।

अह रोषितं पयसा सेज्जं अणवरत्नमुत्तमोत्तमा ।  
 मदनसरसल्लिखमणा निजकज्जनियत्तथापारा ॥४॥  
 नालिहृद चित्तधम्मं न यङ्गरायं करोइ करणिज्जं ।  
 नाहिलसाइ आहारं अहिण्वइ नेय निजमवणं ॥५॥  
 चिरपरिचितं वि पाठेइ नेय शुभ-सारियाण संधायं ।  
 कीलायेइ मणहरे चट्टले न च भवणकलहंसे ॥६॥  
 विहरइ न हम्मियतले मज्जइ न च गेहदीहिपाए उ ।  
 सारेइ नेय धीणं पत्तच्छेज्जं वि न करोइ ॥७॥

आज्ञापयति 'अतिचिर कीदृश, मा शरीरमेव ते भविष्यति; ताम्रं  
 लघु आगन्तव्यम्' इति । ततः 'यदस्या आज्ञापयति' इति भगिन्ना  
 सप्तधर्मं कुमारमवलोकयन्ती निगन्ता उद्यानात्, प्राप्ता च कुमारदेव  
 चिन्तयती निजकनेहम् । ततां देवी प्रणम्याकृडा दन्तवलभिकाम् । तज्ज  
 कुमारमेवानुस्मरन्ती विभुवतदीर्घनिःश्वासा समुपविष्टा पत्युद्वेगयतीये  
 विसर्जितवच्च तया संमान्य शरीरसाधं ।

अय रोषितु प्रयुक्ता शय्या अनवरत्नमुत्तमोत्तमा ।  
 मदनसरसल्लिखितमनाः निजकार्यनिवृत्तव्यापारा ॥४॥  
 नालिहृद चित्रकर्म न चाङ्गरायं करोति करणीयम् ।  
 नाभिलषति आहारम् अभिनन्दति नैव निजमवनम् ॥५॥  
 चिरपरिचितमपि पाठयति नैव शुभ-सारिकाना संधातम् ।  
 श्रीहृषति मनोहरान् चट्टलान् न च भवनकलहसान् ॥६॥  
 विहरति न हर्म्यतले मज्जति न च गेहदीहिपाया तु ।  
 भारयति नैव धीणां पत्रच्छेद्यपि न करोति ॥७॥

न च कन्दुएण कीलइ बहु मघइ नेय भूसणकलावं ।  
हरिणि ख्व जूहभट्टा अणुसरमाणी तयं चेव ॥८॥  
खणहट्टनयणपसरा अवसा खणघरियदीहनीसासा ।  
खणहट्टदेहचेट्टा खणजंपिरवाय (मिलाण) मुहकमला ॥९॥  
एत्थन्तरम्मि तीसे घावीए निपसुता समाणत्ता ।  
नामेण मयणलेहा बीयं हिययं व जा तीए ॥१०॥

जहा—कीलामुन्दरज्जाणगमणकीलाए इहं परिहसन्ता कुसुमावली,  
लहुं च तीए भज्ज विसज्जिमाओ सहीओ; ता गिण्हऊण पविरलजल-  
सित्तं तालियण्टं दग्धेऊण कइवयकप्पूरवीडगानि उपसप्पाहि एयं ति ।  
समाएसाणन्तरं च संपादयज्जणविषयणा रसन्तमणिनेउरा पत्ता कुसुमा-  
वलीसमीवं सहरिसा मयणलेहा । दृष्ट्वा च तीए वरसपणीयमध्यगता  
गुरुचिन्ताभरनीसहं अंगं वहन्ती कुसुमावलि ति । ततो अणालयणमुणिय-  
मुत्तमावाए विज्ञप्ता मयणलेहाए । सामिणि ! किमेव उद्विग्ना इव लक्ष्य-  
यसि, किं न संपन्ना ते गुरुदेवदयानं पूजा ? किं न सम्मानयिमाओ सहीओ ?

न च कन्दुकेन क्रीडति बहु मग्यते नैव भूपणकलापम् ।  
हरिणीव यूथभ्रष्टा अनुस्मरन्ती त चैव ॥८॥  
खणहट्टनयनप्रसरा अवशा खणधूतदीर्घनिःश्वासा ।  
खणहट्टदेहचेष्टा खणकथयितुं श्लानमुखकमला ॥९॥  
अत्रान्तरे तस्या घाम्या निजसुता समाश्रिता ।  
नाम्ना मदनलेखा द्वितीय हृदय वा या तस्याः ॥१०॥

यथा—श्रीडासुन्दरोद्यानगमनश्रीडया इह परिध्रान्ता कुसुमावली,  
लधु च तयाऽऽ विसज्जिता. सख्यः; तस्मात् गृहीत्वा प्रविरलजलसिक्त  
तालवृन्तं बद्ध्वा कतिपयकर्मरवीटकानि उपसर्प एतामिति । समादेशा-  
नन्तरं च संपादितजननीवचना रसन्मणिनूपुरा प्राप्ता कुसुमावली-  
समीपं सहपां मदनलेखा । दृष्ट्वा च तया वरसपणीयमध्यगता गुरुचिन्ता-  
भरनिःसहमद्ग वहन्ती कुसुमावली इति । ततोऽणालयणजातशून्यभावया  
विज्ञप्ता मदनलेख्या । स्वामिनि ! किमेव उद्विग्ना इव लक्ष्यसे,  
किं न संपन्ना ते गुरुजनदेवतानां पूजा ? किं न सम्मानिताः सख्यः ?



किम् कदा अस्थिजनपडियती ? किम् गहिओ कलाकलायो ? किम्  
परितुष्टो ते गुरुयणो ? किम् विनीओ ते परिवारो ? किम्मापुत्तो  
सहीसत्थो ? किम् सजापइ ते समोहियं ति ? आणवेउ सामिणी, अ  
अकहणीयं न होइ । तओ कुमुमावलीए ससंभमं सहस्रेण अलए संजनेइ  
भणियं । अस्थि पियसहीए यि नाम अकहणीयं । ता सुण कुमुमावली-  
परिस्समेण मे जरकला यिय सवुत्ता, सज्जनिओ य परिपीडेइ मं परि-  
यायाणलो, तन्निमित्ता य विजम्भइ अंगेसु अरई, न उण किंवि अ  
उद्वेगकारणं लवलेमि ति । मयणलेहाए भणियं-जइ एवं ता गं  
कपूरवीडगाणि, परिवीएमि ते कोलाखेयनीसहं अंगं । कुमुमावलीए  
भणियं-किं मे एमावत्थं गयाए कपूरवीडएहि, अलं च परिवीडएव ।  
एहि गच्छामो बालकयलीहरयं । तस्य सज्जीकरेहि मे अत्युरणं, ये  
तहि गयाए अवेइ एसो परिपयाणलो ति । तओ मयणलेहाए भणिवं ।  
अं सामिणी आणवेइ । गयाओ य समवणुज्जाणतिलयमूर्धं बालकयनी-  
हरयं । सज्जीकयं च ते मयणलेहाए सुन्दरमस्तरणं । निपप्रा ।

किं न कृता अधिजनप्रतिपत्तिः ? किं न गृहीतः कलाकलापः ? किं न परि-  
तुष्टस्ते गुरुजनः ? किं न विनीतस्ते परिवारः ? किं नानुरक्तः मन्त्री-  
मार्थः ? किं न सजापते ते समोहितम्-इति । आज्ञापयतु स्वामिनी  
यद्यकयनीयं न भवति । ततः कुमुमावत्या ससंभ्रमं स्वहस्तेनाङ्गका-  
ममय्य भणितम् । अस्ति प्रियसख्या अपि नाम अकयनीयम् । तावत्  
शृणु-कुमुमावत्यापरिस्थमेण मे ज्वरकला इव सवृत्ता, सज्जनित-  
परिपीडयति मां परितापानलः, तन्निमित्ता च विजम्भते अङ्गेषु अरति-  
न पुनः किञ्चिद् अन्यद् उद्वेगकारणं लक्षयामि इति । मदनलेख-  
भणितम्-यद्येव, तस्माद् गूहाण तावत् कपूरवीटकानि, परिवीजयामि  
ते त्रीदशेदनिःसहस्रम् । कुमुमावत्या भणितम्-किं मे एतदव-  
गतायाः कपूरवीटकैः, अलं च परिवीजितेन । एहि गच्छामो बाल-  
कलीगृहम् । तत्र सज्जीकुरु मे आस्तरणम्, येन तस्मिन् गताया अपि  
एष परितापानल इति । तत्रां मदनलेखया भणितम्-यद् स्वामि-  
आज्ञापयति । गतायैव स्वभवनोद्यानतिलकभूतं बालकदलीगृहम्  
सज्जीकुरु च तस्या मदनलेखया सुन्दरमास्तरणम् । निपप्रा (मुक्ता)

य कुमुमावली । समन्विताणि ते कर्पूरबीटकाणि । योऽसम्भक्तहातवज्र-  
परिभोसं च तालियष्टेन बीजितुमारब्धा मयणलेहा । कुमुमावली पुन  
पण्डितसुप्रहङ्कारा निह्यमुक्कनीतासं तं चेव हिययसल्लभ्यं पुनो  
गुसरन्ती चिट्टइ । तओ मयणलेहाए चिन्तियं—किं पुण इमीए इमस्स  
प्रहादियारभावस्स कारणं ति । पुच्छिमा य तीए । सामिनि ! पत्ते  
स्मिं तद्वज्रजपियिम्ममुत्तोलसागरे वसन्मसमए किं तुमए अज्ज कीला-  
दरं गच्छन्तीए गयाए या तस्य अच्छरिय दिट्ठं ति । तओ मयणा-  
यासहावओ चेव धामसत्तेणं मयणस्स अणमिप्पेयं पि भणिय कुमुमा-  
लीए—सहि ! दिट्ठो मए कीलागुन्दरज्जाणम्म रइविरहिओ विव  
मुमाठहो, रोहिणीविओइओ विव मयणञ्छणो, परिचित्तमइरो विव  
मवालो, सचीयिउत्तो विव पुरन्दरो, तवियतयणिज्जसरिसयणो नह-  
हमंजरियच्चलंगं गुलिदिभाओ, सुनिगूडशिरासंधाणो अनुबद्धपिण्डा-  
माओ, मनहरमऊरजंओ, अन्तोनिगूडजानुसंधाणो, मयरवपणागार-  
जुमरवओ, अहमुन्दरगुसंगयोवजुयलो, विउलकटियिडामोओ, मनहर-  
गुमरमभाओ, पीणघित्थिण्णवच्छत्यलो, उन्नयतिहरपरियद्दुवाहुजुयलो,

य कुमुमावली । समन्विताणि च तस्याः कर्पूरबीटकानि । मिथम्भ-  
पाञ्ज्यावर्जनितपरितोषा च तालवृन्तेन बीजितुमारब्धा मदनलङ्गा ।  
कुमावली पुनरकाण्डदशशून्यहुकारा निभूतमूक्तनिःश्वास च समेव  
रम्यस्थभूतं पुनः पुनरनुस्मरन्ती तिष्ठति । ततो मदनलङ्गया चिन्ति-  
रु—किं पुनरस्या अस्य अन्यथाविकारभावस्य कारणम्—इति । 'पृष्टा  
तया । स्वामिनि ! प्राप्तेऽस्मिन् तरुणजनविभ्रमोल्लोत्सागरे वसन्त-  
मये किं त्वया अद्य श्रीडामुन्दरं गच्छन्त्या गतया वा तत्रावचर्य दृष्टम्—  
ते । ततो मदनावस्थास्वभावत एव वामत्वेन मदनस्य अनभिप्रेतमपि  
णित कुमुमावल्या—सखि ! दृष्टो मया श्रीडामुन्दरोच्चाने रतिविरहित  
य कुमुमावली, रोहिणीवियोगित इव मृमलाञ्छनः, परित्यक्तमदिर  
य कामपालः, शर्वावियुक्त इव पुरन्दरः, तप्ततपनीयसदृशवर्णो नय-  
यूक्षमञ्जरितचरणाङ्गुलीविभागः, सुनिगूडशिरासन्धानः अनुबद्धपिण्डा-  
भागः, मनोहरमुकुजङ्घः, अन्तनिगूडजानुसन्धानः, मकरवदनाकार-  
जुमस्तकः, अतिमुन्दरमुसङ्गतोरुयुगलः, विपुलकटीतटाभोगः, मनोहर-  
नुमध्यभागः, पीनविस्तीर्णवक्षःस्थलः, उन्नतशिखरपरिवर्तुल्लवाहुयुगलः,

किल महाराजपुत्रेण सीहकुमारेण आगन्तव्यं' ति । तत्रो एषमायणिय 'अ  
 वेयो आणवेद्' ति सहृरिसं गया दन्तवलहियं । इमो य सज्जियं भवण-  
 ज्ञाणं । तत्रो य सायरं उवणिमन्तिऊण कुमुमावलीवसणुसुयमाए अमि-  
 प्पेयागमणो सेय आणोओ सीहकुमारो । कओ से भोयणसंपायाणाओ  
 उवपारो । पच्छा पविट्ठो भवणज्जाणं । दिट्ठो अ तेण गिहसारिपारा-  
 मूहलो दरल्लयामण्डवो नयवरो विव आरत्तपल्लवनियसणोयतोहिओ  
 असोयनियहो, सड्ढलकलहंसघालिमकमलो य भयणदीहिपानतिगिन्न-  
 सण्डो मधुवरपरदुपारायमूहलो य सहपारनिकुडम्भो कुमुममधुपानमुर-  
 भमिरभमरालिपरिपरिओ य माह्योलयामण्डवो, नागवल्लीनिग्रह-  
 मालिगिओ य पूगकलोपपरो सुगन्धपरिमलायासिप्रदिसामण्डलो य कुंडु-  
 मणोच्छनियरो, मधुरमादयन्दोलिरो य लोयणमुहओ कयलीहरओ ति ।  
 डिओ य माह्योलयामण्डयम्मि ।

एषान्तरम्मि य भयणतेहाए भणिमा कुमुमावली । सामिनि ।  
 मरुणुभाषणं सुयणभावाओ पुष्यनिष्यतिओ सेय सम्यन्धो होइ । सो से  
 उषिषाभाषण-पुल्ल-तम्योल्लपयाणाइणा पयासिज्जइ ति । ता वेनेहि

इम महाराजपुत्रेण गिहकुमारेण आगन्तव्यम्' इति तत एतमायस्य  
 'यद् देवी प्राणापयति' इति सहर्षं गता दन्तवल्गुमिकाम् । इति  
 भविष्य भवनीयानम् । तत्र सादरमुपनिषन्त्य कुमुमावलीदर्शनोत्सुक-  
 मयाऽभिवेत्तागमन एव आनीत । गिहकुमारः । वृत्तः तस्य भोजनमया-  
 मारिष्ट उपचारः । पश्चान् प्रविष्टो भवनीयानम् । दृष्टव्यं तेन गृह-  
 मारिकारात्रमुखरो द्राक्षाणनामण्डवो नयवर इव आरत्तपल्लवनियसणो-  
 यतोहिनीओ इतिवद्, सड्ढलकलहंसघालिमकमलरथ भयनदीघिकानि-  
 नायनभय, मधुवरपरदुपारायमूहलरथ सहपारनिकुडम्भः कुमुममधु-  
 पानमूदिन अमिन्धमरालिपरिपरिणस्य माधवीलनामण्डय, नागवल्ली-  
 निग्रहमालिगिनिग्रह, पूगकलोपग्रह, सुगन्धपरिमलावामिप्रदिसाम-  
 ण्डय कुंडुमणोच्छनियरः, मधुरमादयन्दोलिन य लोयणमुमन कयली-  
 हरकम्-इति । स्थितस्य माधवीलनामण्डये ॥

अन्तरं य मदन मया भणिता कुमुमावली स्वामिति ! मधु-  
 वरपानं मुवनमयान् पुष्यनिष्यति एव मयन्धो भवति । स एव  
 इतिवदभाषण-पुल्ल-तम्योल्लपयाणाइणा प्रकाशयति इति । तस्मात् प्रेम्

ते सरीरपतितपुच्छनापुच्छयं एयम्भि काले अतंभावणिज्जभावं सहस्यारो-  
विपपियंगुमंजरीकण्णावयंसं कोमलनागवत्स्नीदलसनाहं च तम्भोत्तं अहि-  
भवप्पन्नाणि य कवकोलकफलाहं नियकलाकोसत्सपिसुणगं ॥ किञ्चि तद्वा-  
क्यं अकठेरयसूर्यं ति । ततो कुसुमावलीए भणियं-जं पियसहि । ते  
पडिहायइ, तं सयं चेव अणुचिट्ठउ पियसही । ततो मयणलेहाए यणिमा-  
समुगयं चित्तवट्ठियं च उवणेऊण भणिया कुसुमावली । सामिणि ।  
चित्तामुराई, खु सो जणो; ता आलिहउ एत्थ सामिणी समानवरहंसय-  
चिउत्तं तद्दंसणुसुयं च रायहंसियं ति । ततो मुणियमयणलेहाभिमप्पायाए  
ईति बिहंसिऊण आलिहिया सीए जहोवइट्ठो रायहंसिया । मयणलेहाए,  
वि य अवत्तासूयगं से लिहियं इमं उवरि कुयईलण्डं । जहा-

अहिणवनेहनिभम्भकण्ठियनिरुपच्छायवयणिया ।

सरसमुणालवलयगासम्मि वि सइ मन्दाहिलासिया ॥११॥

वाहिणपवणविधुयकमलायरए वि अदिसिद्धिया ।

पियसंगमकए नं वसम्मइ कहं धररायहंसिया ॥१२॥

तस्य शरीरप्रवृत्तिपुच्छनापूर्वकमेतस्मिन् कालेऽतंभावनीयभावं स्वहस्ता-  
रोपितप्रियङ्गुमंजरीकर्णावतस कोमलनागवत्स्नीदलसनायं च ताम्भूल-  
मभिनवोत्पन्नाणि च कवकोलकफलानि निजकलाकोसत्सपिसुनकं किञ्चित्  
तत्पारूपमाश्चर्यभूतमिति । ततः कुसुमावल्या भणितम्-यत् प्रियसति !  
तव प्रतिभाति, तत् स्वयमेवानुतिष्ठतु प्रियसली । ततो मदनलेखया  
वृणिकासंमृद्गकं चित्रयति का चोपनीय भणिता कुसुमावली । स्वामिनि !  
चित्रानुरागी, खलु मं जनः, तत् आलिखतु अत्र स्वामिनी समानवरहंस-  
वियुक्ता तद्दर्शनीत्सुको च राजहंसिकामिति । ततो ज्ञातमदनलेखाभि-  
प्रायया ईपद् विहस्य आलिखिता तया यथोपदिष्टा राजहंसिका । मदन-  
लेखयाऽपि आवत्तासूचकं तस्य लिखितमिदमुपरि द्विपदीखण्डम् । यथा-

अभिनवस्नेहनिभंरोत्कण्ठितनिरुपच्छायवदनीया ।

सरसमुणालवलयगासेऽपि सदा मन्दामिलायिका ॥११॥

वक्षिणपवनविधुतकमलाकरेऽपि अदसदृष्टिका ।

प्रियसङ्गमकमे नोत्ताम्यसि कथं धरराजहंसिका ? ॥१२॥



अहं किं पुनः संसृष्टाओ चैव मुनिज्जमाणा वि अवस्था इमेण पुनस्तो-  
वप्राप्तमेतं दुर्दृष्टिगणेन मृदया । मयलेहाए भणियं—महाराजउत्त !  
न एसा सामिणीए मृदया, किं तु एयमालिहितं पेच्छिऊण मए कयं इमं  
दुर्दृष्टिगणं ति । कुमारेण भणियं—जुज्जइ पदमलिहितं दट्ठूण सहियाणं  
अवस्थाणुवायकरणं ति । मागिया जेण पत्तछेज्जकत्तरी । कप्पिओ य  
नागवल्लीदले रायहंसियावस्थानुरूपो वरराजहंसओ, फुडक्करा य एसा  
हियसंवादननिमित्तं गाहं ति जहा—

मरिऊण न संपत्ती पियाए कलिऊण एस वरहंसो ।

धारेइ कहं वि पाणे अणुकूलनिमित्तजोएण ॥१३॥

तओ निजशिरोधराओ ओसारिऊण विप्रा इमीए तिसमुद्दसारभूया  
पारिओसियं मुत्तावली, समपियं च नागवल्लीदलं । ईसि विहसिऊण  
भणिया य एसा, वक्तव्या तुमए कुसुमावली । जहा—अस्ति अस्माकं दंडं  
चित्तानुरागो, मुनियं तुमए इमं, विप्रायं च अग्नेहि पि ते चित्तकोसलं;  
ता पुणो एवं चैव चित्तानुरागिणो जनस्स निजचित्तकोसलाइसएणं

अथ किं पुनर्दंशनादेव जायमानापि अवस्था अनेन पुनरुक्तोपन्यासमात्रेण  
द्विपदीयण्येन सूचिता । मदनलेखया भणितम्—महाराजपुत्र ! न एसा  
स्वामिन्या सूचिता, किं तु एतदालिखितं दृष्ट्वा मया कृतमिदं द्विपदी-  
यण्यमिति । कुमारेण भणितम्—युज्यते प्रथमलिखितं दृष्ट्वा सहृदया-  
नामवस्थानुवादकरणमिति । मागिता तेन पत्रच्छेद्यकत्तरी । कल्पितश्च  
नागवल्लीदले राजहंसिकावस्थानुरूपो वरराजहंसः, स्फुटाक्षरा चैवा  
हृदयसंवादननिमित्तं गायेति । यथा—

मृत्वा न संप्राप्तिः प्रियायाः कलयित्वा एष वरहंसः ।

धारयति कथमपि प्राणान् अनुकूलनिमित्तयोगेन ॥१३॥

ततो निजशिरोधराद् अपसार्य दत्ताऽस्यास्त्विसमुद्दसारभूता पारि-  
तोपिकं भुक्तावली, समपितं च नागवल्लीदलम् । इषद् विहस्य  
भणित्वा चैवा, वक्तव्या त्वया कुसुमावली । यथा—अस्ति अस्माकं दंडं  
चित्तानुरागः तातं त्वयेदम्, विज्ञातं चास्माभिरपि ते चित्रकोशल्यम् ।  
तस्माद् पुनः पुनरेवमेव चित्तानुरागिणो जनस्य निजचित्तकोशस्थातिशयेन

आणन्दं करिञ्जासि त्ति । ततो 'जं महाराजजतो आणवेइ' ति मणि  
ऊण पणामपुण्यमं निगमाया मयणलेहा, पत्ता य कुमुमावलीसमीवं ।  
आइविखओ तीए जहावत्तो युत्तन्तो, समप्पियं नागवल्लीवत्तं, सिद्धो ।  
कुमुमावलीए वरहंसओ, वाइया य गाहा, परितुट्ठा हियएणं ॥

एवं च पददिनं मयणसरगोचरावडियज्जणमणाणन्दपारेहि विज्जा  
हरी-खवकयाय-मधुवरपमुहचित्तपओयवेसणंहि पयकुमाणाणुरायामं इत्त  
धीलेन्ति धेवदियहा, ताव राइणो पुरिसदत्तस्स पत्थणामहायं सिद्ध  
लच्छिक्कन्तनरयइणा कुमारसीहस्स कुमुमावली त्ति । निवेइयं च एवं  
पिपंकरिपाए कुमुमावलीए । जहा-

विज्जा सीहकुमारस्स सुयणु सिद्धे य बहलपुल्लपाए ।

अंगेसु परिओसो मयणो छ्व वियम्मिओ त्तिस्सा ॥१४॥

एतन्तरंमि य अत्थि निवहत्तमोहियवमहियविन्नदविज्जायं वज्जण-  
मंगलतूररयापूरियदित्तमण्डलं नच्चन्तवेसविलयायणुप्पंकवद्धतोहं सत्त  
कणमणाणन्दपारयं धोहि च नरिन्देहि कयं वद्धायणयं त्ति ।

आनन्दं करिष्यसीति । ततो 'यद् महाराजपुत्र आज्ञापयन्ति' इति  
मणित्वा प्रणामपूर्वकं निगंता मदनलेखा, प्राप्ता च कुमुमावलीसमीपम् ।  
आख्यातस्तथा यथावृत्तां वृत्तान्तः, समपितं नागवल्लीदम् । इष्टाए  
कुमुमावल्या वरहंसः, वाचिता च गाया, परितुष्टा हृदयेन ॥

एवं च प्रतिदिनं मदनसरगोचरावतितत्रनमनआनन्दकारेहि-  
घरो-खत्रवाक-मधुकरप्रमुखवित्रययोगप्रदनीः प्रवर्धमानानुरागयोयोऽ-  
त्रिकामन्ति स्तोकदिवगाः, तावद् राज्ञः पुण्यदत्तस्य प्रार्थनामहायं इत्ता  
लक्ष्मीवन्तनरयतिना कुमारसिद्धस्य कुमुमावलीति । निवेदितं वंन  
विपट्टपां कुमुमावल्याः । यथा-

इत्ता सिद्धकुमारस्य मुत्तनो ! सिष्टे च बहलपुल्लकायाः ।

अद्वेणु परितोयो मयन इव विज्जिम्मितस्तस्याः ॥१४॥

अतन्तरं च अविनिवहमोहिनाम्यधिकदत्तदविज्जायं वा-  
मानमणलतूररयापूरियदिग्गण्डलं नृपद्वेष्ट्यावनितात्रनोत्पट्ट (समूह-)  
वद्धतोऽथ सत्तत्रनमनआनन्दपारक दाइया च नरेइयाया इत्तं वद्ध  
कयकदिमि ।

१. काञ्चन य तेहि तजो वारिज्जसुहो गणाविओ दिवहो ।  
 घोसाविणं पुणो वि य अहिच्छियादाणमच्चत्थं ॥१५॥  
 पत्तंमि य तंमि दिणे ततो कुसुमावली पसत्थंमि ।  
 बन्धुजुवईहि सहिया पमवखणकए मुहुत्तंमि ॥१६॥  
 आसन्दियाए मणहरधवलदुगुल्लोत्थयाए रम्माए ।  
 ठविया पुच्चाभिमुही रंगावलिचाउरन्तंमि ॥१७॥  
 मणिपट्टयम्मि निमिया चलणा संकन्तरायसोहित्ले ।  
 तत्फंससुहासायणरसपल्लविए द्ध्व विमलम्मि ॥१८॥  
 पच्छीउत्तेण य नहमऊहपडिवन्नसलिलसङ्केण ।  
 पक्खालिउमणवज्जं निम्मविणं तीए नहयम्मं ॥१९॥  
 रत्तंसुयपरिहाणा अहिये वियसन्तवयणसययत्ता ।  
 आसन्नरविसमागमपुव्वदिसिवहु द्ध्व आरत्ता ॥२०॥  
 दुव्वंकुर-वहि-अयल्लयवावडहत्थाहि रत्तवसणाहि ।  
 जुयईहि अधिहत्थाहि विहिणा य पमक्खिया ताहि ॥२१॥

कुरवा च साम्यां ततो विवाहसुभो गणितो दिवसः ।  
 घोषितं पुनरपि च ध्येयस्तदानमत्यर्थम् ॥१५॥  
 प्राप्ते च तस्मिन् दिने ततः कुसुमावली प्रशस्ते ।  
 बन्धुजुवतिभिः सहिता प्रअक्षयकृते मूहते ॥१६॥  
 आसन्दिकाया मनोहरधवलदुकूलावस्तुताया रम्यायाम् ।  
 स्थापिता पूर्वामिमुखी रङ्गावलीचातुरन्ते ॥१७॥  
 मणिपट्टकेः स्थापितो चरणी सन्नान्तरागशोभावति ।  
 तस्पर्शसुखास्वादनरसपल्लविते ह्य विमले ॥१८॥  
 वात्सीपुत्रेण च नयमयूषप्रतिपन्नसलिलसङ्केन ।  
 प्रक्षाल्यानवध निमित्तं तस्या नयकम् ॥१९॥  
 रत्नांशुकंपरिधाना अधिक विकसद्बदनशतपत्रा ।  
 आसन्नरविसमागमपूर्वदिग्बधूरिवारत्ता ॥२०॥  
 पूर्वाङ्कुर-दध्यक्षजम्बापुत्रहस्ताभौ रत्नवसनाभिः ।  
 युष्मतिभिरविद्ययाभिर्विधिना च प्रअक्षितां तामि ॥२१॥



पुष्प-फलोदयमरिहहि कणपकत्तसेहि प्लाविया नवरं ।  
 कमिणिया सुपसत्तं सव्वंगं पुण्णयत्तेण ॥२२॥  
 विप्रा य अजलया से गुरुहि परिओसव्वहलपुलएहि ।  
 सव्वोसहिगन्धु घणकेसे उत्तमंगम्मि ॥२३॥  
 ततो वि य रासिवयणा नवर पसाहिज्जितं समाउत्ता ।  
 जाययरसेण पढमं भणहरचलणा फया तीसे ॥२४॥  
 नियकन्तिताच्छहेण य कुङ्कुमराएण जंधियाओ से ।  
 पीणे धणकलसजुए अमिलिहिया पत्तलेहाओ ॥२५॥  
 फालेयमोसचन्दणरसेण निम्मज्जियं मुहम्मलं ।  
 ब्रह्मओ ध्व साणुराओ कओ य से समयणो अहरो ॥२६॥  
 नवसरयफालयियासिधकुवल्लयदलकन्तिरायसोहिल्लं ।  
 कयमुज्जलं पि कज्जलयरज्जियं लोयणत्त जयं ॥२७॥  
 मधुमासलच्छिया इव उम्मिल्लो से मुहम्मि यरतिलओ ।  
 उपरिरइयालयावलिअलिउल्लयलएहि परियरिओ ॥२८॥

पुष्प-फलोदयभूतैः कमकनलसैः स्तपिता नवरम् ।  
 प्रोज्झिता सुप्रशस्तं सर्वाङ्गं पुष्पयस्त्रेण ॥२२॥  
 दत्ता पाशतास्तस्मा गुरुभिः परितोषमहलपुलकैः ।  
 सर्वोपधिगन्धाढ्ये धनकेशे उत्तमाङ्गे ॥२३॥  
 ततोऽपि य रासिवदना नवरं प्रसाधयितुं समारब्धा ।  
 मावक्ररसेन प्रथम मनोहरचरणी कृती तस्याः ॥२४॥  
 निजकान्तितच्छायैव य कुङ्कुमरागेण जडिधके तस्याः ।  
 पीने स्तनकलशयुग्मैर्भिलिखिताः पत्रलेखाः ॥२५॥  
 फालेयमिश्रचन्दनरसेन निर्मानित य मुराकमलम् ।  
 दपित इव साणुरागः कृतश्च तस्याः समदनाञ्छरः ॥२६॥  
 नवसरस्काटविकसितकुल्लयदलकान्तिरागशोभायत् ।  
 कृतमुज्ज्वलमपि कज्जलरज्जितं लोचनयोर्युगम् ॥२७॥  
 मधुमासलक्ष्मीरिवोन्मिलितस्तस्या मुखे वरतिलकः ।  
 उपरिरेचितालकावत्पलिकुल्लवलयैः परियरितः ॥२८॥

अहं फलसदायद्विषयसम्भवनजयाविरयरायहंसाहं ।  
 चलंगेसु पिण्डाहं मणहरमणिनेउराहं से ॥२९॥  
 नहत्तिसिमरुहसंयलियरयणसंजणियविउणसोहाहि ।  
 पडिवप्राओ मणिविडियाहि तह अंगुलीओ त्ति ॥३०॥  
 पडं च वडियहियपयं य तोए विपडे नियम्बविम्बम्मि ।  
 सुरऊतयवरतूरं निम्मलमणिमेहलादामं ॥३१॥  
 बाहुलयामूलेसुं रइयाओ जणमणवकणाओ उ ।  
 बाहुसरियाउ तोसे मयरद्वयवागुराओ एव ॥३२॥  
 यडो य धणहरोपरि मणहरयरपउमरायवल्लपडिओ ।  
 पयरो पवंगयन्धो नियम्बसंसत्तओ तह य ॥३३॥  
 मुत्ताहारो धणचद्वसंगसंजायकामराओ एव ।  
 कण्ठमवल्लम्बिऊणं नीयिं से फुत्तिउमाउत्तो ॥३४॥  
 कठम्मि विमलमणहरमोत्तिपदुसुल्लयं पिण्डं से ।  
 कुंकुमकयराएसु य सवणेसुं रयणचपकलयाओ ॥३५॥

अथ कलशान्दाकपितस्यभयनवापीरतराजहंसे ।  
 धरणयोः पिण्डे मनोहरमणिनूपुरे तस्याः ॥२९॥  
 मलशशिमयूखसंवलितरत्नसज्जनितद्विगुणसोमाभिः ।  
 प्रतिपन्ना मणियेष्टिकाभिरत्तयाऽद्भुतस्य इति ॥३०॥  
 बद्धं च दमितहृदयमिव तथा विकटे नितम्बविम्बे ।  
 सुरतोत्तमवरतूर्यं निर्मलमणिमेखलादाम ॥३१॥  
 बाहुलतामूलयो रचिता जनमनस्वोरास्तु ।  
 बाहुसरिकाः (बाहुमालाः) तस्या भकरध्वजवागुरा इव ॥३२॥  
 बद्धश्च स्तनमरोपरि मनोहरवरणधरागदलघटितः ।  
 प्रवरः प्लवङ्गबन्धो नितम्बसंसक्तः तथा च ॥३३॥  
 मुक्ताहारः स्तनचद्वसद्गसंजातकामराग इव ।  
 कण्ठमवलम्ब्य नीवी तस्या स्पृष्टुमारब्धः ॥३४॥  
 कण्ठे विमलमनोहरमोषितकदुसुल्लस्य पिण्डं तस्याः  
 कुंकुमकृतरागयोः धरणयोः रत्नचक्रलते ॥३५॥



साहिलासमवलोद्वज्जमानो पासायमालातलगयाहिं पुरमुन्दरीहिं पत्तो  
सलीलं विद्याहण्डयं ति । घरिओ य तस्स दारे वित्तेमुज्जलनेवच्छेणं  
गहियग्घसवकारेणं अम्मयाजणेणं मग्गिओ 'आयारिमयं' ति । तओ  
हरिसवमुफुल्ललोयणो जाइयवसहिय दाऊण ओइण्णो करिवराओ ।  
भग्गा य से रयणकड्डीसणाहेणं सोवण्णमुसलेण भिउडि ति । तओ  
मण्डपतलम्मि जणनिवह निरुम्मिय नीओ समागममुन्दरीहिं वरो ।

चिट्ठइ य जत्थ सियवरदुगुल्लपच्छाइयाणणा वहुया ।

सरयम्भचन्दमण्डलसंछाइयकोमुइनिसि व्व ॥३९॥

काराविओ सलीलं अविरुम्भन्ताइ कोउयाइं च ।

ता जाइओ मुहच्छविफेडावणियं च सहियाहिं ॥४०॥

तओ ईसि विहसिऊण 'ममं खेव एयं सकज्जं' ति भणिय विप्र-  
मायारिमयं । फेडिया मुहच्छवी । चिट्ठा य तेण असोयपल्लवकया-  
वयंसा ईसिवियसंस्तवयणकमला सज्जसहरिसनिम्भरा मनोहरस्स वि मण-  
हारिणं किपि तहाविहं दिव्व विलासविभ्रममनुभवन्ति कुसुमावली ति ।

साभिलासमवलोक्यमानः प्रासादमालातलगताभिः प्राप्तो सलील विद्याह-  
मण्डपमिति । धृतश्च तस्य द्वारे विधोपांज्यवनेपथ्येन गृहीतार्पमत्का-  
रेणाम्बाजनेन मागितः 'आचारिकम्' । इति ततो हर्षवशोत्फुल्ललोचनो  
पार्चित्ताभ्यधिकं दत्त्वा अवतीर्णः करिवरात् । भग्ना च तस्य रत्न-  
काञ्चीसनायनं मौवर्णमुसलेन मृकुटिरिति । ततो मण्डपतले जननिवह  
निरुध्य नीतः समागममुन्दरीभिर्वरः ।

तिष्ठति च यत्र सितथरदुकूलप्रच्छादितानना वधुका ।

शरदभ्रप्रच्छादितचन्द्रमण्डलकामुदीनिसेव ॥३९॥

कारितः सलीलमवदध्यमानानि कौतुकानि च ।

ततो पार्चितो मुखच्छविस्फोटनिका च सखीभिः ॥४०॥

तत ईयद् विहस्य 'ममैवंतत्स्वकार्यम्' इति भणित्वा दत्तमाच-  
रिमकम् । स्फोटिता मुखच्छविः । दृष्टा च तेनानोकपल्लववृताघतमा  
ईषद्विकसद्बनकमला साध्वतहर्षनिभरा मनोहरस्यापि मनोहारिण  
किमपि तदाविधं दिव्य विलासविभ्रममनुभवन्ती कुसुमावलीति ।



परिओसपयडरोमञ्चवन्दिसंघायफलियपेरन्तं ।  
 पेरन्तविरइयामलविचित्तमणितारयानिवहं ॥४८॥  
 तारयनिवहपसाहियतोरणमुहनिमियसुद्धससिलेहं ।  
 ससिलेहाविज्जोइयवित्तरसियमण्डवनहं तु ॥४९॥  
 वयलगो य सहरिसं मणिभूसणकिरणभासुरसरीरो ।  
 उदयगिरि पिव सो चाउरन्तयं दियसनाहो च्च ॥५०॥  
 कुसुमायलोए रायन्तविमलसियवरदुगुल्लवसणाए ।  
 पवियसियवयणकमलाए दिवसलच्छीए च समेओ ॥५१॥  
 धहुपाए सत्थ धूमेण वरमुहं पेच्छसु त्ति य भणन्ता ।  
 धाहत्थेवा ओणयमुहीए पाएसु से पडिया ॥५२॥

एत्यन्तरम्मि य पारदो जणाणमुबवारो । दिग्जन्ति महमहेन्त-  
 गन्धाई विलेपणाई, रण्णन्तमहुयरसणाहाई कुसुमदामाई अइसुरहिगन्ध-  
 गन्धिणो पडवासा, कप्पूरवीडयपहाणाई सम्बोलाई, दुगुल्ल-देवंगपट्ट-  
 चीण-द्वचीणाई पवरवत्थाई, केऊर-हार-कुण्डल-त्रुटितप्रमुखा आहरण-

परितोपप्रकटरोमाञ्चवन्दिसंघातकलितपर्यन्तम् ।  
 पर्यन्तविरचितामलविचित्रमणितारकानिवहम् ॥४८॥  
 तारकानिवहप्रसाधिततारणमुखस्थापितशुद्धशशिलेखम् ।  
 शशिलेखाविद्योतितविस्तारसितमण्डपनभस्तु ४९॥  
 अवलग्नश्च सहर्षं मणिभूषणकिरणभासुरसरीरः ।  
 उदयगिरिमिव स चातुरन्त दियसनाय इव ॥५०॥  
 कुसुमावल्या राजमानविमलसितवरदुकूलवसनया ।  
 प्रविकसितवदनकमलया दिवसलक्ष्म्येव समेतः ॥५१॥  
 धध्वारस्तत्र धूमेन वरमुर्ध्वं प्रेक्षस्वेतीव भणन्तः ।  
 बाष्पविन्दबोधवनतमुख्याः पादयोस्तस्याः पतिताः ॥५२॥

भग्नान्तरे य प्रारब्धो जनानामुपचारः । दीयन्ते च प्रसरद्गन्धानि  
 विलेपनानि, रचन्मधुकरसभाषानि कुसुमदामानि, अतिसुरभिगन्ध-  
 गन्धिनः पटवासाः, कर्पूरवीटकप्रधानानि ताम्बूलानि, दुकूल-देवाङ्गपट्ट-  
 चीना-द्वंचीनानि शबरवस्त्राणि केमूर-हार-कुण्डल-त्रुटितप्रमुखा आहरण-



सलाहणिञ्जं विसयगुहमनुहवन्ताणं अद्वयन्ता अणेगे वरिसलक्षणा ।  
अथवा य आसपरियाहणनिमित्तं गण्ण कुमारसीहेण विट्ठो नागदेयुज्जाणे  
बहुकासुए पएसे अणेयसमणपरियारिओ क्षमा-मद्वय-ज्जय-मुत्ति-तव-  
सज्जम-सच्च-सोपा-किञ्चन-यम्मचेरगुणनिही पढमजोव्वणस्यो रुवाइ-  
गुणयुतो संपुण्णदुयालसंगो ससिस्ताण सुत्तस्स अत्य कहेमाणो धम्मघोसो  
नाम आयरिओ सि । तओ तं वट्ठूण त पइ अईय बहुमाणो जाओ ।  
चिंतिपं य जेण । धम्मो ए एसो, ओ संसारविरत्तभायां सयलमंगचाई  
परमपरोव्वारनिरओ एवं वट्ठइ ति । ता गत्तूण एयस्स समीयं पुच्छामि  
एयं-किं पुण इमस्स भणोहवलीलयसमयवासिणा निव्वयकारण जहाड्डिय  
य पुणजसकुलं य संसारं ति । तओ दूराओ चेव ओयरिऊण अच्चयोह्ला-  
ह्किंसीराओ गओ तस्स समाय । पणामओ य धम्मघोसा । अहिणग्धिओ  
य भगवया धम्मलाहेण । तओ यन्दिरूण सेससाहुणो भत्तिनिम्भरमुद-  
विट्ठो सहावसुन्दरे गुदणो पायमूले । निव्वड्डियसवगसार पुच्छिओ य जण  
भयव धम्मघासो । भयव ! किं तं सयलगुणसपयाकुलहरस्स वि ईइसो  
निव्वेओ, जेण इमं भयाले चेव समणत्तण पाइवणो सि । । तओ भयवया

स्लाधानीय विषयसुखमनुभवतोऽतक्रान्ता अनक वयलक्षाः । अन्यदा  
चादवपारवाहानामित्त भतन कुमारीसहन इट्ठा नागदवाचान बहु-  
प्रासुक प्रदशज्जकश्रमणपरिवारतः क्षमा-मादवा-ज्जव-मुत्त-तप-  
सयम-सत्य-दाचा-आकञ्चन्य-अहचयगुणनिधः प्रथमयोवनस्था रूपादि-  
गुणयुक्तः संपूणद्वादशाङ्गा स्वाश्रम्य्य सुत्राणामथ कथयन् धर्मवापा  
नामावाय इति । ततस्त इट्ठ्वा त प्रात अताव बहुमाना जातः ।  
चिन्तत तन-धन्यः सत्त्वपः, यः संसारविरक्तभावः सकलसङ्गत्यागी  
परमपरापकारानरुत एव वतत इति । तस्माद् गत्वा एतस्य समाप  
पुच्छाम एतत्-किं पुनरस्य मनाभवलीलतसमय वातना निवदकारण  
येयास्थत च दु.ससकुल च संसारामात । ततो दूरादव अवताय  
आत्यस्वाकशाराद् गतः तस्य समापम् । प्रणतश्च धमघापः । अमि-  
मान्दसश्च भगवता धमलाभन । ततो बान्दत्वा यपसाधून् भक्तिनिभर-  
मुपावष्टः स्वभाषमुन्दर गुरा. पादमूले । निर्वीततसवगसार पृष्टश्च तन  
भगवान् धमघापः । भववन् किं तं सकलगुणसपत्कुलगूहस्याप इदं  
निबदः, यतदमकाल एव श्रमणस्व. प्रातपद्याजि । । ततो भयवता



भणियं-भो महासायय ! नस्ति इदानीमयालो सामग्यस्त । किं  
 पश्यद्व अयाते निज्जिवगुरागुरो समलमणोरहसोत्तवज्जातणी पियद-  
 विओएकरपरमहेऊ विबुधजनसंवेगवदुणो मच्छु त्ति । अन्नं च-मा-  
 सायय ! सोहणमायाआ धरमकाले । यज्ज सोवज्जइ धम्मो, सो विर-  
 पढम पियजुत्तो ? । राइणा भणियं-भयय ! भो अजुत्तो, किं  
 मानमित्तो नित्येओ त्ति निव्वेयकारणं पुच्छामि । भययया भाय-  
 संसारो येय निव्वेयकारण, तहवि पुणो पित्तसओ ओहिनाणियचरि-  
 कहण त्ति । राइणा भणियं-भयय ! केरिसं ओहिनाणिनिजचरि-  
 कहण त्ति ? । भययया भणियं । सुण-

अस्ति इहेय विजए रायउर नाम नगरं । तन्निवासी अहं भवत्त-  
 वओ येव तद्विरत्तमणो जिह्वाणि जाय, आगओ अणयसमणसामी देवी  
 यहुप्पन्नाहिनाणोवल्लदुप्पणपायो अमरगुत्तो नाम आचारिओ त्ति । जाओ  
 य लोए जायमाओ 'अहो अयं महात्तयस्सी दरीणात्तयदारो समुत्प-  
 ओहिनाणनयणो जहाहुमधम्मदेसणाल्लिखत्तपत्तो' त्ति । तओ तत्तमा  
 सामा आरम्भणो नाम राया, अओ य नयरजनयओ निगओ तह

भणितम्-भो महाश्रावक ! नास्ति इदानीमकालः आमप्यस्य । किं  
 प्रभवति अकाले निजितमुरागुरः सकलमनोरभर्त्तलवज्जातनिः प्रियजन-  
 विमोर्गकपरमहेतुविबुधजनसंवेगवर्धन । मृत्युरिति । अन्यच्च-महाश्रावक !  
 शोभनभावात् धरमकालेऽपि यदि सेध्यत धर्मः, स एव प्रथम किम-  
 युक्तो ? । राणा भणित-भगवन् ! नायुक्तः, किंतु नाऽनिमित्तो निर्व-  
 हत । निर्वेदकारणं पुच्छामि । भगवता भणितम्-वसार् एव निर्वेद-  
 कारणम्, तदाऽपि पुनावक्ष्यतां अवाधितानिनिजचरित्रकथनमिति । राणा  
 भणितम्-भगवन् ! कीदृशमवाधितानिनिजचरित्रकथनम् ? । भगवता  
 भणितम् । शृणु-

अस्ति इहैव विजये राजपुर नाम नगरम् । तन्निवात्यहं भव-  
 स्मरूपत एव तद्विरत्तमना । तिष्ठामि यावत्, आगतोज्जेकधमणस्वामी  
 स्वाकर्त्तव्यतावन्नावाधितानोपलब्धपुष्पपापः अमरगुप्तो नाम आचार्य-  
 इति । जातश्च लोके लोकवादः 'अहो अयं महात्तयस्वी दरीणात्तयद्वि-  
 समुत्पन्नावधिताननयणो यमात्स्यतधम्मदेसणाल्लिखत्तपत्तः' इति । ततस्त-  
 त्तराज्यामी आरम्भणो नाम राजा, अन्यच्च अमरजनपदो निर्गन्तः तस्य

वन्दनवर्षिणा, संपत्तो से पापमृत । वन्दितो भयवं नरपद्मा नयरजपाण्य  
य । अहिणन्दितो य धम्मलाहेण भयवया नरवर्द्ध नयरजण्यओ ॥ गुरु-  
वपणयदुमाणमहर्घो अहाप्तासुए धरणयिद्धे राया नयरजणवओ य ।  
पुच्छिओ य भयवं अहाविहार राइणा । अणुसासितो य तेण । राइणा  
भणियं-भयवं ! संपन्न ते भूयमवित्तयत्तमाणत्यगाहण ओहिताण । ता  
करेहि मे अनुगहं । आइवत्त निययचरिय, कया कह वा भयवया संपत्तं  
सासयत्तियसोत्तपायवेक्कवीय सम्मत्त, देसविरई वा, इह मत्तमवेसु वा  
सामणं ति । भयवया भणिय । सुण-

अरिय इहेव विजए चम्पायासं नाम नगर । सत्पाईयत्तमयम्मि  
सुधणू नाम गाहायई होत्या, तत्स चारिणी धनसिरी नाम, ताभ य  
सोमाभहाणा अह सुया आसि । सपत्तजोण्यणा य दिग्गा तन्नपरनिवा-  
सिणी नन्दसायवाहपुत्तस्स रुद्धेवस्स । कओ य जेण यियाहो । बहानु-  
क्कं वित्तमसुहमणुहयामो ति । जाय सत्य अहाकप्पविहारेण विहरमाणा  
विपिट्तवत्तविमदहा सुयरमणपसाहिया कयि म्य सासनदेवया समागया

रघनवृत्तितया, संप्राप्तस्य पादमूलम् । वन्दितो भगवान् नरपतिना  
नगरजनपदन च । अभिनन्दितश्च धर्मलाभन भगवता नरपतिः, नगर-  
जनपदश्च । उपविष्टश्च गुरुवचनबहुमानमहार्घो यथाप्राप्तुके धरणी-  
पृष्ठे राजा नगरजनपदश्च । पृष्टश्च भगवान् यथा विहार राजा ।  
अनुशिष्टस्तेन । राजा भणितम्-भगवन् ! सपन्न ते भूतमविप्यद्वर्त-  
मानायंप्राहकमवधिज्ञानम् । ततः कुरु म अनुग्रहम् । आचक्ष्व निजक-  
परितम्, कदा कथ वा भगवता संप्राप्तं शास्वतशिवसौख्यपादपंकवीज  
सम्पत्त्वम्, देशविरतिर्वा, इहान्यभवेपु वा ध्यामण्यम्-इति ? । भगवता  
भणितम् । शृणु-

अस्ति इहेव विजये चम्पावास नाम नगरम् । तत्रातीतसमये  
सुधन्वा नाम गाथापतिरासीत्, तस्य गृहिणी धनश्रीर्नाम, तयोश्च सोमा-  
भिधानाद्भु सुताभ्यसम् । संप्राप्तयोचना च दत्ता तन्नपरनिवासिने नन्द-  
सार्यवाहपुत्राय रुद्धेवाय । कृतश्च तेन विवाहः । यथाऽनुरूप विषय-  
सुखमनुभवाव । इति । यावत् तत्र यथाकल्पविहारेण विहरन्ती विविध-  
रूपः क्षापितदेहा भुत्तजनमसाधिता रूपिणीव शासनदेवता

बालचन्द्रा नाम गणिनि ति । विष्ठा य सा मए समुरकुलाओ माइकुल-  
 महिगच्छन्तीए विहारनिगमपएसे । तं च मे वट्ठूण समुप्पन्नो पमोओ,  
 यियसिपं लोयणेहि, पणहुं पावेण, ऊतसियमंगोह, यियम्मियं धम्म-  
 चित्तेण । तओ मए गाइदूरओ चेय विणयरइयकरयलज्जलीए सबहुं-  
 मानमभियन्दिता भयवई । तीए वि य विन्नो सयलमुहुत्ता योयमूओ  
 धम्मलामो ति । जायाओ य मे त पइ अईय भातिपाइओ । पुच्छिओ  
 य मए भयवईए पडिस्सओ, साहिओ साहुणीहि । तओ अह जहाचिएण  
 विहिणा पज्जुयात्तउ पयत्ता । साहिओ म भयवईए कम्मयणदावानलो  
 पुबलसेलवज्जासणी । तयमुहफलकप्पपाययो योयरामदेसिओ धम्मो । तओ  
 कम्मपलओयसमभावओ पत्तं सम्मत, भायिओ जिणदेसिओ धम्मो,  
 विरत्त च मे भवचारयाओ चित्तं । तओ य सो रुद्धेयो कम्मदोसेण  
 पओत्त काउमारद्धा । भाणियं च तेण । परिच्चय एय विसयमुहविघ-  
 कारिणं धम्म । तओ मए भणिय । अलं विसयमुहहि । अइच्चच्चत्ता  
 जीवलीयोठइ, दारुणो य विवाओ विसयपमायत्ता । तण भणिय-विपा-  
 ॥ रया तुम, मा इहुं पारिच्चइय आइहुं रइ करेहि । मए भाणियं-  
 बालचन्द्रा नाम गणिनीति । इष्टा च सा मया स्वसुरकुलाद् मातृकुल-  
 मभिगच्छन्त्या विहारानिगमप्रदक्ष । ता च मम इष्ट्या समुत्पन्नः प्रनादः,  
 विकसित लोचनाभ्या, प्रनष्ट पापेन, उच्छ्रवासात्तमद्गः, विजृम्भत  
 चित्तेन । ततो मया नागदूरत एव विनयराचितकरतलाञ्जल्या सबहुं-  
 मानमभिवन्दिता भगवती । तयाऽपि च दत्तः सकलमुखसत्यबीजभूतो  
 धर्मलाभ इति । जाताश्च मे ता प्रति अतीवभावतप्रातयः । पृष्टश्च  
 मया भगवत्याः प्रतिभवः । कथितः साम्प्रानिः । तताऽह यमाचतेन  
 विधिना पर्युपास्तितु प्रवृत्ता । कथितश्च मया भगवत्या कमेवनदावानलो  
 दुःखसंलवज्जाशानः शिवमुलफलकल्पपादपा बीतरामदर्शितो धमः । ततः  
 कमेधपोपशमभावतः प्राप्त सम्यक्त्वम्, भाविता जिनदीप्तता धमः;  
 विरत्त च मे भवचारकात् चित्तम् । ततश्च स रुद्धवः कमेदोपेण प्रदूष  
 कर्तुमारब्धः । भाणित च तेन-परित्यज एत विषयगुप्तविघ्नकारिणं  
 धमम् । ततो मया भाणितम्-अलं विषयमुखः, अविचञ्चला जीवलोक-  
 दारुणश्च विपाका विषयप्रमादस्य । तेन भाणितम्-विप्र-  
 त्वम्, मा इष्ट पारित्यज्य अदृष्ट संतमकापीः । मया भाणितम्-

किमेत्य दिदुं नाय ? पशुगणसाधारणा इमे विसया, पञ्चवक्षोवलम्ब-  
माणसुहृदो ॥ कर्हं अदिदुो धम्मो ति ? । तओ सो एवमहिलप्पमाणो  
अहियथरं पओसमावओ । परिच्चत्तो य तेण मए सह संभोगो । वरिया  
य नागदेवाभिहाणस्स मत्थवाहस्स धूया नायसिरी नाम कज्जगा, न सपा-  
इया तापवहुमाणेणं नागदेवसत्थवाहेण । रुद्धदेवेण चिन्तियं । न एयाए  
जीवमाणेए अहं दारियं लहामि, ता वावएमि एय । तओ मायाचरिएण  
कहिंचि घडयमासीविसं काऊण संठविओ एगदेमे घडओ । अइवकन्ते  
पओससमए संपसे य कामिणिजणसमागमकाले भणिया ह तेण । उय-  
णेहि मे इमाओ नवघडाओ कुसुममालं ति । तओ अहं तस्स मायाचरि-  
पमणवज्जमाणा गया घडसमीवं । अवणीय तस्स दुवारडक्कणं धरणि-  
माउल्लिगं । तओ हत्थं छोदूण गहिओ भुयंगो । डक्का अहं तेण । तओ  
तं ससंभमं उज्झिऊण सज्जसभयवेविरंगी समल्लीणा तस्स समीयं ।  
'डक्का भुयंगमेणं' ति सिदुं रुद्धदेवस्स । निपडोपहाणओ य आउलीहओ  
रुद्धेवो । पारडो तेण निरत्थओ चेय कोलाहलो । एत्थन्तरम्मि य  
सीइयं मे अंगेहि, विचलियं सन्धीहि, उड्वत्तियं पिव हिएएणं, भभिय पिव

किमत्र दृष्टं नाम ? पशुगणसाधारणा इमे विषयाः, प्रत्यक्षोपलभ्यमान-  
सुहृदोऽप्येव कथमदृष्टो धर्मः—इति ? ततः स एवमहिलप्पमानोऽधिक-  
तरं प्रद्वेषमापन्नः परित्यक्तश्च तेन मया सह संभोगः । वृत्ता च नागदेवा-  
भिधानस्य सार्यवाहस्य दुहिता नागश्रीनाम कन्यका, न सपादिता तात-  
बहुमानेन नागदेवसार्यवाहेन । रुद्धदेवेन चिन्तितम्—न एतस्या जीवन्त्या-  
महं दारिकां लभे । ततो व्यापादयामि एताम् । ततो मायाचरितेन कथ-  
चिद् घटगतमासीवियं कृत्वा सस्थापित एकदेशे घटकः । अतिक्रान्ते च  
प्रदोषसमये संप्राप्ते च कामिनीजनसमागमकाले भणिताऽहं तेन । उप-  
नय मामस्माद् नवघटात् कुसुममालामिति । ततोऽहं तस्य मायाचरित-  
मनबुध्यमाना गता घटसमीपम् । अपनीत तस्य द्वारच्छादनं धरणी-  
मातुलिङ्गम् । ततो हस्तं क्षिप्त्वा गृहीतो भुजङ्गः । दृष्टाऽहं तेन ।  
ततस्तं ससंभ्रममुज्झत्वा साध्वसमयवेपमानाङ्गी समालीना तस्य समी-  
पम् । 'दृष्टा भुजङ्गमेन' इति शिष्टं रुद्धदेवस्य । निकृतिप्रधानवद्व-  
भानुलीभूतो रुद्धदेवः । प्रारब्धस्तेन निरर्थक एव कोलाहलः । अत्रान्तरे  
च सप्तं मेऽङ्गं, विचलितं मृन्निभं, उड्वत्तितमिव हृदयेन, भ्रान्त्या

पातायन्तरेण, परिवर्तितं पिय पुहवीए, भवता अहं निवर्तित  
 धरनिचट्टे । अत्रो परमणाचिपराणायमवत्यन्तरं पाविऊण पुम्भताम्मा  
 पुमावओ छइऊण देहं सोहम्मे कप्पे लीलायसंताए वरविमाणे पत्तिओ  
 यमद्विई वेंयताए उयवन्नो मिह । तत्तय य पवरच्छरापरिणओ दिव्ने भोए  
 उयमुञ्जामि जाव, रुद्धेवो वि त नागदत्तसत्ययाहधुय परिणीय ताए  
 तादि जहाणुदये भोए उयमुञ्जिऊण कालमाते काल काऊण रमणप्प-  
 भाए पुदयोंए सट्टकलडाभिहाणे नरए पत्तिओयमाऊ खेय नारणो उद-  
 यन्नो ति । तत्रो अहं अहाउय अणुपालिऊण धुओ समाणो इहेय विनए  
 सुगुमारे रणो सुगुमारगिरिम्मि हत्थित्ताए उयवन्नो, तापत्तो य कल-  
 धगावत्थं । एत्थन्तरम्मि य इयरो वि नरपाओ उयद्विऊण तम्मि खेय  
 गिरियरे मुणपत्तिताए उयवन्नो ति । अदरत्ततो य तिसुमारं, विट्ठो य  
 अहं तेण तम्मि खेय गिरिवरे सहावरमणोंएणु मलयणेणु करेणुसथाय-  
 परिणओ तालोऽ परिममत्तो ति । तत्रो य रुद्धूण पुम्भमयमाताओ  
 उरुद्धकम्मोइपाओ य तामुप्पन्नो ममोवरि वेरपरिणामो । चित्तिय य  
 तेण-वह पुण एत कुञ्जरो इमाओ भोगगुहाओ वज्जियमवो ति

आगाराउरण, परिवर्तितमिव पुविध्या, भवताऽहं निवर्तित धरणी  
 पुष्ट । अत्र परमणाच्येवमवस्था-तरप्राप्त्यपुनस्तम्भयः शनुमावतरत्यक्वा  
 रुद्धादभेदस्य ला-लावनभके वरविमान व-पागमस्वित्तरेवःवन उय-  
 यमाऽन्तम । तत्र य प्राराण्यपरिणता दिव्यानि मागानुपमुञ्जत यावद-  
 रुद्धराजित ता नागदत्तगायवद्विद्विद्वर परिणाय तया तादि यथाः  
 यतः भागानुपमुञ्ज कालमात्रेण तादृशा रत्नत्रयाया पुविध्या सट्ट  
 कलमात्रेण नरक व-पागमपुनरव नारक उपायन इति । तत्राह यथा-  
 सुगुमारस्य कपुट एतु रुद्धराजित सुगुमार नरक सुगुमारगिरि  
 हान्य वनागत्र नरक-नरक कल्पमन्त्रावय म् । अत्रान्तर य इतराऽत्र  
 नरक-पुष्टुत्तरादीन्मन्त्रागिरिवरगुह्याति-वनागत्र इति । अत्रिक्तानुभव  
 तिष्ठन् रुद्धराजितवनश्रमद्विगिरिवरकवमःवरमगायपुन (४) रुद्ध-  
 नेतु-रुद्धराजितवनश्रमद्विगिरिवरकवमःवरमगायपुन (४) रुद्ध-  
 राजितवनश्रमद्विगिरिवरकवमःवरमगायपुन (४) रुद्ध-  
 राजितवनश्रमद्विगिरिवरकवमःवरमगायपुन (४) रुद्ध-

उवाच गवेसिउमारद्वो । अत्रया लीलारई नाम विञ्जाहरो, सो भिमञ्जु-  
 सेणस्त विञ्जाहरस्त भद्राणि चन्दलेहाभिर्हाणि अवहरिऊण तम्मएण-  
 वागओ तमुद्देसं । भणिआं य तेण सो सुगो-अह एत्थ गिरिनिगुञ्जे  
 चिट्ठामि; आगमिस्सइ य एत्थ एगो विञ्जाहरो, तओ न तुमए तस्त  
 अह साहियव्वो गओ य सो मम साहियव्वो, तओ ते किंचि पडिहव-  
 भुवयार करिस्सामि, एव कए सुट्ठ मे उवकय ति जपिऊणमोहणो  
 विपडतडामोसट्ठिय गिरिनिगुञ्ज । इयरो वि तम्मि चेवुद्देसे नारग-  
 पायवसाहागए नीडे चिट्ठइ, जाव आमन्तुण गओ भिमञ्जुसेणा । एत्थ-  
 न्तरम्मि य करेणुपरिगओ अहं आगओ तमुद्देसं । तओ मं वट्ठूणं चिन्तिय  
 सुगेण-अत्थि इयाणि अवसरो मे समीहियस्स । तओ निपडिबहुलेण  
 सजायाए सहाभिमन्तिऊण मम सवणपोयरे भणियं-सुन्दरि ! सुय  
 मए भयवओ वसिट्ठमहरिस्सिस्स समीवे, जहा इहं सुमुमारपव्वए सव्व-  
 कामिय नाम पडणमत्थि; जो ज अभिलसिऊण पडइ, सो तवण्णेण  
 वेव तं पावइ ति । तओ मए पुच्छियं-भयव ! काहि पुण तमुद्देसं !  
 तेण साहियं-जहा इमस्स सालतरुवरस्स वामपासेण ति । ता अलं

उपायान् गवेपयितुमारब्धः । अन्यदा लीलारतिर्नाम विद्याधरः, ॥ मुगा-  
 ङ्कुसेनस्य विद्याधरस्य भगिनी चन्द्रलंक्षाभिधानामपहृत्य तद्भूपेनैवाग-  
 तस्तमुद्देशम् । भणितश्च तेन स शुकः-भद्रमत्र गिरिनिगुञ्जे तिष्ठामि;  
 आगमिष्याति चात्र एको विद्याधरः, तदा न त्वया तस्याहं कथयितव्यः,  
 ततस्ते किञ्चित्प्रतिरूपमुपकारं करिष्यामि, एव कृते सुष्टु मम उप-  
 कृतमिति कथयित्वा अवतार्यो विकटतटाभोगसंस्थितं गिरानिगुञ्जम् ।  
 इतरोऽपि तस्मिन् एव उद्देशे नारङ्गपादपद्यास्वागते नीडे तिष्ठति, मा-  
 दागत्य गतो मुगाङ्कुसेनः । अत्रान्तरे च करेणुपरिगतोऽहं आगतस्तमु-  
 देशम् । ततो मा दृष्ट्वा चिन्तितं शुकेन-अस्ति इदानीमवसरो मे समी-  
 हितस्य । ततो निकृतिबहुलेन त्वजायया सहाभिमन्त्य मम श्रवण-  
 गाचरे भणितम्-सुन्दरि ! श्रुतमया भगवतो वशिष्ठमहर्षेः समीपे, यथा  
 इह मुमुमारपवते सर्वकामितं नाम पतनमस्ति; यो यदभिलष्य पतति, ॥  
 तत्क्षणमेव तत्प्राप्नोति इति । ततो मया पृष्ठम्-भयवन् ! नव पुनः स  
 उद्देशः ? तेन कथितम्-यथाऽस्य सालतरुवरस्य वामपाद्वर्णेति । ततोऽहं

इमिणा तिरियभावेण, एहि, विज्जाहरपणिहाणं काऊणं तहि निज्जामो ।  
 पट्टिसुय च मे इम जायाए । गयाइं तमुद्देगं, कज्जो पणिहो, निज्जिपाई  
 गिरिनिगुञ्जे, साहिंयं लीलारत्तं । तमुत्पन्नो य सह चन्दलेहाए गगन-  
 यलमलकरेत्तो लीलारत्तं । विट्ठो य अम्हेहि । तमुत्पन्ना मे चिन्ता-अहो  
 सध्वकामियपट्ठणाणभावो, जमेयं गुणमिट्ठणय कयविज्जाहरपणिहाणमिह  
 नियज्जिऊण तवण्णया नेय विज्जाहरमिट्ठणय जाय । ता अलं अम्हाणं वि  
 इमिणा तिरियभावेण । तओ देवपणिहि काऊण निज्जामो एत्थ अम्हे  
 वि ति । एव च सपहारिऊण पणिहि काऊण निज्जिया ताय अम्हे ।  
 एत्थन्तरम्मि य उत्पट्ठयं गुणमिट्ठणय, न लविणयमम्हेहि । तओ संचुण्णि-  
 यंगोवगो अह किलेसमणुहविऊण अकामनिज्जराए कम्मं लविऊण उव-  
 वन्नो कुसुमतोहराभिहाणं वतरमोम्मनपरे वेगूणपलिओवमाऊ वतरो ति ।  
 ताय य उदारे भोए भुञ्जामि जाय, इयरो वि सुयत्ताए मरिऊण रमणय-  
 भाए चेष पुडयोए लोहियमुहाभिहाणं नरए तमुत्पन्नो देवूणपलिओवमट्ठिई  
 नारणो ति । तओ अह अहाउयमणुपालिऊण चुओ समाणो एत्थ चेष विदेहे  
 भन्नम्मि विज्जाए चक्कवालउरे नयरे अप्पट्ठित्यचक्कत्त सत्थवाहत्त  
 अनेन तिर्यंगभावेण, एहि, विद्याधरप्रणिधानं कृत्वा तत्र निपतायः ।  
 प्रविशुतं च मे इद जायया । गतो तमुद्देशम्, ततः निपतितो गिरिनि-  
 गुञ्जे, कथित लीलारत्तः । तमुत्पतितश्च सह चन्दलेखया गगनतन्मलं-  
 कुर्वन् लीलारत्तः । इष्टस्वावाभ्याम् तमुत्पन्ना मे चिन्ता-अहो !  
 सर्वकामितपतनानुभावः, यदेकं शुक्रमिथुनं कृतविद्याधरप्रणिधानमिह  
 निपत्य तत्क्षणदेव विद्याधरमिथुनकं जातम् । ततोऽलम् आवयोरपि अनेन  
 तिर्यंगभावेण । ततो देवप्रणिधिं कृत्वा निपताय अत्र आवागमीति ।  
 एव च सप्रधायं प्रणिधिं कृत्वा निपतितो तत्रावाम् । अत्रान्तरे च उत्प-  
 तितं शुक्रमिथुनम्, न लक्षितमावाभ्याम् । ततः सचूणिताङ्गोपाङ्गोऽहं  
 क्लेशमनुभूय अकामनिज्जरेया कम्मं सपयित्वा उपपन्नः कुसुमसंखरा-  
 मिधाने व्यन्तरमोमनगरे देशोनपत्योपमायुष्यन्तरं इति । तत्र चोदा-  
 रान् भोगान् भुञ्जे मावत्, इतरोऽपि शुकतया मृत्वा रत्नप्रभावा-  
 मेव पृथिव्या लोहितमुसाभिधाने नरकं तमुत्पन्नो देशोनपत्योपम-  
 तिथितिनारक इति । ततोऽहं यथायुष्मन्नुपान्य च्युतः सन् अत्रैव विदेहे  
 न्यत्स्मिन् विजये चक्कवालपुरे नगरे अत्रतिहितम् ।

पुनर्गताए भारियाए कुञ्चिसि पुत्तताए उववत्तो ति । जाओ य उप्पिय-  
समएण, पइद्वावियं च मे नामं चवकदेवो, पत्तो य वालिभायं । एत्थस्त-  
रम्मि य सो भुयनारगो नरगाओ उच्चट्टिऊण तत्थ चेव नगरे सोमसम्मस्त  
निपपुरोहित्यस्त नन्दियद्वणाभिहाणाए भारियाए कुञ्चिसि पुत्तताए  
उववत्तो, ति, जाओ य कालयकमेणं, पइद्वावियं च मे नामं जप्पदेवो,  
पत्तो य कुमारभायं । एत्थन्तरम्मि य जाया मम तेण सह पीई सद्भा-  
वो, तस्त उण कइयवेणं । तओ पुब्बभवसम्मत्यकम्मवोत्तेणं उज्जुयस्त  
अणुज्जुओ मम संपयामच्छरी वञ्चनाल्लेण छिट्ठाई गवेसिउमारदो ।  
अल्लहमाणेण य परिचिन्तियमणेण—न एसो एवं छलितं पारियइ, ता  
एत एत्थ उवाओ । चन्दनसत्थवाहगेहं मूत्तिऊण एयस्त गेहे रिक्खं  
मुयामि, पच्छा य केणइ उवाएणं निवेइऊण राइणो संपयाओ भंस-  
इस्तं ति । अनुचिट्ठियं च नेण जहाचिन्तियं । उवणेऊण य मे गेहे रिक्खं  
भणियमणेण—वयंस । एवं वयत्तेण संगोवावेसु ति । मए विव भकाला-  
णपणजायसद्धेण अनिच्छमाणेणापि एयस्त दविसण्णवहुत्तयाए संगोवियं  
ति । पवत्तो य नगरे जनरवो, जहा मुट्ठं चन्दनसत्थवाहगेहं ति ।

पुमइगलायाः भार्यायाः कुक्षी पुत्रत्योपपन्न इति । जातश्च उचितसम-  
येन, प्रतिष्ठापितं च मे नाम चक्रदेवः, प्राप्तश्च वालिभावम् । अत्रान्तरे च  
स चुकनारको नरकादुद्भवस्त तत्रैव नगरे सोमसमंशो नृपपुरोहितस्त्य नन्दि-  
वर्धनाभिधानायाः भार्यायाः कुक्षी पुत्रत्वेनोपपन्न इति, जातश्च कालक्रमेण ।  
प्रतिष्ठापितं च तस्य नाम यज्ञदेवः । प्राप्तश्च कुमारभावम्, अत्रान्तरे  
च जाता मम तेन सह प्रीतिः सद्भावतः, तस्य पुनः कंतवेन । ततः पूर्व-  
ववाभ्यस्तकर्मदोषेण शृङ्खलस्यापि अनुज्जुको मम संपन्मत्तरी वञ्चना-  
ल्लेण छिट्ठाणि गवेपयिनुमात्स्वः । अलभमानेन च परिचिन्तितमनेन—  
न एष एव छलितुं पार्यंते, तत एषोऽत्र उपायः । चन्दनसायंवाहगृहं मूयित्वा  
एतस्य गृहे रिक्खं भुञ्चामि, पश्चात्केनचिदुपायेन निवेद्य राज्ञः सपदः  
भ्रंसयिष्ये इति । अनुष्ठितं च तेन यथाचिन्तितम् । उपनीय च मे गेहे  
रिक्खं भणितमनेन—वयस्य । एतत् प्रयत्नेन संगोपयेति । मयाऽपि च  
भकालानयनजातपाद्वेन अनिच्छताऽपि एतस्य दासिष्यबहुत्तया समो-  
पितमिति । यमुत्तश्च मगरे जनरवः, यया मुट्ठं चन्दनसायंवाहगेहमिति ।





भगवते अञ्जो । यज्ञदेवेण भगिर्य-देव । सुगो-भुयं मए चक्र-  
देव सप्रपरिण्याओ, जहा इमं चन्दनसत्यवाहगेहं चक्रदेवेण मुहुः, सगो-  
वियं रित्यं नियमगेहे । एवं सोऊण देवो पमाणं ति । राइणा भगिर्य-  
अञ्ज । असंभावनिज्जमेयं, कुलप्पसुओ बलु सो, ता कह इमं अच्चन्त-  
विहदं करिस्सइ । यज्ञदेवेण भगिर्य-देव । नत्थि अज्ञानलोभवसगान-  
मसंभावनिज्जं । को य दोसो कुलस्स, किं न हवन्ति सुरभिकुसुमेसु  
किमिओ । ता निरुपावेहि ताव केणइ पयारेण तस्स मेहं ति । तओ  
'सुत्तमेयं' ति चिन्तिऊण समाणसं चण्डसासणेण करणं । भणिमा य  
कारणिमा-नयरमहन्तगेहि सह पेसूण चन्दनसत्यवाहमण्डारियं पलोएह  
चक्रदेवस्स गेहे तं पण्डु' रित्यं ति । तओ 'किमेइणा असंभावनिज्जमेयं,  
महंया आएसगारिणो अन्हे' ति मन्तिऊण, मेलयिष नयरमहन्तगे पेसूण  
चन्दनसत्यवाहमण्डारियं आममेत्ते वामरे समागया ये गेहं पहाणनयर-  
कणाहिट्ठिमा कारणिमस्ति । पुच्छिओ य तेहि अह-सत्यवाहपुत्त । न  
ते किञ्चि केणइ एवंजाइयं रित्यं संभवहारपटिपाए उवणीयं ति । तओ  
मए 'असंभावसऊणे भणिय-नहि नहि' ति । तेहि भणियं-न तए

भणतु आर्यः । यज्ञदेवेन भणितम्-देव । शृणु । धृत मया चक्रदेवासन्न-  
परिजनात्, यथेदं चन्दनसार्धवाहगेहं चक्रदेवेन मुष्टम्, सगोपित । रित्यं  
निजकरोहे । एवं धृत्वा देवः प्रमाणमिति । राज्ञा भणितम्-आर्यः ।  
असंभावनीयमेतद्, कुलप्रसूतः सलु सः, ततः कथमिदमत्यन्तविहदं करि-  
ष्यति । यज्ञदेवेन भणितम्-देव । नास्ति अज्ञानलोभवसगानामसंभा-  
वनीयम् । कश्च दोषः कुलस्य, किं न भवन्ति सुरभिकुसुमेषु क्रमयः ?  
ततो निरूपय तावत्केनचित्प्रकारेण तस्य गेहमिति । ततो 'युक्तमेतत् ।  
इति चिन्तयित्वा समाज्जप्तं चण्डसासनेन करणम् । भणित्वाश्च कार-  
णिकाः-नगरमहद्भिः सह गृहीत्वा चन्दनसार्धवाहमाण्डागारिणं प्रसोक-  
यत् चक्रदेवस्य गृहे तत्प्रनष्टं रित्यमिति । ततः 'किमेतेनासंभावनीयेन,  
अथवा आदेशकारिणो वमम्' इति मन्त्रयित्वा मेलयित्वा नयरमहत्तो  
गृहीत्वा चन्दनसार्धवाहमाण्डागारिकं वाममाने वासरे समागता मम गेहं  
प्रधाननगरवनाधिष्ठिताः कारणिका इति । पुष्टश्च तैरहम्-सार्धवाहपुत्र ।  
न ते किञ्चित् केनचिद् एवंजातिकं रित्यं संभवहारपटितया उपनीत-  
मिति । ततो मयप्रज्ञावशक्येन भणितम्-'नहि नहि' इति । संभणितम्-

कुप्यप्यर्थः; रायसासनमिर्णं, जं ते गेहमवलोकयित्वं त्ति । मए भणियं-  
 न एत्थ अवसरो कोवस्स, पयापरिरवत्तणनिमित्तं समारम्भो वेवस्स ।  
 ततो पयिट्ठा मे गेहं सह नगरवृद्धेहि रायपुरिसा । अवलोदयं च तेहि  
 भाणापयारं द्रविणजायं, विट्ठं च पयत्तट्ठायियं चन्दणनामज्झियं हिरण्य-  
 घासणं, नीणियं याहि, दंसियं चन्दणमण्डारियस्स । अवलोदकण सडु-  
 व्वामिय भणियं च तेण-अणुहरइ ताव एयं, न उण निस्संसयं विदा-  
 णामि त्ति । कारणएहि भणियं-याएहि ताव अयहरियनिवेयणापत्तं,  
 किं तत्थ इमं ईदसं अभिलिहियं न थ त्ति । वाइयं पत्तगं, विट्ठमभिलि-  
 हियं सज्जत्तीमूया नापरकारणिया । भणियं च तेहि-सत्थयाहपुत्त ।  
 कुओ पुह-इमं ? । ततो मए थि चिन्तियं-कहं सत्थमायठावियं मित्तनार्थं  
 पयासेमि । मा नाम तेनापि कहि थि एसो एवं थेव समासाइओ भवे ।  
 सा । 'कहं' नियपाणवहुमाणओ मित्तपाणे परिच्छयामि'त्ति चिन्ति-  
 कण भणियं-मए 'नियगं थेव एयं'त्ति । तेहि भणियं-कहं चन्दण-  
 नामज्झियं ? । मए भणियं-न । याणामो, 'कहिं थि घासणपरायत्तो  
 भविस्सइ । तेहि भणियं-किसंतिथे किं वा हिरण्यजायमेत्थं त्ति ? ।

न त्वया कुपितव्यम्; राजशासनमिदम्, मत्ते गेहमवलोकयित-  
 व्यमिति । मया भणितम्-नात्र अवसरः कोपस्य, प्रजापरिरक्षण-  
 निमित्तं समारम्भो देवस्य । ततः प्रविष्टा मे गेहं सह नगरवृद्धेः राज-  
 प्रुषाः । अवलोकितं च तैर्नानाप्रकारं द्रविणजातम्, द्रष्टं च प्रयत्न-  
 स्थापितं चन्दननामाद्रुतं हिरण्यभाजनम्, नीतं महिः, दक्षितं चन्दन-  
 भाण्डाधारिणः । अवलोक्य सडुःसमिव भणितं तेन-अणुहरति तावदेतत्  
 न पुननिःसृज्यं विजानामीति । कारणकर्मणितम्-यावत् तावदपहृत-  
 निवेदनापत्रकम् किं तत्र द्रवमीदृशमभिलिखितं न वेति । वाचितं पत्रकम्,  
 द्रष्टमभिलिखितम् । साध्यस्तीमूया नापरकारणिकाः । भणितं च तैः-  
 स्वार्थवाद्भिर्बुधैः ! कुतः तवेवम् । मयाऽपि चिन्तितम्-कथं सद्भाष्यस्थापितं  
 मित्रन्यासं प्रकाशयामि । मा नाम तेनाऽपि कथंचिद् एव एवमेव समासा-  
 दितं भवेत् । ततः 'कथं मित्रप्राणवहुमानो मित्रप्राणान् परिरक्षामि'  
 इति चिन्तयित्वा भणितं मया-' मित्रकमेवैतद्' इति । तैर्भणितम्-कथं  
 चन्दननामाद्रुतम् ? । मया भणितम्-न जानीमः, कथंचिद् भाजनपरा-  
 यत्तो भविष्यति । तैर्भणितम्-किञ्चयं किं वा हिरण्यजातमत्र इति ? ।

भणियं—न मुट्टु गुमराभि, सङ्गं चेत्य जोएह । कारणिएहि भणियं—वाएह  
सङ्गं, किद्विणजुत्तं किससियं वा तं चन्दनसत्थवाहवात्तं ति । वाइय  
त्तं जाव दीणारद्विणजुत्तं दससहससससियं च । तओ छोडाविणमणेहि  
भलितओ पत्तगत्यो । विट्ठिया नागरकारणिया । परिचिन्तियं च तेहि ।  
हं अप्पडिहयच्चकसत्थवाहपुत्ते चक्कदेवे एवं भविस्सइ ति ? । पुणो  
वे पुत्तिओ—सत्थवाहपुत्त । नरिन्दसात्तणमिणं; ता कहेहि कुट्ठयं,  
कुओ सुह इमं'ति । तओ मए तं चेषाणुचिन्तिऊण तं चेत्य सिट्ठं' ति ।  
हि चिय 'धिरस्यु देव्यस्स' ति भणिऊण मन्तियं । अत्तं पि ते न  
कचि परसन्तियं गेहे चिट्ठइ ? । मए भणियं—न किञ्चि । तओ तेहि  
त्तं वाइऊण सविसेसमवल्लोइयं मे गेहं, इट्ठं च जहावाइयं निरपसे-  
मेव रित्तं । एत्थगत्तरम्मि य कुपिया ममोपरि आरविणगा । नीओ  
हि नरवइसमीव । साहिओ पुत्तगतो चण्डसात्तणस्स । भणिओ ग्धि  
वाहणा । सत्थवाहपुत्त । विप्राज्जभयल्लोयमणो तुमं, ता न सुह एयमेरि-  
मसाद्धवरियमत्तं भावणिज्जं संभावेमि ति । ता कहेहि ताव, को एत्थ  
रमत्थो ति ? । तओ मए तं चेत्य चिन्तिऊण वाहजलभरियल्लोयणं

मया भणितम्—न मुट्टु स्मराभि, स्वयमेव पश्यत । कारणिकं भणितम्—  
वाचय पत्रकम्, किद्विणयुक्तं किसस्य वा तत् चन्दनसार्थवाहमाजतम्  
ति ? । वाचित पत्रं यावद् दीनारद्विणयुक्तं दससहससस्य च ।  
तो मोचितं तं, मिलितः पत्रकार्यः । विस्मिता नागरकारणिका. परि-  
चिन्तितं च तैः । कथमप्रतिहतचक्रसार्थवाहपुत्रे चक्रदेवे एवं भविष्यति  
ति ? । पुनरपि पृष्ट.—सार्थवाहपुत्र ! नरेन्द्रशासनमिदम्, ततः कथय  
पट्टार्थम् 'कुतः त्वत्तद्' इति । ततो मया तदेवानुचिन्त्य तदेव सिष्ट-  
मेति । तैरेव 'धिगस्तु देवस्य' इति भणित्वा मन्त्रितम् । अन्यदपि ते  
किञ्चित्परसत्कं गेहे तिष्ठति ? । मया भणितम्—न किञ्चित् ।  
ततस्तैः पत्रकं वाचयित्वा सविशेषमवलोकितं मे गेहम्, द्रष्टुं च यथा-  
वाचितं निरवशेषमेव रिक्थम् । अत्रान्तरे च कुपिता ममोपरि आर-  
तकाः । नीतस्त्वनरपतिसमीपम् । कथितो वृत्तान्तश्चण्डशासनस्य । भणि-  
तोऽस्मि राज्ञा । सार्थवाहपुत्र ! विज्ञातोभयलोकमार्गस्त्वम्, ततो न त्वं-  
तदीदृशमसाधुचरितमसंभावनीयं संभावयामीति । ततः कथय तावत्कोऽत्र  
रमायं इति ? । ततो मया तदेव चिन्तयित्वा बाष्पजलभृतलोचनेन

न त्विषि जंषिप्यं नरपतिपुरतो ति । ततो राज्ञा समुत्पन्नामंकेपात्रिता-  
 यद्वृमाणो अस्तिरसं वयणममातिऊण कयत्यणं चाकाऊण निविमओ  
 समापतो म्ति, नीणिओ म रायपुरिसेहि नयराओ, मुपको य नयरदे-  
 यावणसमीये । पडिनिवत्ता रायपुरिता । समुत्पन्ना य मे चिन्ता-किमेह-  
 हमेतपरिनयमायणेणं अज्ज वि जीविएणं । ता एयस्मि नयरदेयपात्र-  
 समासन्ने नगोहपायवे उयत्तम्मेमि अत्पाण ति । चिन्तिऊण पट्टो  
 नगोहसमीयं । एत्यन्तरस्मि य कहिचि आभोइऊण इमं वइयरमोहिणा  
 समुत्पन्ना मनोपरि नयरदेयपाए अणुकम्पा । आवेसिऊण रायजणी  
 साहियं णहट्टियमेय एवं तीए राइणो । भणिओ य राया-इमाए मइत्त-  
 णाए अमुगस्मि नयरदज्जाणासन्ने नगोहपायवे उय्यन्धणेण अत्ताणयं परि-  
 च्चइउं ययसिओ चनरुदेयो । ता सत्तुं निवारयेहि, तं सम्मानिऊण य यवे-  
 सेहि नयरं ति । ततो कोहनेहाउलयाए सकिण्णं रसमणुहवन्तो राजा  
 'अरे गेण्हुह दुरापारं जप्पदेवं' ति आइसिऊण पहाणयाहमारडो समं अहा-  
 सन्निहियपरियणेणं तुरियतुरियं निगगओ नयरओ, पत्तो य नयरदज्जाणं ।  
 विट्ठो य अहं राइणा नगोहपायवसाहागओ उत्तरोपनिबद्धपासस्मि  
 म किमपि कथितं नरपतिपुरत इति । ततो राजा समुत्पन्नाद्यङ्के-  
 मापि तातवद्वृमाणतोऽसदृशं वचनमभाषित्वा कदर्यना चाङ्कृत्वा  
 निविषयः समाश्रितोऽस्मि, नीतश्च राजपुरुषेर्नगरात्, मुक्तश्च नगर-  
 देवतायनसमीपे । प्रतिगियत्ता राजपुरुषाः । समुत्पन्ना य मे चिन्ता-  
 किमेतावन्मात्रपरिभजभाजनेन अद्यापि जीवितेन । तत एतस्मिन् नगर-  
 देवतायनसमासन्ने ग्यप्रोधपादपे उरत्तम्मेमि आत्मानमिति चिन्तयित्वा  
 प्रमृत्तो ग्यप्रोधसमीपम् । अत्राग्तरे च कथचिदाभोग्येम व्यतिकरमव-  
 धिना समुत्पन्ना मनोपरि नगरदेवताया अनुकम्पा । आवेस्य राजजननी  
 कथितं यपास्थितमेय एव तया राज्ञः । भणितश्च राजा-अनया मली-  
 नतया भमुकस्मिन् नगरोद्यानासन्ने ग्यप्रोधपादपे उय्यन्धनेनात्मान परि-  
 त्यक्त्वा व्यवसितश्चक्रदेवः । ततो सधु निवारय, त सम्मान्य च प्रवेशय  
 नगरमिति । ततः क्रोधस्नेहाकुलतया सकीर्णं रसमभुभवन् राजा 'अरे  
 गूढणोत्त दुरापारं यजदेवं' इत्यादित्य प्रधानहस्तिन्याहः समं यदा-  
 सन्निहियपरिजनेन स्वरितस्वरितं निर्गतो नगरात्, प्राप्यश्च नगरोद्या-  
 नम् । इत्यन्वाह राजा ग्यप्रोधपादपजातागत उत्तरोपनिबद्धपादे

होइयात् तिरोहरात् अन्तर्गतं प्रकाशित्वामोति । ततो सो दूरतो  
 धेव संमयाद्गतनिर्वाहनात् 'धो धरुदेव ! मा साह्यं मा  
 साह्यं' नि धनसाधो गणपतेश्चित्राए साह्याए समसीतो पायव-  
 मोरं । गणेशेव भवन्तीतो वागमो, वेष्टिरूप य वरणिम टाविमो भटं  
 तेन वारदापट्टियाए । भणिमो य मवट्टुमारं-भो सग्यवाहपुत ! जूतं  
 नाम भवन्तो सत् वि मुष्टिदाय मववासाह्यं ? । ततो मए चिन्तित-  
 ह्यम विमेषं वि, यदागिचं प्रविमट्ट देवइ मितगुणं । सत्यगारणिम य  
 भणिचं राइया-भो सग्यवाहपुत ! साहिमो मम एत वड्यरो मन्म  
 पविमिरूप मववट्टुए मववदेवयाए, जहा मिहोमो मुनं, दोगपारी म एव  
 हुतपारी जप्रदेवो । मा म मिदाचं मुमए, जं मए भयुनिजवरमायेन वय-  
 विमो नि ति । ततो मए 'ह्यम नवतो वसन जप्रदेवो' ति चिन्तित  
 भणिमो राजा-देव । रावपमोऽयं, यदापरिरवसनममुजप्रसत नाति होतो  
 देवस । जप्रदेवमामुडि वि गयेते देवो, न तस्मि महानुभावे अनाय-  
 र्म संभावीजड । राइया भणिचं-नविट्टा मूतगुदी, साहिचं भववट्टुए-  
 'सधमिण तेन पावेन वचमिचं' ति । साहिचं देवताकपिचं राइया । टियं

हीतिगया तिरोहरया भात्मानं प्रकाशित्वामोति । ततः य दूरत एव सप्त-  
 मात्रिण्यनिर्वाहनात् 'मा साह्यं मा साह्यम्' इति मन-  
 यीप्रवरतत्रितया इतिगया समसीतः पादपतमीपम् । स्वयमेवापनीतः  
 पायवः, गृहीत्वा च करे स्थापितोऽहं इतिगोपुष्टे । भणितस्य सवट्टु-  
 मानम्-धोः सार्धंवाहपुत्र ! युक्तं नाम भवती मयाऽपि पुष्टस्य सज्जा-  
 वाऽप्यनम् ? । ततो मया चिन्तितम्-इति विमेषदिनि, प्रकाशितं प्रवि-  
 ष्यति वेनविट्टु मित्रगुहम् । अत्रागते य भणित राजा-धोः सार्धंवाह-  
 पुत्र ! कथितो मम एव व्यतिकरोऽयं प्रविश्य भगवत्या नगरदेवतया,  
 यदा निर्दोषरश्मम्, दोषकारी य अत्र दुराचारी यजदेवः । ततः भमि-  
 त्वं देवा, ममया अज्ञातगरमायेन कथयितोऽसीति । ततो मया 'ह्यम  
 संप्राप्तो व्यसनं यजदेवः' इति चिन्तयित्वा भणितो राजा-देव ! राज-  
 धर्मोऽयम्, प्रजापरिरक्षणसमुद्यतस्य नास्ति दोषो देवरय । यजदेवमूल-  
 मुडिमवि गयेपमम् देवः, न तस्मिन् महानुभावे अनाचरणं संभाव्यते ।  
 राजा भणितम्-गवेपित्वा मूलमुडिः, कथितं भगवत्या-सधमिचं तेन  
 पावेन व्यसितम्' इति । कथितं देवताकपिचं राजा । 'स्मिन्

य मे चित्ते नृप होमयगमगेनं नि भगिऊन साहिओ जमरोरकटिगु-  
 मन्तो । यतो मत् निमित्तं-हन्त रिमेयं असंभावनिभं । एवमतरमि व  
 सानिचो रारुग्मिमेहि बन्धेऊन मन्तरेओ, निवेइओ रादुओ । मनिचं व  
 लेन लो एवम जिमं निविऊन उपायेह सोयगाइ । निमणो मन्-  
 रेओ । यतो मत् मन्तरेणु निविऊन विरतो राया-वेच । मम एव मन्-  
 रानो मन्तरेण, मन्तरेण मन्तरेओ । रादुना मनिचं-सत्यवाहपुन । म  
 मन्तरेण दूतागरो म् एवो, ता मन्तं निमरोहिहि । मत् मनिचं-वेच ।  
 मन्तरेण नि, मत् मन्तरेण मन्तरेणो वेचम, ता इमं येन मन्तरेण  
 रेओ । मन्तरेण मनिचं-मन्तरेणोमन्तरेणो मन्तं नि, मन्तं जानाति । तपो  
 मत् मन्तरेणो नि मनिऊन निविडो(अ) मन्तरेणो सोयविओ मन्-  
 रेओ, मेव ओ म मत् रादुना निमयमन्तं लओ मन्तरेणो मन्तरेणो  
 इव मन्तरेणो मन्तरेणो नि । माओ म सोयगाओ, अहो । मन्तरेणो मन्-  
 तरेण । मन्तरेणो म मे निमरोओ । मेव, ईदुमानं नि मित्तानं ईदुमो-  
 वन्तरेणो नि । मन्तरेणो । मन्तरेणो मन्तरेणो, निमित्तित्तानं मन्तरेणो  
 मन्तरेणो नि । मन्तरेणो । मन्तरेणो मन्तरेणो निमित्तित्तानं मन्तरेणो  
 मन्तरेणो नि । मन्तरेणो । मन्तरेणो मन्तरेणो निमित्तित्तानं मन्तरेणो

य मे चित्ते नृप होमयगमगेनं नि भगिऊन साहिओ जमरोरकटिगु-  
 मन्तो । यतो मत् निमित्तं-हन्त रिमेयं असंभावनिभं । एवमतरमि व  
 सानिचो रारुग्मिमेहि बन्धेऊन मन्तरेओ, निवेइओ रादुओ । मनिचं व  
 लेन लो एवम जिमं निविऊन उपायेह सोयगाइ । निमणो मन्-  
 रेओ । यतो मत् मन्तरेणु निविऊन विरतो राया-वेच । मम एव मन्-  
 रानो मन्तरेण, मन्तरेण मन्तरेओ । रादुना मनिचं-सत्यवाहपुन । म  
 मन्तरेण दूतागरो म् एवो, ता मन्तं निमरोहिहि । मत् मनिचं-वेच ।  
 मन्तरेण नि, मत् मन्तरेण मन्तरेणो वेचम, ता इमं येन मन्तरेण  
 रेओ । मन्तरेण मनिचं-मन्तरेणोमन्तरेणो मन्तं नि, मन्तं जानाति । तपो  
 मत् मन्तरेणो नि मनिऊन निविडो(अ) मन्तरेणो सोयविओ मन्-  
 रेओ, मेव ओ म मत् रादुना निमयमन्तं लओ मन्तरेणो मन्तरेणो  
 इव मन्तरेणो मन्तरेणो नि । माओ म सोयगाओ, अहो । मन्तरेणो मन्-  
 तरेण । मन्तरेणो म मे निमरोओ । मेव, ईदुमानं नि मित्तानं ईदुमो-  
 वन्तरेणो नि । मन्तरेणो । मन्तरेणो मन्तरेणो, निमित्तित्तानं मन्तरेणो  
 मन्तरेणो नि । मन्तरेणो । मन्तरेणो मन्तरेणो निमित्तित्तानं मन्तरेणो  
 मन्तरेणो नि । मन्तरेणो । मन्तरेणो मन्तरेणो निमित्तित्तानं मन्तरेणो

एत्यन्तरस्मि य समागतो तस्य सुगिहियनामो अग्निभूर्माम गण-  
हरो । डिओ य नयदृज्जाणे । विट्टो मए चाहिरियागएणं । जाओ य मे  
सं पइ बहुमाणो, पणमिओ य सो मए, धम्मलाभिओ य तेणं उपविट्टो  
तस्त पायमूले । पुच्छिओ भयवं सय्यदुवसविट्टणसमत्वं धम्मं । साहिओ  
भगवया समाइगो साहुधम्मो । सं य सुपमाणस्स समुत्पन्ना देसविर-  
इपरिणई, पवहुमाणसंवेगस्स जाओ भयविरागो । चिन्तियं य मए-अलं  
संसारपवहुणामेतफलेणं इमिणा परिकिलेसेणं, पम्पज्जामो पम्पज्जं ति ।

एत्यन्तरस्मि य गलिओ कम्मसंघाओ, पयलिया बन्धनट्ठिई, विहा-  
वियं अत्तविरिएणं, समुत्पन्ना सय्यविरइपरिणइ ति । क्हावसाने य  
विप्रतो मए भयवं गुरु । अणुगिहीओ अहं भयवया, विरत्तं य मे वित्तं  
भवपञ्चाओ, ता आइसउ भयवं कि मए कायस्य ति । तओ तेणं मुय  
(या) सपमाणिणा मम भायं विपाणिऊण मयियं-अज्जइ भवओ महा-  
पुत्तिसेवियं समणसणं काउं ति । तओ मए तत्ता समीवस्मि वेव पवमं  
समणसणं, परिपालियं य विहिणा । तओ अहाउयं पासिऊण कालमासे  
पालं किञ्चा देहं यइऊण नयसागरोवमाज्ज येमाणिमत्ताए उववओ म्हि

अत्रान्तरे य समागतस्तत्र सुगुहीतनामा अग्निभूतिर्नाम गणघटः ।  
स्विट्ठइव नगरोद्याने । दृष्टइव मया बहिरागतेन । जातइव मे त प्रति  
बहुमानः, प्रणतइव स मया, धर्मलाभितइव तेन, उपविष्टस्तस्य पाद-  
मूले । पुष्टो भगवान् उपबृंहः सविबुट्टनसमयं धर्मम् । कपितो भगवता  
समादिकः साधुधर्मः । त य गृण्वतः समुत्पन्ना देवविरतिपरिणतिः,  
प्रबंधमानसंवेपथ्य जातो भवविरागः । चिन्तित य मया-अलं संसार-  
प्रबंधनमात्रफलेन अनेन परिकलेसेन, प्रपद्यामहे प्रपज्जामिति ।

अत्रान्तरे य गलितः कर्मसंघातः, प्रवलिता बन्धनस्थितिः, विहा-  
वितमात्मवीथेन, समुत्पन्ना सर्वविरतिपरिणतिरिति । क्पाअसाने य  
विप्रतो मया भगवान् गुरुः । अणुगुहीतोऽहं भगवता, विरत्तं य मे वित्तं  
भवप्रपञ्चात्, तत आदिधातु भयवान् कि मया कथंममिति । तन्मतेन  
मुतापयमानिना मम भाव विहाय धनितम्-अज्जइ भवओ महापुत्ति-  
सेवितं धमणस्य कर्तुमिति । तओ मया तस्य समीपे एव प्रपद्य भवप-  
थम्, परिपालितं य विहिना । तओ दयाअमुप्प दागदित्था कालमासे  
काल इत्था देह इत्थया नव सादरोवमानुबेदानिउत्तरोत्तरोऽयं



तावपि ता अग्नेः समुद्देशं । अणुहमस्त वि य पुष्यमयनिमित्तमो तयत्पतां-  
 रितमजो य समुत्पन्नो ममोवरि यञ्चणापरिणामो । चिन्तियं य नेनं- 'हृ-  
 मेतो यञ्चियत्तो' ति । तमो सो अनेययिप्यसमाउलियहिमो अहं च  
 मुद्रसहायो ति । एवं वच्चामो । पाहेयवयिणजायाणि य पत्तमं हृत्पगो-  
 रानि हवन्ति । अत्रया य मम हृत्पे पाहेयं तस्त वयिणजाय ति । एवमणु-  
 गच्छमाणा पता समुद्देश, जलम सा घन्यकन्ता चिद्वह । विद्वो य सो कूबो ।  
 एवन्तरमि य अत्यमिओ सहस्तरस्ती, लुलिमा सञ्जात । तमो विन्तिय-  
 मगहृगंग-हृत्पगमं मे वयिणजायं, विज्जणं य कन्तारं, समासन्नो य पाया-  
 लममीरो कूबो, पयसो य अयराहवियरसमच्छायगो अग्न्यारो । ता  
 एवमि एव पयित्तिरुण नियतामो इमस्त भाणस्त ति चिन्तिरुण मनिं  
 च तेन-सापवाहपुत । घणिय निवासाभिभूओ इह । ता निहालोहि एयं  
 विष्णुश्च 'विमोत्य उदगं अत्थि, नत्थि' ति ? तमो मए नहिमपाहेय-  
 वाहृणां येन निहार्तिओ कूबो । एतथातरमि य मुवितारयहिमयम  
 लोपयति विष मण्णु भागमो मम समीकमणहृगो । सहसा पयित्तो तमि  
 अहृमणहृगंग, विहमो य उदगममो । नियतो य सा तमो विभागाओ ।

एवमि एव पयित्तिरुण नियतामो इमस्त भाणस्त ति चिन्तिरुण मनिं  
 च तेन-सापवाहपुत । घणिय निवासाभिभूओ इह । ता निहालोहि एयं  
 विष्णुश्च 'विमोत्य उदगं अत्थि, नत्थि' ति ? तमो मए नहिमपाहेय-  
 वाहृणां येन निहार्तिओ कूबो । एतथातरमि य मुवितारयहिमयम  
 लोपयति विष मण्णु भागमो मम समीकमणहृगो । सहसा पयित्तो तमि  
 अहृमणहृगंग, विहमो य उदगममो । नियतो य सा तमो विभागाओ ।

अहमपि य ससंभन्तो लग्नो पट्टिकूवगेवकदेते । परामुष्टा य भयविह-  
 उद्गा चन्द्रकन्ता योसहावजो भयकापरा । भणियं च तोए 'नमो अरि-  
 हन्ताण' ति । तजो मए पञ्चभिन्नाजो सहो । ऊससियं मे हियएणं ।  
 भणिया य सा 'अभयमभयं जिणसासनरयाण' ति । तोए वि य पञ्च-  
 भिन्नाजो मे सहो । रोविउं पयत्ता, समासासिया सा मए, पुच्छिया य  
 मुत्तन्तं । साहियो य तोए, मए वि य नियगो ति । भणियं च तोए हा !  
 दुद्ध कयं अणहणेण । मए भणियं-सुन्दरि ! न दुद्ध कयं, परमोवयारि  
 खु सो महानुभावो, जं तुमं संजोदय ति । अप्पनिहाण य अहकन्ता  
 रयणी, उगगजो अंसुमाली । तजो मए दिन्नं चन्द्रकन्ताए पाहेयं । भणियं  
 च तोए-'कहमहं तुमए अगहियम्मि येणहामि' ति । तजो मए नेट्कापरं  
 मे हिययं फलिकणमकाले वेव गहियं पाहेयं, मुत्तं च अम्हेहि । तजो  
 चिन्तियं मए-केण पुण उवाएण अम्हे इमाजो भवत्तमुदाजो विव  
 कूवगाजो उत्तरिस्सामो ति । एवं च चिन्तयन्ताणं कइयवदिनेमु सीणं  
 पाहेयं, पणट्ठा जीवितासा । जाया य मे चिन्ता-कहं पाविऊण विगमयं  
 अकाऊण पच्चज्जमकयत्थो भरिस्सामि ति । एत्थन्तरम्मि कुरियं ते

अहमपि च ससंभ्रान्तो लग्नो प्रतिकूपकैकदेते । परामुष्टा च भयविह-  
 उद्गा चन्द्रकान्ता, स्त्रास्वभावतो भयकातरा । भणितं च तथा 'नमो  
 हन्तृभ्यः' इति । तत् प्रत्यभिज्ञातः शब्दः, उच्छ्वसितं मे हृदयेन ।  
 च सा 'अभयमभयं जिनशासनरतानाम्' इति । तयाऽपि च शब्द-  
 शातो मम शब्दः । रोवितुं प्रवृत्ता, समादयासिता सा मया, पुच्छ क  
 वृत्तान्तम् । कथितश्च तया, मयाऽपि च निजक (वृत्तान्तम्) ।  
 भणितं च तथा-हा ! दुष्ट कृतमणहकेन । मया भणितम्-  
 दुष्ट कृतम्, परमोपकारी खलु स महानुभावः, अप्पनिहाण य  
 अल्पनिद्रयोश्चातिक्ता रजनी, उद्गतदधानुमात्री ।  
 कान्ताया पाथेयम् । भणितं च तथा-'कथमहं त्वं कथं कथं  
 ततो मया स्नेहाकरं तस्या हृदयं कलयित्वा कथं कथं  
 भुक्तं चावाभ्याम् । तद्विचिन्तितं मया-केन समुद्रादिव  
 समुद्रादिव कूपकादुत्तरिष्याव इति । एव च पाथेयम्, प्रणिष्टा जीविताशा । जाया य मे चिन्ता-  
 ममत्वा प्रपञ्चाममृतायो भरिष्यामि

यामलोचनेन, ममापि दाहिणेन । जयितुं त्वं तौ-अञ्जपुत्र ! यामं मे  
 लोचनं स्फुरितम्' इति । ततो साहिओ से मए हियवसंकल्पो इयरचासुकरा  
 च । समासासिया म एसा । सुन्दरि ! इमेहि निमित्तविमेषेहि अवसं  
 श्रम्हाणं न चिरकालानुसारी एस किलेसो, ता न तुमए संतप्पियव्वंति ।  
 पडिस्सुपमिमोए । एवं च जाव अहोरत्तं नियसामो, ताव समागओ सगररा-  
 यहाणीओ रयणपुरनिवासिणो नन्दिद्वन्नामिहानस्स सत्थवाहस्स सन्तिप्रो  
 रयणपुरगामी चेव सत्थो ति । उयगनिमित्तं च समागया पुरिता गहि  
 ऊण लम्बणा । विट्ठाइं अम्हे इमेहि । निवेदयं सत्थवाहस्स । कयमञ्चि-  
 यापओएणं समुत्तारायियाइं तेन, पच्चमिन्नादाणि य । पुच्छियाइं वुत्तन्तं  
 साहिओ वित्तरेणं, विम्हिओ एसो, तओ पत्थियाइं रयणउरं जाव अइ  
 वकन्तेसु पञ्चसु प्रमाणएसु परिवहन्ते सत्थे राययत्तणीओ नाइदूरदेश  
 भाए विट्ठो कङ्कालमेत्तसेसो यामपासायडियदविणजाओ केसरिणा बीह  
 निद्रावसमुपणीओ अणहयो ति । दविणोवलम्बेण पच्चमिन्नाओ अम्हेहि  
 तओ तं तहायिहवियागं पेच्छऊण समुत्पन्नो मे विवेको, लओयत्तममुव  
 गयं चारित्तमोहणीयं । संजाओ समलजीवलोयकुल्लहो चरणपरिणामो

यामलोचनेन, ममापि दक्षिणेन । कथितं च तथा-‘आर्यपुत्र ! वा  
 मे लोचनं स्फुरितम्’ इति । ततः कथितः तस्या मया हृदयसंकल्प  
 इतरचक्षुःस्फुरणं च । समादवासिता च एषा । सुन्दरि ! एभिर्निमि-  
 त्तविशेषैरवश्यमावयोरनं चिरकालानुसारी एषः वृत्तिः, ततो न त्वया  
 संतप्तव्यमिति । प्रतिश्रुतमनया । एवं च यावदहोरात्रं निवसावः, ताव  
 त्समागतः शिवरराजधानीतो रत्नपुरनिवासिनो नन्दिद्वन्नामिधानस्  
 शार्यवाहस्य सत्को रत्नपुरगाम्येव सार्य इति । उदकनिमित्तं च समा  
 गता पुरुषाः गृहीत्वा लम्बनान् । दृष्टी आवामेभिः । निवेदित सार्यं  
 वाहस्य । कृतमञ्चिकाप्रयोगेन समुत्तारितो तेन, प्रत्यभिज्ञातो च । पुष्ट  
 वृत्तान्तम्, कथितो विस्तरेण । विस्मृत एषः, ततः प्रस्थितो रत्नपु  
 मावदतिक्रान्तेषु पञ्चसु प्रमाणकेषु परिवहति सार्यं राजवत्तनीतो नाति  
 दूरदेशमाने दृष्टः कङ्कालमात्रघोषो यामपाद्वान्तितद्रविणजातः केसरिण  
 दीर्घनिद्रावसमुपनीतोऽहक इति । दविणोपलम्बेन प्रत्यभिज्ञात आवा  
 भ्याम् । ततस्त तयाविश्वविपाकं प्रेक्ष्य समुत्पन्नो मे विवेकः, क्षयोपशमम्  
 पश्य चारित्तमोदनीयम्, संजातः सकलजीवलोकादुत्तमदचरणपरिणामः

तत्रो अहं तहाविहपवद्भुमाणपरिणामो चेव आगजो सनयरं । पवन्नो य  
जहाविहोए विजयवद्धणाधरियसमीवे पव्वज्ज । अहाउयमणुवालिकुण  
विहिणा य मोत्तून देहं, उववन्नो सोलससागरोवमाऊ वेमानियत्ताए महा-  
सुरककप्पम्मि, इअरो वि य अणहगो सीहवावाइयसरीरो सत्तसागरोवम-  
ट्ठिई वालगप्पहाए नारयो त्ति । तत्रो अहमहाउय पालिकुण देवलोगाओ  
चुओ समाणो इहेव जम्बूद्वीवे दीवे भारहे यामे रहवीरउरे नगरे नन्दि-  
वद्धणस्स गाहावइस्स सुरसुन्दरीए भारियाए कुच्छिसि पुनत्ताए उववन्नो  
म्हि । इपरो वि तत्रो नरगाओ उव्वट्ठिकुण विज्जगिरियव्वए अणेगसत्त-  
धावापणपरो सीहत्ताए उववन्नो । तत्रो सीहत्ताए उववज्जिकुण पुणो वि  
मरिक्कण सत्तसागरोवमाऊ तत्थेव उववज्जिय तत्रो य उव्वट्ठो नानातिरि-  
एषु आहिण्डिय तत्थेव नगरे सोमसयवाहस्स नन्दिमईए भारियाए पुत्त-  
त्ताए उववन्नो त्ति । उच्चियसमयम्मि जाया अम्हे, पत्ता बालभाव । पइहा-  
वियाइ नामाहुं-मज्झ अणङ्गदेवो, इयरस्स घणदेवो त्ति । आबालभावओ  
जाया पिई मम सत्ताभावओ, इयरस्स कहयएणं । कुमारभावम्मि य पत्तो मए  
देवसेनगुदसमीवे मव्वधुभासिओ धम्मो । पत्ता य जोव्वयणं । सन्ते विय पुव्व-

ततोऽहं तयाविधप्रवर्द्धमानपरिणाम एव आगतः स्वनगरम् । प्रपन्नस्व  
पयाविधि विजयवद्धनाधर्मसमीपे प्रव्रज्याम् । यथाऽऽयुष्कमनुपाल्य  
विधिना च मुक्त्वा देहम्, उपपन्नः षोडशसागरोपमायुर्वमानिकतया  
महाशूककल्पे, इतरोऽपि चाणहकः सिंहव्यापादिनशरीरः सप्तसाग-  
रोपमस्त्वितिर्वालुकाप्रभायां नारक इति । ततोऽहं यथाऽऽयुः पाल-  
यित्वा देवलोकान् व्युतः सन् इहैव जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे रघवीरपुरे  
नगरे नन्दिवद्धनस्य भार्यापतेः सुरसुन्दर्या भार्यायाः कुक्षौ पुत्रतयोपप-  
न्नोऽस्मि । इतरोऽपि च तत्रो नरकादुद्भूत्य विज्जगिरिपर्वते अनेक-  
सत्त्वध्यापादनपरः सिंहतयोपपन्नः । ततः सिंहतयोपपद्य पुनरपि मृत्वा  
सप्तसागरोपमायुस्तत्रैवोपपद्य ततश्चोद्भूतो नानातिर्यक्षु आहिण्डिय तत्रैव  
नगरे सोमसार्यवाहस्य नन्दिमत्यां भार्यायां पुत्रतयोपपद्य इति । उचित-  
समये जात्यावावाम्, प्राप्ती बालभावम् । प्रतिष्ठापिते नाम्नी-ममा-  
णङ्गदेवः, इतरस्य घनदेव इति । आबालभावात् जाता प्रीतिर्मेम  
सद्भावतः, इतरस्य कैतवेन । कुमारभावे च प्राप्तो मया देवसेनगुह  
समीपे सर्वशभाषितो धर्मः । प्राप्तो च यौवनम् । सत्यपि पूर्व-



मदिस्तदिति । एवं च कैए समाने लोपयाओ विपरिहरिओ होइ । संपा  
इयंतेण जहासमीहियं । भुत्तत्तरकालंमिय आरुद्धा दुवे वि अम्हे सपरिवारा  
पासायं । एत्थन्तरम्मि य णट्ठा से मई । मम दसणनिमित्त केवली चेवा-  
दढो । निज्जुहं । जाव म नारोहामि अहयं, ताव निवडिओ । हाहारयं  
करेमाणो समोइण्णो अहयं जाव दिट्ठो पञ्चत्तमुदगओ दोणमो ति । सम-  
प्पओ मे निवेओ । चिन्तियं मए । धिरत्थु जीवलोपस्स, एधमदत्ताणं  
संसारचेट्ठियं । तओ अहं तस्स मयकिञ्चं काऊण तन्निवेएण सेय पडि-  
दमो माणमंगगुहसमीपे समणलिंगं । परिवालिऊण अहाउय उवयमो हेट्ठि-  
मोयरिमगेवेज्जए किञ्चणपणुवीससागरोवमाऊ देयो; इयरो वि दोणओ  
सहाविहएदुज्जाणोवगओ धूमप्पमाए पुढवोए दुवालससागयोयमाऊ मारगो  
ति ॥ तओ अहं सुराउयमणुभुज्जिऊण धुओ समानो इहेव जम्बुद्वीपे द्वीपे  
एत्थ धेय विजए चम्पापातो नगरे माणिनइत्त सेट्ठिस्स धारिणीए मारि-  
माए कुट्टिउत्ति पुत्तत्ताए उवयमो, जाओ य उज्जियसमएणं । पइट्ठापियं मे  
नामं पुण्णमदो ति । पढनं च किल मए पोसमुच्चारयन्तेण 'धमर' ति  
संसत्तं । अओ इदयं वि मे नामं धमरमुत्तो ति । यावपणिट्ठप्पसीए

भविष्यति ( जीविष्यति ) इति । एवं च कृते सति लोकवादोऽपि परि-  
हृतो भवेति । संपादित च तेन यथासमीहितम् । भुक्तोत्तरकाले चारुद्धो  
द्वावपि भाषा सपरिवारो प्रासादम् । अत्रान्तर य प्रनष्टा तस्य मतिः ।  
मम दसंननिमित्तं केवल एवारुद्धो निर्यूहकम् । यावच्च नारोहाम्यहं ताव-  
न्निपत्तिः । हाहारयं दुर्वन् समवलीर्णोऽयं यावद् दृष्टो पञ्चपदमुपगतो  
दोणक इति । समुत्पन्नो मे निवेदः । चिन्तितं मया-धियस्तु जीवलोपस्य,  
एवमवसानं संसारचेष्टितम् । ततोऽहं तस्मै मृतकृत्यं कृत्वा तन्निवेदेनैव  
अतिपन्नो मानन्दगुहसमीपे धमयन्निङ्गम् । परिपाल्य यथाऽयमुप-  
भोग्यस्तनोपरितनयंयमे केचिच्चदूतपञ्चविंशतिसागरोपमापुद्वे, इत-  
रोऽपि दोणकस्तथाविधरीद्वन्मनोपगतो धूमप्रभावां पृथिव्यां द्वादशसा-  
गरोपमायुर्नारक इति । ततोऽहं सुरायुरनुपणुष्य भुत्तः सन् इहेव जम्बु-  
द्वीपे द्वीपे अनय विनये चम्पापर्यं नगरे माणिनइत्त सेट्ठिन्तो धारिण्या  
भान्निपाः कुलो पुत्रतनोपपन्नः, पाठदपोदितसमयेन । अतिष्टापितं मे  
नाम पूर्णमद इति । प्रयत्नं च कृतं मया पोसमुच्चारयता 'धमर' इति  
संसत्तम्, अओ इदंविषयं मे नाम धमरमुत्त इति । अत्रान्तरादौऽत्र









समावन्नरूपो उण एस ससारो, किञ्चित्पिदाणि वा इह सारीरमाणसाणि  
सुहृदुखानि अनुभवन्ति प्राणिणो, को वा एत्थ संसारचारकविमोचनसमर्थो  
भवन् ? धम्मो ति ? । धम्मघोसेण भणियं—वच्छ ! सुण, ज तए पुच्छियं—

एत्थ ताव चउगइसमावन्नरूपो ससारो । गर्हओ पुण इमाओ ।  
तं जहा—नरयगई, तिरियगई, मणुयगई, देवगई । सुहृदुखचिन्ताए पुण,  
कुओ संसारसमावन्नाणं जाइजरामरणपीडियाणं रागादयोसगहियाणं  
विसयविस्सावहियेयेणाणं च सत्ताणं सुहं ति ? । न किञ्चि सुहं, बहं च  
दुखं । एत्थ मे सुण नायं—

जह नाम कोइ पुरिसो घणियं दालिदुव्वसंततो ।

भोत्तूर्ण नियं देसं परदेसं गन्तुमारब्धो ॥५७॥

लंघेऊण ॥ देसं गामागरनयरपट्टणसणाहं ।

येवदियहेहि नवरं कहंचि पन्थाउ पन्मट्टो ॥५८॥

पत्तो य साल-सरल-तमाल-तालालि-बउल-तिलय-निबुल-अंकोल-  
कलम्य-वज्जुल-पलास-सल्लई-तिणिस-निम्ब-कुडय-नगोह-खइर-

समापन्नरूपः पुनरेव ससारः, किञ्चित्पिदाणि वा इह सारीरमाणसाणि  
सुहृदुखानि अनुभवन्ति प्राणिनः, को वाऽत्र संसारचारकविमोचनसमर्थो  
भवन् ? धर्म इति ? धर्मघोषेण भणितम्—वत्स ! शृणु मत्पथा पृष्टम्—

अत्र तावच्चतुर्गंतिसमापन्नरूपः संसारः । गतयः पुनरिमाः । तद्यथा—  
नरकगतिः, तिर्यग्गतिः, मनुजगतिः, देवगतिः । सुहृदुखचिन्तया पुनः, कुतः  
संसारसमापन्नानां जातिजरामरणपीडितानां रागादयोपगृहीतानां विषय-  
विषापहृतचेतनानां च सत्त्वानां सुखम्—इति ? न किञ्चित्सुखम्, बह्वं च  
दुःखम् । अत्र मम शृणु ज्ञातम्—

यथा नाम कोऽपि पुरुषो भूय दारिद्र्यभङ्गुः स्वसत्पत्तः ।

मुक्त्वा निजं देशं परदेशं गन्तुमारब्धः ॥५७॥

लङ्घित्वा च देशं ग्रामाकरनगरपत्तनसनापम् ।

स्तोकदिवसेनैव नवरं कथंचित्पथं प्रप्रेष्टः ॥५८॥

प्राप्तश्च साल-सरल-तमाल-तालालि-बकुल-तिलक-निबुला-इन्द्रील-  
कलम्य-वज्जुल-पलाश-मालविक-तिणिस-निम्ब-कुडय-नगोह-खइर-



जइ नाम कहैवि एयं रवितुरयखुरगच्छिन्नघणपसं ।  
 नगोहमारहेज्जा छुट्टेज्ज तओ गइन्दस्स ॥५९॥  
 इय चिन्तिज्जण भीओ कुससूईभिपायतलमगो ।  
 वेगेण घाविज्जणं वियडं वडपादयं पत्तो ॥६०॥  
 सं पेच्छिउं विसण्णो नगोहं गयणगोयरारणं पि ।  
 सुल्लंघणिज्जमुत्तुंगखन्धमारुहिउमसमत्थो ॥६१॥  
 ताव वणदुट्ठहत्थि मन्यरगण्डालिजालपामुक्कं ।  
 हुलियं समत्तियन्तं ददुं वडपायवुद्दसं ॥६२॥  
 अब्भहिपमयपवेविरसत्थंगो युण्णवयणतरलच्छं ।  
 एत्तो इओ नियन्तो पेच्छइ कूबं तणोछन्नं ॥६३॥  
 अह मरणभीदएणं नगोहासन्नजिण्णकूवम्मि ।  
 अप्पा निरावलम्बं मुक्को एणजीवलोहेण ॥६४॥  
 उत्तुंगभित्तिजाओ सरथम्भो तम्मि सत्थ य विलगो ।  
 पडणाभिघायकुपिए पेच्छइ य भुयंगमे भीमे ॥६५॥

यदि नाम कथमप्येह रवितुरगस्ररागच्छिन्नघनपत्रम् ।  
 न्यग्रोधमारोहेय मुच्येय ततो गजेन्द्रात् ॥५९॥  
 इति चिन्तयित्वा भीतः कुशसूचिभिन्नपादतलमार्गः ।  
 वेगेन घावित्वा विकटं वटपादप प्राप्तः ॥६०॥  
 त प्रेक्ष्य विपण्णो न्यग्रोध गयनगोचराणामपि ।  
 दुर्लङ्घनीयमुत्तुङ्गस्कन्धमारोढुमसमर्थः ॥६१॥  
 तावद् वनदुष्टदृष्टितं मन्यरगण्डालिजालप्रमुक्कम् ।  
 हुलितं (धीमं) समालीयमानं दृष्ट्वा वटपादपोद्देशम् ॥६२॥  
 सन्पथिकभयप्रवेपमानसर्वाङ्गस्त्रस्तबदनतरलाक्षम् ।  
 इत इतो गच्छन् पश्यति कूप तृणोज्ज्वलम् ॥६३॥  
 नय मरणभीदकेन न्यग्रोधासन्नजोर्णकूपे ।  
 आत्मा निरावलम्बं मुक्तः क्षणजीवलोभेन ॥६४॥  
 उत्तुङ्गभित्तिजातः सरस्तम्भस्तस्मिन् तत्र च विलग्नः ।  
 पतनाभिधातकुपितान् पश्यति च भुजङ्गमान् भीमान् ॥६५॥

चञ्चु वि तडोसु बरिए विसलवसंवलियनयणसिहिजाले  
 उम्भडफडाकराले पवेल्लिरंगे डसिउकामे ॥६६॥  
 फुंकारपवणपिसुणियमवयच्छियवयणमयगरमहो य ।  
 विगायकरोइकायं कसिणं रत्तच्छिब्रीमच्छं ॥६७॥  
 जावेसो सरथम्मो ताव महं जीवियं ति चिन्तंतो ।  
 अवयच्छइ उट्टमुहो पेच्छइ य सुतिक्खदाडिल्ले ॥६८॥  
 धवलकसिणे य तुरियं दुवे तहि मूसए महाकाए ।  
 निच्चं वावडययणे छिन्दन्ते तस्स मूलाइं ॥६९॥  
 ताव वणवारणेण य विज्जाइं नरं अपावमाणेणं ।  
 कुविएण विइण्णाइं धणियं नगोहक्खम्मि ॥७०॥  
 संचालियम्मि तम्मि य अवडोवरि विपडसाहसंभूयं ।  
 सुडिऊण तम्मि पडियं महुजालं जिण्णकूवम्मि ॥७१॥  
 तो कुवियदुट्टमहुयरिनियरडसिज्जन्तसव्वगतस्स ।  
 ज्ञोसम्मि निवडिया कह वि नवरंजोएण महुबिन्नु ॥७२॥

पतमूवपि तटीपु इप्पान् विपलवसवलितनयनशिसिजालान् ।  
 उम्भटफडाकरालान् प्रवेत्तमानाद्गान् दसितुकामान् ॥६६॥  
 फुंकारपवनपिसुनित प्रसारितवदनमजगरमधश्च ।  
 दिग्गजकरोइकाम कृष्ण रक्ताक्षिब्रीमत्तम् ॥६७॥  
 मायदेप सारत्तम्भस्तावन्मम जीवितमिति चिन्तयन् ।  
 अवकासते कड्वंमुसः पश्यति च सुतीक्ष्णदायावतः ॥६८॥  
 धवलकसिणे च त्वरित द्वा तत्र मूषको महाकायो ।  
 नित्य व्यापृतवदनी छिन्तस्तस्य मूलानि ॥६९॥  
 तावद् वनवारणेन च अभिषातनानि नरमप्राप्नुवता ।  
 कुपितेन विर्जोर्णानि भूतं न्यसोऽध्वुशे ॥७०॥  
 संचालिते तस्मिन्च अवटोपरिविष्टसासासंभूतम् ।  
 नृष्टित्वा तस्मिन् पतिउ महुजाल जीर्णकूपे ॥७१॥  
 ततः कुपितदुष्टमधुकरोनिहरदन्तमानसार्थगात्रस्य ।  
 एते निवडियाः कथमपि नयर योगेन

१. ओयलिङ्गण य वयणं कहवि पविट्ठा उ उत्तिमंगाओ ।  
 खणमासाइउमिच्छइ पुणो यि अन्ने निवडमाणे ॥७३॥  
 अगणेउमयगरोरगकरिमूसयविलयमहुयरिभयाइं ।  
 महुबिन्दुरसासायणगेहिवसा हरिसिओ जाओ ॥७४॥  
 भवियजणमोहविउडणपच्चलमच्चत्यमियमुदाहरणं ।  
 परिगप्पियमेयस्स य उवसंहारं निसामेह ॥७५॥  
 २. जो पुरिसो सो जीवो चउगइभमणं च रण्णपरियडणं ।  
 खणवारणो य मच्चू निसायरि जाण सह य जरं ॥७६॥  
 घटवखो उण मोषखो मरणगइन्दभयवज्जिओ नवरं ।  
 आदहिउं विसयाउरनरेहि न य सबकणिज्जो त्ति ॥७७॥  
 मणुयत्तं पुण कूषो भुयंगमा सह य होन्ति उ कसाया ।  
 खइओ जेहि मणुस्सो कज्जाकज्जाइं न मुणेइ ॥७८॥  
 जो यि म पुण सरयम्भो सो जीयं जेण जीवइ जीवो ।  
 तं किण्हयलपक्खा खणन्ति वडमुन्दुरसमाणा ॥७९॥

भवतीये च वदन कयमपि प्रविष्टास्तूतमाइगात् ।  
 शणमास्वादितुमिच्छति पुनरपि अन्यान् निपततः ॥७३॥  
 अगणदित्वाजगरोरगकरिमूपकविलयमधुकरोप्रयानि ।  
 मयुबिन्दुरसास्वादनगुद्विवशाद् हृषितो जातः ॥७४॥  
 भविकजनमोहविकुटनप्रत्यलभत्यर्थमिदमुदाहरणम् ।  
 परिकल्पितमेतस्मै च उपसंहारं निधामयत ॥७५॥  
 यः पुरुषः स जीवः चतुर्गतिभ्रमणं चारण्यपबन्धनम् ।  
 वनवारणस्य मृत्युनिशाचरी जानीहि तया च जराम् ॥७६॥  
 घटवृक्षः पुनर्मोक्षो मरणगजेन्द्रभयवज्जितो नवरम् ।  
 भारोद्धं विषयातुरनरः न च शक्नोम इति ॥७७॥  
 मनुजत्वं पुनः कूपो भुजङ्गमास्तथा च भवन्ति नु कथायाः ।  
 सादितो येमनुष्यः कार्जाकार्ये न जानाति ॥७८॥  
 योऽपि च पुनः पारतन्त्र्यः स जीवति येन जीवति जीवः ।  
 तदुत्पन्नवत्तपक्षो खनतो हवमुन्दुरसमानो ॥७९॥



तत्प रन्तो नाम सम्प्रदानपुण्यं धत्तुसहायालोपणेन क्रोहरस  
अनुदयो, उदयस्तस्य वा विफलीकरणं । एवं भद्रयया वि माणस्तं अनु-  
दयो उदयस्तस्य वा विफलीकरणं । एवमग्गयया वि मायाए अनुदयो,  
उदयस्तस्य वा विफलीकरणं । एवं भुत्तो वि होहस्त अनुदयो, उदय-  
स्तस्य वा विफलीकरणं ति । तयो पुन कुविहो-वाहिरो अभिगन्तरो य ।  
माहिरमो अणत्तादगो । भणियं च-

अणत्तमूणोपरिया वित्तोसंतोयओ रसच्छाओ ।

कायकित्तो संलीणया य यज्जतो तपो होइ ॥८६॥

अभिगन्तरओ पुन पायच्छित्तादगो । तं जहा-

पायच्छित्तं पित्तो येयायच्चं तहेय सज्जताओ ।

ज्ञाणं उत्तमगो वि य अभिगन्तरओ तपो होइ ॥८७॥

संजमो य सत्तरसविहो । भणियं च-

पञ्चासत्तपेरमणं पञ्चिन्दियनिगहो कत्तायजओ ।

दण्डित्तगविरई संजमो उ इय सत्तरसमेओ ॥८८॥

तत्र शाश्वतिर्नाम सम्प्रदानपुण्यं धत्तुस्वभावलोचनेन क्रोहस्यानु-  
दयः, उदयप्राप्तस्य वा विफलीकरणम् । एवं मादंयमपि मानस्यानुदयः,  
उदयप्राप्तस्य वा विफलीकरणम् । एवं आर्जंयमपि मायाया अनुदयः,  
उदयप्राप्ताया वा विफलीकरणम् । एवं भुत्तिरपि लोभस्यानुदयः, उदय-  
प्राप्तस्य वा विफलीकरणम् । तपः पुनर्द्विविधम्-बाह्यः आभ्यन्तरश्च ।  
बाह्योऽन्यथादिकः । भणितं च-

अनशनमूनीदरिका वृत्तिसक्षेपो रसस्यागः ।

कायवशेः सलीनता च बाह्यं तपो भवति ॥८९॥

आभ्यन्तरः पुनः प्रायश्चित्तादिकः । तद् यथा-

प्रायश्चित्तं पित्तो येयावृत्त्य तथैव स्वाध्यायः ।

ध्यानमुत्तमोऽपि च आभ्यन्तरः तपो भवति ॥९०॥

संयमश्च सप्तदशविधः । भणितं च-

पञ्चाध्यायविरमणं पञ्चेन्द्रियनिग्रहः कयायजयः ।

दण्डियकविरतिः संयमस्तु इति सप्तदशभेदः ॥९१॥





संपादनरई जहोइयगुणजुतो रायरिसी समुवजाओ त्ति । एवं च अन्व-  
न्तागुरत्तं च पिपपमइणि पिव मेइणि भुंजन्तस्स अइवकन्तो कोइ  
फालो । एतन्तरम्मि सो अगिम्मतावसदेवो तओ विज्जुकुमारकायाओ  
चविज्जं संसारमाहिण्डिय अणन्तरमवे य किपि बालतवविहाणं काऊण  
भोत्तूण तं देहं पुप्फकम्मवासणादियागदोसेण समुप्पन्नो कुसुमावलीए  
कुच्छित्ति । दिट्ठो तीए सुमिणओ । जहा-पविट्ठो मे उयर भूयगमो,  
तेणं च निगच्छिऊण डवको राया निवडिओ सिधासणाओ । ॥ च दट्ठूण  
ससज्जसा विप विउद्धा कुसुमावली । अमगल त्ति कलिऊण न साहिओ  
तीए दइयस्स । पवडुमाणगग्गमा य तहोसओ चेव न बहू मन्नए नरवइ ।  
राया य अहिय सिणहवरवसं । भणिवा य परिपणेण 'सामिणि ! न  
जुत्तमेयं' ति । तीए भणिय- 'किमहू करोमि' ? । साहिय परिपणेण-  
जहा वेधं न बहू मन्नसि त्ति । तीए भणिय- 'नूनं एस गग्गदोसो भवि-  
स्सइ । अन्नहा कहमहं अज्जउत्तं न बहू मन्नेमि । अन्नया समुप्पन्नो से  
दोहलो, जहा-इमस्स चेय राइणो अन्ताणि राइज्ज त्ति । चिन्तियं च  
तीए-पावयारी मे एस गग्गो, ता अलं इमिणा । इत्थोसहावओ य भत्तार-

सपावसरत्तिर्यथोचितपुण्युत्तरो राजपिः समुपजात इति । एव चात्मन्ता-  
नुरक्ता च प्रियप्रणयिनीमथ मेदिनी भुञ्ज्यतीतिश्रान्तः कोऽपि कालः ।  
अमान्तरे सोऽग्निशर्मतापसदेवस्तदा विद्युत्कुमारकायाञ्ज्मुत्वा ससारमा-  
हिण्डयअनन्तरमवे च किमपि बालतपाविधानं कृत्वा भूक्त्वा तं देहं पूर्वंक-  
मेवासनादिपाकदापेण समुत्पन्नः कुसुमावल्याः कुक्षौ । दृष्टस्तया स्वप्नः ।  
यया-प्रविष्टो मे उदरं भुज्जगमः, तेन च निगत्य दृष्टो राजा निपतिती  
सिंहासनात्, तं च दृष्ट्वा साध्यसा इव विवृद्धा कुसुमावली । अमङ्गल-  
मिति कलित्वा न कथितस्तया दयितस्य । प्रवर्धमानगर्भा च तद्दीपत  
एव न बहू मन्यसे नरपतिम् । राजा चाधिकं स्नेहपरवशः । भणिता च  
परिजनेन-स्वामिनि ! न युक्तमेतदिति । तथा भणितम्-किमहं करोमि ? ।  
कथितं परिजनेन-यया देव न बहू मन्यसे इति । तथा भणितम्-नूनमेयं  
'गर्भदोषो भविष्यति । अन्यथा कथमहमार्यपुत्रं न बहू मन्ये । अन्यदा समु-  
त्पन्नस्तस्या दोहदः, यया-अस्यैव राज्ञोऽङ्गानि क्षादामीति । चिन्तितं  
च तथा-पावयारी मम एव गर्भः, ततोऽग्रमनेन । स्त्रीस्वभावतश्च मनु-

स्नेहो यः सम्पन्नो ते यजमानो, जज्ञा पात्रेण एवं ति । ततो आलो-  
चिजन पक्ष्मपरिष्ठापनं कञ्जतमयया एव अङ्गुलीया तेन गन्धपरिष्ठापनं  
काजमाख्या । न यः सो निरुद्धयस्मरतोनेन पञ्च ति । ततो सा अने-  
योतहपानेन दोहदासपत्नी एव परितुञ्जता जाता । पुच्छिया यः राज्ञा-  
मुन्दरि । किं ते न संपञ्चद, येन या ते राज्ञिया भाणा, किं या म-  
पटिन्नामासेविय, जं निम्नेएण तुमं अप्पोयगा निव कुमुदनी वि मिग्गमि  
ति ? । ततो पटिहियपत्तदनेहं भणिय कुमुमावलीए-अज्जजत्त । ईदियो  
मे निव्वेओ, जेण चित्तेमि 'अत्ताणयं थायाणमि' ति । राज्ञा भणिय-  
मुन्दरि । किं निमित्तो ति ? । कुमुमावलीए भणियं-अज्जजत्त ! भाण-  
धेयाणि मे पुच्छतु ति भणिऊण थाहजत्त मरियलीयणा समगया संवृत्ता ।  
ततो राज्ञा 'महन्तो ते निव्वेओ, ता अलं ताव ह्मिणा कहाए धेय, अहं एवं  
अवित्तामि' ति चिन्तित्तुण अवित्ता कहा, कओ अन्नो पत्तंगो । पुणो प्रसे  
समाहूओ मयणलेहापमूहो परिजणो, सबहुमाणं च भणितो राज्ञा । किं  
जुत्तं तुम्हाणं भुण्णिमनियन्धणाणं पि एवं कसिणपवसच्चन्दलेहं य परिति-  
ज्जमणिं देवि उवेदिसत्तं ति । न य असम्मयत्तुविसओएत्त निव्वेओ, अन्नो

स्नेहतश्च समुत्पन्नस्तस्य व्यसयाः, यथा पातयाम्येवमिति । तत आलोच्य  
प्रधानपरिजनं कार्यगुरुतयाऽनुज्ञाता तेन गन्धपरिष्ठापनं कर्तुमारब्धम् । न  
च सनिकाचितकर्मदीपेण पततीति । ततः साङ्गेकीपधपानेन दोहदास-  
प्राप्त्या च परितुञ्जता जाता । पुच्छा च राज्ञा-मुन्दरि । किं ते न संपद्यते,  
केन वा त्वं खण्डिताऽऽज्ञा, किं वा मया प्रतिभूतमासेवितम्, यद् निर्वे-  
देन त्वमल्पोदका इव कुमुदिनी एवं क्षीतसे इति । ततः प्रतिहृदयराग्य-  
स्नेहं भणितं कुमुमावल्या-आर्यपुत्र ! ईदृशो मे निर्वेदः, येन चिन्तयामि  
'आत्मानं व्यापादयामि' इति । राज्ञा भणितम्-मुन्दरि ! किं निमित्तं  
इति ? । कुमुमावल्या भणितम्-आर्यपुत्र ! भागधेयानि मम पुच्छ इति  
भणित्वा चाप्यजत्तमुत्तलोचनां समदग्दा संवृत्ता । ततो राज्ञा 'महान्  
तस्य निर्वेदः, ततोऽलं तावदनया कथया एव, अहमेतामाक्षिमापि' इति  
चिन्तयित्वाऽऽक्षिप्ता कथा, कृतोऽन्यः प्रसङ्गः । पुनश्च तस्या समाहूतो  
मदनलेखाप्रमुखः परिजनः सबहुमानं च भणितो राज्ञा । किमुक्तं  
युष्माकं श्रुतनिबन्धनानामपि एव कृष्णपक्षचन्दलेखामिव परितिष्ठमानो  
ति ? । न चासाध्यवस्तुविषय एव निर्वेदः, यतो

धीमतीयत्तारमूया मे देवी । किं च तं वत्स्यं, जं मे पापेभ्यः परमेभ्यः देव  
 देवी न संपद्यते इति । मयमतेहाए मयमतेहाए मयमतेहाए । एवमेव ; नव-  
 र्निर्माययनमुत्तमो अयमेवो देव केवतं एव अयमतेहा । ता मुप-  
 मयाराधो । मयाराध । न एवमिमाणि वि कर्तुं धारीयह, तदा वि 'म  
 भयो जयाओ' इति काज्ज बहीयह । राहणा मयमतेहा-अयमतेहामेव तम-  
 माग ; न जयायतातं तं तयमेव कीरह, इयम निवेदयह इति, ता कर्तुं  
 कोई, को एव परमाथो इति ? । तयो मयमतेहाए तममागताए विम  
 आर्वाविताओ तममतेमवाओ होहमयदेतेन तममताहनावगाओ बवटारी  
 इति । राहणा धितित्यं-अहो ! ते देवीए मयोधार अताहाराओ नहो,  
 जंवाववज्जमं वि न वहु मयह इति । अतपायनन च वाहसपरा मा  
 तामविमती ते मयिरतह इति जयाव धितेयि । दिताज्जमो यत्तेन 'अमह  
 काओधियं मयिरतामि, ततहावाय्य' इति अयिज्जम देवीपरिपयो । राह-  
 णो मयतामरो माम मयमतेओ । तिष्ठो इयम एव वुत्तमो । धितित्यं च  
 तं, जूतं देवीए वयसियं । अहवा मा ग इमिना जयाएव तंमे वि देहपीसा  
 विविराह । ता एव ताव एव जयाओ-अमुत्तमपरातराहो वारिया अता

बोदमोक्तार-भूता मे देवी । किं च तं वत्स्यं, जं मे पापेभ्यः परमेभ्यः देव  
 देवी न संपद्यते इति । मयमतेहाए मयमतेहाए मयमतेहाए । एवमेव ; नव-  
 र्निर्माययनमुत्तमो अयमेवो देव केवतं एव अयमतेहा । ता मुप-  
 मयाराधो । मयाराध । न एवमिमाणि वि कर्तुं धारीयह, तदा वि 'म  
 भयो जयाओ' इति काज्ज बहीयह । राहणा मयमतेहा-अयमतेहामेव तम-  
 माग ; न जयायतातं तं तयमेव कीरह, इयम निवेदयह इति, ता कर्तुं  
 कोई, को एव परमाथो इति ? । तयो मयमतेहाए तममागताए विम  
 आर्वाविताओ तममतेमवाओ होहमयदेतेन तममताहनावगाओ बवटारी  
 इति । राहणा धितित्यं-अहो ! ते देवीए मयोधार अताहाराओ नहो,  
 जंवाववज्जमं वि न वहु मयह इति । अतपायनन च वाहसपरा मा  
 तामविमती ते मयिरतह इति जयाव धितेयि । दिताज्जमो यत्तेन 'अमह  
 काओधियं मयिरतामि, ततहावाय्य' इति अयिज्जम देवीपरिपयो । राह-  
 णो मयतामरो माम मयमतेओ । तिष्ठो इयम एव वुत्तमो । धितित्यं च  
 तं, जूतं देवीए वयसियं । अहवा मा ग इमिना जयाएव तंमे वि देहपीसा  
 विविराह । ता एव ताव एव जयाओ-अमुत्तमपरातराहो वारिया अता



ति ? । ततो सतञ्जसाए वेधमाणीए भणियं माहविद्याए 'देव । न किंचि'  
ति । एत्यन्तरमि दद्वयं बालेन । ततो दारय दट्ठूण कुविणेष्वेव भणिय  
राइणा-आ पावे । किमेयं वयसियं ति ? । ततो बीसहायकामरप्पाए  
साहिओ सफलवृत्तन्तो माहवीयाए । ततो राइणा गहिओ दारओ ।  
चिन्तियं च नेण, च एस एयाण हरये पुणो भविस्सइ ति । समप्पिओ  
अप्रघावीणं तावियाओ य ताओ । जइ कहवि दारयस्स पमाओ भवि-  
स्सइ, ता विणट्ठा मम हस्पाओ सुग्गे । निभमच्छिमा देवी महत्तामरो य,  
कारावियं च देवीमन्तिचित्तानुरोहणा ईसि पच्छन्नभूय तहाविय पट्ठा-  
वणयं । एयं च अइयकन्तो कोइ कालो । पइट्ठाविय नाम दारयस्स आणन्धो  
ति । वड्ढिओ एसो, गाहिओ फलाफलाय । पुब्बकम्मदोसेण नरवइ पइ  
वित्तमचित्तो । दिअ से जुवरज्ज ॥

अतथा पचवत्तवासी आटविओ दुम्मई नाम सामन्तराया दुग्गमू-  
मियलपग्गिओ विरयवको सीहरामरस । निवेइय राइणो । विसम्भिमो तेन  
तासुवरि विवलेयो । समूमिबलगुणं च सो परामिओ तेन । निवेइय य  
कुविओ राया, पयट्ठो सयमेव अमारतेन । गओ पयाणयत्तिय । एत्यन्तरमि

इति ? । ततः ससाध्वसया वेधमानया भणित माघविद्या 'देव । न  
किंचिद्' इति । अत्रान्तरे च ददित बालकेन । ततो दारक इष्ट्वा कुपि  
तेनैव भणितं राज्ञा-आः पावे । किमेतद् स्वरचितम् इति । ।  
ततः ततोस्वभावकातरतया कथितः सकलवृत्तान्तो माघविद्या ।  
ततो राज्ञा गृहीतो दारकः । चिन्तित च तेन, नैव एतासां हस्ते पुन  
(बीविप्यति) भविष्यतीति समरितोऽप्यघात्रोनाम्, धावितारयता । योद  
वयमपि दारकरय प्रमादो भविष्यति, ततो विनष्टा मम हस्तादसूयम् ।  
निभंसित्ता देवी मत्तिसागररय, कारित च देवीमन्त्रिनितानुरोधिना ईप-  
प्रच्छन्नभूय तयावध वड्ढोऽनकन् । एइ वातिनात्तः कोर्जप कालः । प्रति  
प्यापित नाम दारयस्स आनर इति । वड्ढित एयः, घाहितः बभूवनायम् ।  
दुर्बलमदोसेण नरपात्रि प्रति विरयचित्तः । दत्त तस्य बीवराजम् ॥

अतथा श्रवणव्यासी आटविओ दुम्मैतिनाम सावन्तराओ दुर्दमू-  
मियलपग्गिओ विवलेयः सिहरामरस । निवेदित राज्ञः । विरयित्तेन तस्मा-  
परि विवेर । स्वभूमिबलगुणेन च स परामित्तेन । निवेदिते च कुविओ  
राया श्रवणः स्वयमेवामदेय । ततः श्रवणवचित्तम् । अत्रान्तरे

सिन्धुनदीपुलिगो परिवहन्ते प्रयाणत् करिषरोपरिद्विपुणं जलाभो ना-  
 दूरे 'अहो कष्टम्' इति जंतिरं विदुः मनुययन्त्रं । गतो तं चेय भूमि-  
 भाग राया जाय विद्वो तेन महाकाभो अदकसिणवेहृच्छयो विनि-  
 नयणवित्तजान्नामासुरो गहियरसन्तमण्डुवकमागो भयानमधिपरियाण-  
 युपेच्छो दुयपरपवेत्तिरगो महया कुररेण गतिजमानो जुणभुयगमो,  
 कुररो वि विगणयकरोदकाएण रसच्छयोमच्छएणं अयगरेण । जहा महा  
 य अयगरो कुरर गताइ, तथा तथा सो वि जुणभुयगमं, जुणभुयगमो  
 वि य रसन्तमण्डुवकय इति । त चेय एवविहं जीयलोयतहायविभमं मू-  
 हियमाणवकारय सत्पुतिरसनिवेयहेज वदयरमवलोदऊण वित्तणो राया ।  
 चिन्तयं च नेनं, हन्त ! एय वयस्मिह को उण इह उवाओ ? । गतिज-  
 म्पाभो कुररो अयगरेणं, कुररेण वि भुयगमो, भुयगमेण मण्डुवको सित कष्ट-  
 गमपाणा वि एते न अन्नोन्न विरमन्ति, अवि य अहियपरं पयत्तन्ति, न  
 अन्नपरविणासणाए मोयाविद्या एए सपयं जीवन्ति । ता कि इमिणा अपवि-  
 पारगोमरेण वस्तुना पुलोदएणं । तज्जाविओ मत्तवारणो, गतो आवासनि-  
 याभूमि, आवासिओ सह कष्टएणं, कयं उचियकरणिज्जं । तओ मद्धसोणा

सिन्धुनदीपुलिने परिवहमाने प्रयाणके करिषरोपरिस्थितेन जलाद् ना-  
 दूरे 'अहो कष्टम्' इति जल्पद् दृष्ट मनुजवृन्दम् । गतस्तमेव भूमिभा-  
 राजा यावद् दृष्टस्तेन महाकायोऽतिकृष्णदेहृच्छवि विनियंसयनावपञ्चा-  
 लामासुरो गृहीतरसद्मण्डुकप्राप्तो भयानकविवरिताननदुष्प्रेक्ष्यो द्रुततर-  
 प्रवेपमानाङ्गो महता कुररेण ग्रस्यमानो जीर्णभुजङ्गमः, कुररोऽपि  
 दिग्गजकरोदकायेन रमताक्षशीभस्तेनाजगरेण । यथा यथा च अजया  
 कुररं ग्रसते, तथा तथा सांऽपि जीर्णभुजङ्गमम्, जीर्णभुजङ्गोऽपि  
 रसद्मण्डुकमिति । तदेव एवविध जीवलाकस्वभावविभ्रमं मूढहृदयानां  
 कारक सत्पुरुषनिर्वेदहेतु व्यतिकरमयलोचय विपण्णो राजा । चिन्तित-  
 तेन, हन्त ! एव व्यवास्थते कः पुनरिहोपायः ? प्रसितप्रायः कुररोऽज-  
 गरेण, कुररेणापि भुजङ्गमेनापि मण्डुक इति । कण्ठगतप्राणा अप्ये-  
 नान्योन्य विरमन्ति, अपि चाधिकतर प्रवर्तन्ते, न चान्यतरदिना-  
 गया मोचिता एते साम्प्रत जीवन्ति । चरिक्मनेनाप्रतीकारगोचरे  
 वस्तुना प्रलोकितेन । तद् यापितो मत्तवारणः, गत भावसन्नि-  
 वासः सह कटकेन, कृतमुषितकरणीयम् । ततोऽप्यंक्षीना

गमिणीए सुसविजडो राजा । अयगराइवइयरं सरिरुण चिन्तिबं  
पत्तो । कहं-

आवायभेत्तमहुरा वियागविरसा विसोवमा विसया ।

अबुहजणाण बहुमया विबुहजणविचज्जिया पावा ॥८९॥

एपापनेस लोओ कएण मोत्तूप सासयं धम्मं ।

सेवेइ जीविदरयं विसं य पायं सुहानिरजो ॥९०॥

दुयलं पावस्स फलं नासओ पापस्स दुद्विजओ निच्छं ।

सुहियो वि कुणउ धम्मं धम्मस्स फलं वियाणन्तो ॥९१॥

मण्डुपको इव लोओ सुच्छो इयरेण पन्नएणं य ।

एत्य गसिज्जइ सो वि हु कुररसमाणेण अत्तेण ॥९२॥

सो वि हु न एत्य सवसो जम्हा जयनरदयन्तवसगो ति ।

एयंविहे पि लोए विसायपसंगो महामोहो ॥९३॥

ता अलं मे अगेयदुसत्तवबीयभूएण ज्जो।पुरिसिगाधिकारपाएणं रज्जेनं  
॥ राजं हि नाम पापालं पियदुप्पूर, जिण्णभवणं पिय सुलहविदरं,

गमिन्या सुसविजडो राजा । अजगरादिग्यतिकर स्मृत्वा चिन्तयितु  
वृत्तः । कथम्-

आपातमात्रमधुरा विपाकविरसा विषोपमा विषयाः ।

अबुधजनानां बहुमता विबुधजनवजिता. पापाः ॥८९॥

एतेषामेव लोकः कृतेन भुक्त्वा घातयत धर्मम् ।

सेषते जीवितापी विषमिव पाप सुहानिरतः ॥९०॥

दुष्टं पापस्य फलं नाशको पापस्य दुःखितो नित्यम् ।

मुचितोऽपि करोतु धर्मं धर्मस्य फलं विजानन् ॥९१॥

मण्डूक इव लोक्स्तुच्छ इतरेण पद्मगेनेव ।

अत्र प्रस्यते सोऽपि खलु कुररसमानेनान्येन ॥९२॥

सोऽपि खलु नात्र स्ववशो यस्मादजयनरदयन्तवशय इति ।

एवंविधेऽपि लोके विषयप्रसङ्गो महामोहः ॥९३॥

एतोऽलं मेजेवदुसत्तवबीयभूतेन आहोपुसद्विवाधिकारप्रायेण राजं  
ति । राजं नाम हि पातालमिव दुप्पूरम्, औपमयनमिव मूलभविषरा



राज्याहितेयं ततो गमिष्यामि धर्मधोपमयसमीपमिति । एवं च चिन्तयन्तो  
अहितेयदिनं पठिच्छमागो विदुः ॥

इतो य पुत्रकयस्कम्बोसतो अमुनिपनरिन्द्राहिण्यातो पटितो  
कुम्भइणा सह आनन्दकुमारो । मन्त्रितं च तेहि 'कहंति वञ्चनाप्रयोगेण  
व्यापामो महाराजम्' इति । सुतो अहितेयमुत्तन्तो । मिच्छाहिनिवेशेन त्वि  
सबुद्ध्याए म विपरीतो परिणतो आनन्दस्य । चिन्तितं च तेन-  
नूनमहमनेन एतेन व्यपदेशेन मारितुं व्यवसितो । ततः कथमहमेवं वञ्चये  
मणेन इमिणा वयएतेन मारितुं व्यवसितो । ता कहमहमेवं छलित्वाभि ।  
अह्या सत्यए वि एयस्मि वृत्तान्ते अल मे राज्ञेन, यन्मे एतेन दत्तं सप-  
यते । तं पुन सत्तहनिज्ज, जमेयं याजाइऊण बत्ता घेप्पइ ति । एत-  
न्तरेस्मि सदायितो राज्ञा आनन्दो । जाय नेच्छइ आगन्तुं, ततो पटि-  
हारबुद्धो गतो कुमारभवन राजा । तेनापि च 'न इति सुन्दरतर  
प्रस्तावो' इति कलकलत्वा पूर्वानुशयदोषेण सहसा 'हण हण' इति मणिज्ज  
उत्तायासिणा अकम्पपरिवलणोपायो सुविस्तृतचित्तो पटिहारं व्यापइऊण  
गाढप्रहारीकतो राजा । एतन्तरेस्मि समुत्थाइतो कलकलो, संजातो  
मगरसेनसंज्ञोहो, परिवेष्टितो समन्ततो रायसाहणेन आनन्दो, पारतो  
राज्याभिपेक ततो गमिष्यामि धर्मधोपमयसमीपमिति । एवं चिन्तयन्  
अभिपेकदिनं प्रतीक्षमाणस्तिष्ठति ॥

इतद्वच पूनरुक्तकर्मदोषतोऽज्ञातनरेन्द्राभिप्रायो पटितो दुर्मन्त्रितो  
सहानन्दकुमारः । मन्त्रितं च ताम्या 'कथंचिद् वञ्चनाप्रयोगेण व्यापा-  
व्यामो महाराजम्' इति । श्रुतोऽभिपेकवृत्तान्तः । मिष्याभिनिवेशेन  
स्वचित्तदुष्टव्या च विपरीतः परिणत आनन्दस्य । चिन्तितं च तेन-  
नूनमहमनेन एतेन व्यपदेशेन मारितुं व्यवसितः । ततः कथमहमेवं वञ्चये  
मयया सत्येऽपि एतमिन् वृत्तान्ते अल मे राज्ञेन, यन्मे एतेन दत्तं सप-  
यते । तत्पुनः इलापनीयम्, यदेतं व्यापाय बलाद् गृह्यते इति । अत्र  
न्तरे पट्टापितो राजा आनन्दः याचइ नेच्छति आगन्तुम्, ततः प्रतीहार  
द्वितीयो यतः कुमारभवन राजा । तेनापि च 'न इति सुन्दरतर  
प्रस्तावः' इति कलकलत्वा पूर्वानुशयदोषेण सहसा 'हण हण' इति  
मणित्वा उत्तायासिनाऽकृतपरिवलणोपायः सुविस्तृतचित्तः प्रतीहार  
व्यापाय गाढप्रहारीकतो राजा । अत्रान्तरे समुत्थितः कलकलः, संजातं  
मगरसेनसंज्ञोऽपि, परिवेष्टितः समन्ततो राजसायनेनानन्दः, प्रारब्ध

मंगमो । ततो राज्ञा निजसरीरद्रोहपपेन घापित सैन्यम् । भणितं च  
 मेव । किं मे इयानि जुगुप्सुणं ? अहं तावद् व्यापादित एव द्रष्टव्यः, मा  
 एवमपि व्यापादयत, ततः क्रुद्धं राज्याभिषेकमेतत्, एव युष्माकः  
 राज्ञेति । अत्रान्तरे समाजप्तो दुर्मेति : 'वधान त निविद्यगन्धेः, ततो  
 'वदक्रुमार आत्मापयति' इति भणित्वाऽऽसन्नीभूतश्च तस्य दुर्मेति : ।  
 पात्रिताः कुलपुत्रकाः, निर्भंस्सितो नागरजनः । ततो बन्धयित्वा प्रत्य-  
 'यितपुरुषः सुकृतपरिरक्षणोपायः कृतो राजा । अधिष्ठित राज्यम्,  
 स्थापिता व्यवस्थाः, वशीकृत समान्तमण्डलम् । ततोऽनुशयवशेन नायितो  
 मगरधारकं नरपतिः । सञ्चारयन्तनिर्मध्यमानपुरीषकलमलबन्ध स्फुटि-  
 तमिति प्रसुप्तसरीसृपं भणमनायमानमशकमशिकाजालं दरोविवरमुत्त-  
 विनिगंतमुपकोत्कर उपरिविलम्बमानोरगनिर्मोकं लूतातन्तुविरचितवि-  
 तानकं, वासगृहमिव दुःपमायाः, लीलाभूमिरिवाधमंस्व, सहोदरमिव  
 सीमन्तकस्य, सखा इव सर्वदुःखसमुदयानाम्, विश्वासभूमिरिव  
 भूत्योः, सिद्धिदेत्रमिव कृतान्तस्वैव । ततो 'महाचारकं नीतो देवः'  
 इति श्रुत्वा सहसा विमुक्तकण्ठभैरवं अनवरतनिपतद्भिर्भङ्गभूषता-

संधामः । ततो राजा निजसरीरद्रोहपपेन घापित सैन्यम् । भणितं च  
 तेन किं युष्माकमिदानीं युद्धेन, अहं तावद् व्यापादित एव द्रष्टव्यः, मा  
 एतमपि व्यापादयत, ततः क्रुद्धं राज्याभिषेकमेतत्, एव युष्माकः  
 राज्ञेति । अत्रान्तरे समाजप्तो दुर्मेति : 'वधान त निविद्यगन्धेः, ततो  
 'वदक्रुमार आत्मापयति' इति भणित्वाऽऽसन्नीभूतश्च तस्य दुर्मेति : ।  
 पात्रिताः कुलपुत्रकाः, निर्भंस्सितो नागरजनः । ततो बन्धयित्वा प्रत्य-  
 'यितपुरुषः सुकृतपरिरक्षणोपायः कृतो राजा । अधिष्ठित राज्यम्,  
 स्थापिता व्यवस्थाः, वशीकृत समान्तमण्डलम् । ततोऽनुशयवशेन नायितो  
 मगरधारकं नरपतिः । सञ्चारयन्तनिर्मध्यमानपुरीषकलमलबन्ध स्फुटि-  
 तमिति प्रसुप्तसरीसृपं भणमनायमानमशकमशिकाजालं दरोविवरमुत्त-  
 विनिगंतमुपकोत्कर उपरिविलम्बमानोरगनिर्मोकं लूतातन्तुविरचितवि-  
 तानकं, वासगृहमिव दुःपमायाः, लीलाभूमिरिवाधमंस्व, सहोदरमिव  
 सीमन्तकस्य, सखा इव सर्वदुःखसमुदयानाम्, विश्वासभूमिरिव  
 भूत्योः, सिद्धिदेत्रमिव कृतान्तस्वैव । ततो 'महाचारकं नीतो देवः'  
 इति श्रुत्वा सहसा विमुक्तकण्ठभैरवं अनवरतनिपतद्भिर्भङ्गभूषता-

रज्जाहिसेयं ततो गमिस्तामि धम्मघोसगुहसमीवंति । एवं च चित्तपन्नो  
अहिसेयविपं पडिच्छमाणो चिद्वुद ॥

इतो प पुनरुत्तमकम्मदोसओ अमुणियनरिन्दाहिप्पाओ धरिओ  
हुम्मइणा सह आणन्दकुमारो । मन्तिमं च तेहि 'कहंवि यञ्चणापओए  
वायाओ महाराजं' ति । सुओ अहिसेयवृत्तन्तो । मिच्छाहिनिवेसेण सवि  
त्तवुदुयाए य विपरीओ परिणओ आणन्दस्स । चिन्तिमं च तेन-नूनह  
मणेण इमिणा यवएसेण भारितं यवसितओ । ता कहमहमेवं छित्तज्जावि ।  
अहया सच्चए वि एयम्मि वृत्तन्ते अलं मे रज्जेन, जं मे एएण दिवं सं-  
एवइ । तं पुण सत्ताहणिज्जं, जमेयं वायाइअण यत्ता येप्पइ ति । एए-  
स्तरमि सदाविओ राइणा आणन्दो । जाय नेच्छइ आगन्तुं, ततो पडि  
हारवुदओ गओ कुमारमयणं राया । तेन वि य 'न इओ सुन्दरतणे  
परयाओ' ति कात्तिअण पुत्ताणुसयदोसेण सहसा 'हण हण' ति भगिज्ज  
उवत्तायातिणा अकपपरिरवणोयाओ सुविस्सयचित्तो पडिहारं वायाइअ  
गाइव्वहारीकओ राया । एएयन्तरम्मि समुदुइओ कलमत्तो, संजाओ  
मयरसेनसंजोहो, परिबेडिओ समन्तओ रायसाहणेण आणन्दो, पाउं  
राज्याभिपेकं ततो गमिप्पामि धम्मघोसगुहसमीपमिति । एव चित्तप  
अभिपेकादिन प्रतीक्षमाणस्तिष्ठति ॥

इत्थं पुनरुत्तमकम्मदोसतो ज्ञातनरेन्द्रामिप्रायो धटितो दुमंतिन  
सहानन्दकुमारः । मन्त्रित च ताम्ना 'कयविद् वञ्चनाप्रयोगेण व्यापा  
दयामो महाराजम्' इति । श्रुतोऽभिपेकवृत्तान्तः । मिच्छाभिनिवेसे  
स्वचित्तदुष्टतया ॥ विपरीतः परिणत आनन्दस्य । चिन्तितं च तेन  
नूनमहमनन एतेन स्वपदेजेन भारितुं स्वयसितः । ततः कयमहमेव वञ्चये ।  
अथवा सत्येऽपि एतमिन् वृत्तान्ते अलं मे राज्येन, यन्मे एतेन दत्तं वप-  
यते । तत्पुनः दत्तापनीयम्, यदेतं व्यापाय यत्ताद् गृह्यते इति । अत्रा-  
स्तरे धन्दायितो राज्ञा आनन्दः व्यापद् नेच्छति आगन्तुम्, ततः प्रतीहार-  
द्वितीयो यतः कुमारभवनं राज्ञा । तेनापि च 'न इतिः सुन्दरतण  
वस्ताव' इति कलमित्वा पुनरनुसयदोषेण सहसा 'एतत् एतत्' इति  
भगिन्वा उवाचानिनाऽहूनपरिरवणोपायः सुविस्सयचित्तः प्रतीहारं  
व्यापाय पाइव्वहारीकतो राज्ञा । अनान्तरे समुदितः कलकलः, संजाओ  
मयरसेनसंजोभ., परिबेष्टित. समन्ततो राजसाधनेनानन्दः, प्रारम्भः







वर्तितव्यं कर्मणं चेत् त्वं माम् देवो, तं च पुरिमगारत्रेयमेव वद-  
ति । ता अत्राग्नेय देवो पुरिमगारं, करोत आहारग्रहणं । जीवमानो हि  
पुरिमो सगिह्मणात्वं अग्र्यं देव ! तंयमे वदते इति । राइणा भगि-  
यो देवगम्य । न भुवतो मां नेष अत्राकाशगुणो पुरिमगारो । परि-  
वृत्ता य भावभो पश्यता । अतो न संपदाभिलापपरं मे वित्तम् । उचित-  
कालं च मात्रं वदितुं अगमनं । अतो न आहारग्रहणं करोमि इति । तेन  
भगितम्-अक्रियमाणं आहारग्रहणे सुतो ते कुपिष्यति । राइणाभगितम्-  
अकारणो मे कोपो, सत्यप्रतिज्ञा नृ तपस्विनो ह्यग्नि । तेन भगितम् देव !  
विदितवृत्तान्त एव त्वं कुमारपरितस्य, ततो मा तं प्रमादं करोमि ।  
एतद्यत्तरिम् 'चिरायद् देवगम्यो'ति संज्ञायामरितयेनो घेतुं सत्तं  
भागभो भागवो । भगितं च तेन-जड न आहारग्रहणं करोति, ता इमिना  
कयन्तजीहाणुकारिणा करवालेन सीतां ते छिनत्ति । राइणा भगितम्-

जाणन्तो मरणन्तं देहावासं अराशयमसारं ।

को उद्विष्टज्ज नरवर ! मरणस्स अयस्स गन्तव्ये ॥१४॥

पाजितानां कर्मणामेवेत्तन्नाम् दैवम्, सत्यं पुरुषाकारज्यमेव वर्तते इति ।  
ततोऽवलम्ब्यता देवो पुदपकारम्, करोतु आहारग्रहणम् । जीवन् हि पुरुषो  
सङ्गमिस्वाऽप्यदं अवश्यमेव सपदं प्राप्नोतीति । राजा भगितम्-भो देव  
धर्मन् ! न भुवत एव मया यथाकालानुरूपः पुदपकारः, प्रतिपन्ना  
भावतः प्रसज्या । अतो न संपदभिलापपरं मे वित्तम् । उचितकालं च  
जात्वा प्रतिपन्नमनशनम् । अतो न आहारग्रहणं करोमि इति । तेन  
भगितम्-अक्रियमाणं आहारग्रहणे सुतस्तुभ्यं कुपिष्यति । राजा भगि-  
तम्-अकारणस्तस्य कोपः, सत्यप्रतिज्ञाः सल्लु तपस्विनो भवन्ति । तेन  
भगितम्-देव ! विदितवृत्तान्त एव त्वं कुमारपरितस्य, ततो मा तं  
प्रमादं कार्षीत् । अनन्तरे 'चिरायते देवधर्मा' इति संज्ञायामप्येवो-  
गृहीत्वा सङ्गममागत आनन्दः । भगितं च तेन-यदि नाहारग्रहणं करोपि-  
ततोऽनेन कृताभ्तजिह्वानुकारिणा करवालेन सीतां ते छिनत्ति । राजा  
भगितम्-

आनन् मरणान्तं देहावासमसादवत्तमसारम् ।

को उद्विष्टाद् नरवर ! मरणादवश्यमन्तव्ये ॥१४॥

गन्धपमिदमावीर्द्धं सलिलच्छेदं सरं यं सूतन्तं ।  
 अणुसमयं मरमाणं जियइ त्ति जणो कहं नणइ ? ॥९५॥  
 संपत्तिययाण परलोगमेगसत्थेण सत्थियाणं ।  
 णइ तत्थ कोइ पुरयो यच्चइ भयकारणं किमिह ? ॥९६॥  
 जीयमणिच्चमवस्सं मरणं ति मपन्मि निच्छयं जस्स ।  
 सुणाधारपमुत्तं य का आत्ता जीविए तस्स ? ॥९७॥  
 हंवि ! जराधणुहृत्यो चाहित्तयविइण्णसायगो एइ ।  
 मानुसमयजूहवहं धिहाणवाहो करेमाणो ॥९८॥  
 न गणोइ पच्चवायं न य पडियारं चिराणुवत्ति वा ।  
 सच्चन्दसुहं विहरइ हरिं स्व मच्चू मयकुलेसु ॥९९॥  
 एके च्चिय निद्विण्णा पुणो पुणो जाइउं च मरिउं च ।  
 जे भयमच्चुद्विग्गा भयरोगहरं अणुचरन्ति ॥१००॥  
 जरमरणरोगसमणं जिणवयणरत्तायनं अमयसारं ।  
 पाउं परिणामसुहं नाहं मरणस्स वीहेमि ॥१०१॥

गन्धपमिदमावीर्द्धं सलिलच्छेदे सरं इयं सूतन्तं ।  
 अनुसमयं म्रियमाणं जीवतीति जनः कथं भणसि ? ॥९५॥  
 संपत्तिप्राप्तानां परलोकमेकसायेण साधिकाणां निव ।  
 यदि तत्र कोऽपि पुरतो यजति भयकारणं किमिह ? ॥९६॥  
 जीवितमनित्यमवश्यं मरणमिति मनसि निश्चयं यस्य ।  
 सुतागारपशोरिव काञ्चता जीविते तस्य ? ॥९७॥  
 हन्त ! जराधनुर्हस्तो व्याघ्ररात्रवितीर्णसामक एति ।  
 मानुषमुगमूषयधं प्रभातव्याघ्रः पृथक् ॥९८॥  
 न गणयति प्रत्यवायं न च प्रतिकारं चिरानुवृत्ति वा ।  
 स्वच्छन्दसुखं विहरति हरिरिव मृत्युर्भुगकुलेषु ॥९९॥  
 एके एव निद्विण्णाः पुनः पुनर्जनितुं च मर्तुं च ।  
 ये भवमृत्युद्विग्गा भयरोगहरमनुचरन्ति ॥१००॥  
 जरामरणरोगसमनं विनयचनरसाजनममृतसारम् ।  
 वाप्य परिणामसुखं नाहं मरणाद् विभेमि ॥१०१॥



शोषितपापमत्तानां परित्याज्यवन्धनलोहनिषत्तानां ।  
 किं पुनरुक्तं कालमरणं मरणपरिहारं मनुष्याणां ॥१०२॥  
 अजिततपोधनानां कलेवरहरे वि निष्पिपासाणां ।  
 संलिखितसरीराणां मरणं निगरं सुविहितानां ॥१०३॥  
 शुगहियतपस्तपसा निष्पिपित्तजग निषमेण अप्पानं ।  
 मरणं मार्गन्ति मनोरहेहि धीरा धृतिस्तदायाः ॥१०४॥  
 जहस नवस्तोमयरो सगो मोरतो ॥ होद निषमेण ।  
 मरणं वि तस्य नरवर । उत्तमभूतं मनुष्यस्य ॥१०५॥  
 अजितरयरो ममासुरयराजयिराणुगमदीहयादस्य ।  
 एतन्ममोपा मुच्यते कथन्तुहृत्तिथिभिर्मि अग्नौ भयं वा  
 न वि जुह्व न पलाय कथन्तुहृत्तिथिभिर्मि अग्नौ भयं वा  
 म म रो दीतद हस्तो गेहृद म दत्तं अमोयतो य ॥१०७॥  
 जह पा लुगाद सासाद कासजो परिणयाद कालेन ।  
 ह्य भूयाद कथन्तो लुणाद जायादं जामादं ॥१०८॥

एवमुपापमत्तानां परित्याज्यवन्धनलोहनिषत्तानां ।  
 किं करोति कालमरणं कृतप्रतिकारं मनुष्याणां ? ॥१०२॥  
 अजिततपोधनानां कलेवरगृहेऽपि निष्पिपासाणां ।  
 संलिखितसरीराणां मरणमपि गरं सुविहितानां ॥१०३॥  
 शुगहोततपस्तपसा निषेक्ष्य निषमेनात्मनानां ।  
 मरणं मार्गन्ति मनोरथे धीरा धृतिस्तदायाः ॥१०४॥  
 यस्य मृतस्यैकतरः स्वर्गो वा भवति निषमेन ।  
 मरणमपि तस्य नरवर । उत्तमभूतं मनुष्यस्य ॥१०५॥

मापि युद्धं न प्रलापं कृतान्तहस्तिनि अर्पति भयं वा ।  
 न च तस्य दृश्यते हस्तो गूह्याति च ददममोदादय ॥१०७॥  
 यथा वा लुनाति सस्यानि कथं कः परिणयानि कालेन ।  
 इति भूतानि कृतान्तो लुनाति जातानि जातानि ॥१०८॥

नृदं ताव मच्चुपासा सच्छन्दसुहं सुरेभु विचरन्ति ।

॥२॥ अचन्तमनोपारो जत्य जरारोगवाहीणं ॥१०९॥

किं पुन याहिजरारोगसोगनिच्छुद्दुयम्मिमाणुस्ते ।

॥ मच्चुस्त सो पमाओ जं जियइ नरो-निमेसं पि ॥११०॥

ता मा यधीरजनसेवियस्त अयसस्त देहि उ (अ) ययासं ।

न ह, मच्चुदाटलीढं इन्द्रो वि पृह नियत्तेजं ॥१११॥

इय मपमारणमेत्तेण वच्छ । मा नियकुलं कलङ्केहि ।

गण्ढामि पणं चत्तं हन्त । सयायाए आहारं ? ॥११२॥

सोऊण इयं ययणं कोपाणलजलियरत्तनयणेण ।

‘जंपइ अज्जाऽवि कहं’ पहाओ सीसम्मि खग्गेणं ॥११३॥

परिचिन्तितं च तेण ‘नमो जिणाणं’ ति मुणियत्तत्तेणं ।

‘पुब्बकयस्सम्मदोसो एसो’ ति विसुद्धभावेणं ॥११४॥

सत्तो पुब्बकायणं दम्मार्णं पायए फलवियत्तं ।

शयराहेतु गुणेषु य निमित्तगोतां परो होइ ॥११५॥

यदि तावन्मत्स्यपांशाः स्वच्छन्दसुहं सुरेषु विचरन्ति ।

अत्यन्तमनवतारो यत्र जरारोगव्याधीनाम् ॥१०९॥

किं पुनर्व्याधिंजरारोगशोकनित्योद्भूते मानुषे ।

मृत्योः स प्रमादो मज्जीवति नरो निमेषमपि ॥११०॥

ततो माऽधीरजनसेवितस्यायशसो देहि अवकाशम् ।

॥ न. प्रलुः मृत्युदाटलीढं इन्द्रोऽपि प्रभुनिवर्तमितुम् ॥१११॥ ॥

‘इति मृतमारणमात्रेण वरसः । मा विजकुलं कलङ्कय ॥११२॥

गूढ्याभि कथं त्यक्तं हन्त । स्ववाचा आहारम् ॥११३॥

भुत्वेद वचनं कोपाणलज्जलितरक्तनयनेन ।

जल्पति अद्यापि कथं ग्रहतो पीपे खग्गेन ॥११३॥

परिचिन्तितं च तेन ‘नमो जिनेभ्यः’ इति ज्ञाततत्त्वेन ।

पूर्वकृतकर्मदोष एव इति विसुद्धभावेन ॥११४॥

सर्वः पूर्वकृतानां कर्मणां प्राप्नोति फलविपाकम् ।

अपराधेषु गुणेषु च निमित्तमात्रं परो भवति ॥११५॥

एवं च विजितयन्तो पुनो वि हन्तुं वायव्येभ्यः ।  
 विजिपादो महात्मा जलपचितो सकलमेव ॥११६॥  
 मरिज्जं च उष्यन्नो सन्तु कुमारम् सुरवरो जुह्वम् ।  
 यत् पञ्चसागराञ्जलीलारामे विमानम् ॥११७॥  
 इत्यरो वि च काञ्चनं रत्नं मरिज्जं रयणपुडयोः ।  
 उष्यन्नो नैरदो उष्यन्नो महाधरो ॥११८॥

‘समराट्टकहाण’ श्रीमो भवो सम्मतो ।



एवं च विजितयन् पुनरपि हत्वा वायव्येभ्यः ।  
 विजिपादो महात्मा जलपचितः सकलमेव ॥११६॥  
 मृत्वा चोष्यन्नः सन्तु कुमारं सुरवरो सुतिमान् ।  
 यत् पञ्चसागरायुर्लीलारामे विमाने ॥११७॥  
 इत्यरोऽपि च कृत्वा रत्नं मृत्वा रत्नपुष्पिण्याम् ।  
 उष्यन्नो नैरदो उष्यन्नो महाधरो ॥११८॥

याकिमीमहत्तरात्तु-परमगुणानुरागि-परमसत्यप्रिय-परमकारुणिक-  
 भगवत्-धीहृदिमन्त्रसुरिवररचितायां ‘समराट्टकहाणम्’  
 द्वितीयो भयः समाप्तः ।



# तइओ भवो

ॐ \* १६

वस्त्रापं अं भणिपं सीहा-णंवा य सह पिपापुत्ता ।  
सिहि-जालिणिमाइसुआ एत्तो एअं पववस्तामि ॥१॥

अरिप इहेव जम्बुद्वीपे, अवरविदेहे क्षेत्रे अपरिमितजननिवासं,  
अवबुद्धयवाहिवेदनं, अविद्वपरचक्रविघ्नमं सुन्दरपुरभायकभूयं कोसंब-  
नाम नगरं । अथ सरलस्वभावो, धिरसिन्धोहाणुबन्धो, अंबंगरायहाणी,  
धर्मफलकल्पो इतिपयाजो । अथ प्रियवधो, सत्त्ववधो, वदमाभिभाति,  
धर्मनिरतो य मनुस्सवर्गो । तथ य अनेकसमरसंघट्टविनिज्जितहृत्-  
नरेन्द्रावतलपर्यस्तविबटभुकुटकोटिरत्नप्रभारज्जितचरणयुगलो राया  
नामेन अजितसेनो सि । तस्य च सकलराज्यचिन्तको, आत्मनिधियेव इन्द्र-  
धर्मानाम ब्राह्मणसचिवो । सुहंकरा से भारिया ॥ इमो य सी  
सायरोपममन्ते नरके क्षपित्वा, अन्यानि अपि किञ्चिद्नानि चत्वारि

तृतीयः भवः

व्याख्यातं यद् भणितम् सिहा-ऽऽनन्दी च तथा पितृपुत्री ।  
सिहि-जालिनिमात्सुते इत एतत् प्रवक्ष्यामि ॥१॥

अस्ति इहेव जम्बुद्वीपे, अवरविदेहे क्षेत्रे अपरिमितजननिवासम्,  
अननुभूतव्याधिवेदनम्, अदृष्टपरचक्रविघ्नमम्, सुन्दरपुरभायकभूयं  
कोसाम्ब नाम नगरम् । यत्र सरलस्वभावः, स्थिरस्नेहानुबन्धः, अमङ्ग-  
राजधानी, धर्मफलकल्पः स्त्रीजनः । यत्र प्रियवधः, सत्यवचनः, प्रयमा-  
भिभाषी धर्मनिरतो मनुष्यवर्गः । तत्र च अनेकसमरसंघट्टविनिज्जितहृत्-  
नरेन्द्रावतलपर्यस्तविबटभुकुटकोटिरत्नप्रभारज्जितचरणयुगलो राजा  
नाम्ना अजितसेन इति । तस्य च सकलराज्यचिन्तकः, आत्मनिधियेव इन्द्र-  
धर्मानाम ब्राह्मणसचिवः । सुहंकरा तस्य भार्या ॥ इत्येव स आनन्दनारकः  
सायरोपममन्ते नरके क्षपित्वा, अन्यानि अपि किञ्चिद्नानि चत्वारि

सागरोपमे संसारे समाहिण्य इन्द्रमम्मस माह्वस्त गुहंकराए भा-  
याए कुच्छित्ति इतिययत्ताए उववन्नो ति । जाया उचित्तसमएणं । इदं  
नामं जानिणि ति कहानयविमेमेण । पत्ता जोव्यणं । दिव्वा तस्म वेव  
राइणो बुद्धिसागराभिहाणसचिवपुत्तस्स यम्मदत्तस्स । कयं पाणिगह्वं ।  
भुज्जमाणाय भोए गओ कोइ कालो ॥

इओ य गो सीह्वेवो तओ देवलोगाओ चविऊण अधिन्तमाह्वण-  
कम्मस्स, सीसे चेव जानिणोए कुच्छित्ति पुत्तत्ताए उववन्नो ति । दिवो  
य सीए सीए चेव रयणीए सुमिणओ-जहा किर भुवणमयपुण्णकन्धो  
मे उयरं धविट्ठो, सो य असजायपरिओसाए विणिग्गओ समानो कूह-  
वि भागो ति । तं च दट्ठण ससज्जसा वि य विज्झा एसा । जाओ से  
संकिण्णो मुहरसो । न साहिओ य सीए सुमिणओ दइयस्स । तओ से  
वट्ठिउं पयत्तो गम्भो । जाया से देहमणपीडा । चिन्तियं च तीए 'वावा-  
एमि ताव एयं पावगम्भं' ति । पज्जाइ गम्भसाइणाइ । कम्मविवागओ  
न विवन्नो गम्भो । मुणिओ य युत्तन्तो यम्मदत्तेण । निउत्तो तेण परि-  
यणो पसूइसमए, जहा गम्भविवत्तो न हयइ तहा तुम्भेहि चइयस्वं; अवि

सागरोपमाणि संसारे समाहिण्य इन्द्रमर्मणो ब्राह्मणस्य शुभंकराया  
भार्यायाः कुक्षौ म्रिकतया उपपन्न इति । जाता उचित्तसमयेन । इत्  
तस्या नाम जालिनी इति कथानकविशेषेण । प्राप्ता यौवनम् । दत्ता  
तस्म एव राज्ञो बुद्धिसागराभिधानमचिवपुत्रस्य ब्रह्मदत्तस्य । इत पाणि-  
ग्रहणम् । भुज्जानयोर्मोगान् गतः कश्चित् कालः ॥

इतश्च य मिह्वेवः ततो देवलोकात् च्युत्वा अधिन्यमाहात्म्यतया  
कर्म्मणः, तस्या एव जालिन्याः कुक्षौ पुत्रतया उपपन्न इति । दृष्टव्यं तथा  
तस्यामिव रज्ज्या स्वप्नकः-यथा किञ्च भुवणंमयपूर्णकन्धो मम उदरे  
प्रविष्टः, म च अमजानपरितोपाया विनिर्गंतः सन् कथंकथमपि प्रज-  
दति । त च दृष्ट्वा ममाध्वमा इव विबुद्धा एषा । जातस्तस्या मकीर्णः  
मुखरमः । न कथितश्च तथा स्वप्नको दयितस्य । तनः स धितु प्रवृत्तो  
गर्भः । जाया तस्य देह-मन-पीडा । चिन्तितं च तथा-'व्यापादयामि  
तावद् एत पावगम्भं' इति । प्रयुक्तानि गर्भंशातनानि । कर्मविपाकतो  
न विवन्नो गर्भः । ज्ञानश्च वृत्तान्तो ब्रह्मदत्तेन । नियुक्तस्तेन परिजनः  
प्रभूतिगमने, यथा गर्भंरितिनं भवति तथा युष्माभिः यतिउच्यम्, अवि

य भट्टिणीपरितोषनिमित्तं क्वचिद्विहितं ते यच्चिऊन मम निवेदयिष्यो-  
 ति । ततो जाओ से दोहलओ-करोमि सव्यसत्ताणमाणन्दं, संपादोमि  
 देवपापपणानं महापूजाओ, पूणमि भयवन्ते धम्मनिरए महातवस्सो,  
 सुणिमो किचि परलोयमणं ति । संपादोओ से भत्तारेण डोहलो । गम्भ-  
 पमावेण जाया मनोरमा लोयस्स । पत्तो य सुइसमओ । पसूया एता ।  
 चिन्तियं च तोए-कहं पुण एस एट्ठमेत्तपरियणसमवसं वायाइयवो  
 ति ? । एत्थन्तरम्मि मुणियत्तयभिष्णायाए बम्मदत्तययण सरिऊण  
 भणियं बग्धुजीवाभिहाणाए बालसहोए । भट्टिणि ! पाओयु एस गम्भो ।  
 ता बालमिमिणा किलेमाऽऽयासकारएण, वरं विइच्चिओ एसो ति । तओ  
 वत्तायपरवत्ताए यायायणम्मि सहियणलज्जालुयाए भणिय जालिणीए-  
 'सुम्भे जान्ह' ति । तओ अवणीओ दारओ, निवेइओ बम्मदत्तस्स ।  
 कयं मे तेण मयल सुत्थं । नोणिओ लोमवाओ 'वायन्नगम्भा भट्टिणि'  
 ति । एवं च अइवकगतो कोइ कालो । पइट्ठावियं नामं बालयस्स 'सिहि'  
 ति । यड्डिओ सो कलाकलावेण देहोपचएण य । संपादयं से निर-  
 वत्सेत्तं कालोचियं बम्मदत्तेण । गहिओ पच्छा उवरपुत्तओ' ति ।

य भूमीपरितोषनिमित्तं कथंचित् चित्तं तस्य वञ्चित्वा मम निवेदयि-  
 तव्यं इति । ततो जातस्तस्या दोहदः-करोमि सर्वसत्त्वानामानन्दम्,  
 संपादयामि देवतायतनानां महापूजाः, पूजयामि भगवतो धर्मनिरतान्  
 महानिपत्तिनः, पूजुमः कंचित् परलोकमार्गम्-इति । संपादितस्तस्या भर्ता  
 दोहदः । गर्भप्रभावेण जाता मनोरमा लोकस्य । प्राप्तश्च सूतिसमयः ।  
 प्रसूता एवा । चिन्तितं च तया-कथं पुनरेष एतावन्मात्रपरिजनसमक्षं  
 व्यापादयितव्यं ? इति भवान्तरे जाततदभिप्रायया ब्रह्मदत्तवचनं स्मृत्वा  
 भणितं बग्धुजीवाभिधानया बालसख्या । भवि ! पापः खलु एष गर्भः ।  
 ततोऽलमनेन क्लेशाऽऽयामकारकेन, वरं विभक्त ( विनाशित. ) एष  
 इति । ततः कृपायपरवशया व्यापादने सखीजनलज्जालुतया भणितं  
 जालिन्या-'सुयं जानीत' इति । ततोऽपनीतो दारकः, निवेदितो ब्रह्म-  
 दत्तस्य । कृतं तस्य तेन सकलं सुखम् । भीतो लोकवाद- 'व्यापन्नगर्भा  
 भर्ता' इति । एवं च अतिश्रान्तः कश्चित् कालः । प्रतिष्ठापितं नाम बाल-  
 कस्य 'शिखी' इति । वीर्यतः स कलाकलापेन देहोपचयेन च । संपादितं  
 तस्य निरवशेषं कालोचितं ब्रह्मदत्तेन । गृहीतः पश्चात् 'उदरपुत्रः' इति ।

विप्राभो य वृत्तन्तो इमिणा मुमिणयवंसन-मवसताइयाइओ य जननी ।  
वेरणिओ एसो ॥

एत्यन्तरस्मि मुणियवृत्तन्ता पुत्तस्स कसाइया ने जननी । चित्तिं  
च तेन-किह ?

एयंविहा कसाया पाया भवयिडविमूलजलओघा ।

मोक्खत्यमुज्जएहि यज्जेयव्या पयत्तेण ॥२॥

एत्तो कम्मविबुद्धो, ततो भवो तस्य बुवत्तसंघाओ ।

ततो उद्विगमाणो पयहेज्ज तए महापावे ॥३॥

भणियं च —

कलुसफलेण न जुज्जइ किं चित्तं तस्य जं विगयरामो ।

सन्ते पि जो कसाए निगिण्हइ सो पि तत्तुल्लो ॥४॥

तत्कसाओदएणं च सा कुयिया यम्मदत्तस्स । परिचत्तं च तवत्त-  
करणिज्जं । भणिओ यम्मदत्तो । एय वा पियं करेहि, ममं च त्ति, एवमि  
अपरिचत्ते माहं पाणसाहारणं उदयं पि गेहामि त्ति । नितामिओ ए  
वृत्तन्तो सिहिकुमारेण । अक्खुट्ठिगो निगयो गेहामो । चित्तिं च तेन-

विजातो वृत्तान्तोऽनेन स्वप्नदर्शनं गर्भशातनादिकञ्च जनन्याः । वैराग्या  
एषा ।

अत्रान्तरे ज्ञातवृत्तान्ता पुत्रस्य कथायिता तस्य जननी । चित्तिं  
च तेन-कस्मात् ?

एवविधाः कथायाः पापा भवविटपिमूलजखदोषाः ।

मोक्षार्थमुद्यतः वर्जयितव्याः प्रयत्नेन ॥२॥

इतः कर्मविबुद्धिः, ततो भयः, तत्र दृढसंघातः ।

तत उद्विगमानः प्रजघ्नात् तत्कान् महापापान् ॥३॥

भणितं च—

कलुसफलेन न युज्यते किं चित्तं तत्र यद् विगतरागः ।

मतोऽपि यः कथायान् निगूह्णाति सोऽपि तत्तुल्यः ॥४॥

तत्कथायोदयेन च सा कुयिता ब्रह्मादत्तस्य । परित्यक्तं सकलक-  
णोयम् । भणितो ब्रह्मादत्तः । एत वा प्रियं कुह, मा वा इति, एतस्मि  
अपरिच्यवने नाहं प्राणसाधारणमुदकमपि गूह्णामि इति । नितामिओ  
वृत्तान्तः सिहिकुमारेण । अत्यद्विग्नो निर्गतो गेहात् । चित्तिं च तेन

पेच्छ मे पापपरिणहं, जेण जणणी वि एवं घट्टइ त्ति । एयवइमरेणं च ताओ वि मे दुहिओ । ता न जुत्तं मे इह अच्छिजं । एवं चिन्तिऊणमणा-  
पुच्छिऊण तापं निग्गओ नयराओ ॥

गओ असो गवणुज्जाणं । दिट्ठो य तत्थ असोयपायवतलगओ ससि-  
स्सपरिषारिओ, एगविहसंजमरओ, दोअसज्जाणविरहिओ, तिदण्डरहिओ,  
अउवकसायमहणो, पञ्चिन्दियनिग्गहपरो, छज्जीवनिकायवच्छलो, सत्त-  
मयविप्पमुक्को, अट्टमधट्ठाणरहिओ, नववम्मचेरगुत्तो दसविहधम्मसुद्धिय-  
मणो, एवकारसंगताणो, चारसतवसरणकम्मनिरओ य विजयसिहो मामा-  
मरिओ त्ति । तओ सं बट्ठूण समुत्पन्ना तस्स पीती । चिन्तियं च तेण-  
घमो नु एसो, ओ अणवद्वियसिणंहविम्ममे ससारे, एवं धम्मे निरओ  
त्ति । ता पुच्छामि ताव एयं, किं पुण एयस्स निव्वेयकारणं, जेण  
एसो एव धम्मे निरओ त्ति । गओ तस्स समीवं । सविनयं पणमिओ  
भयवं । कओ से गुरुणा वि धम्मलाहो । उवविट्ठो तस्स पायमूले ।  
पुच्छिओ य भयवं-किं ते निव्वेयकारणं ? जेण तुभं एवं पि सत्त्वंग-  
सुन्दराहिरामो, सुन्दराहिरामयाओ चेव पितुणियनियविमवविस्मारो,  
मेक्षस्व मम पापपरिणतिम्, येन जतन्यपि एव वसंत इति । एतद्वच-  
निकरेण च तातोऽपि मम दुःखितः । ततो न युक्त मम इह आसितुम् ।  
एवं चिन्तयित्वा अनापुच्छय ताव निर्गतो नगरात् ॥

गतोऽशोकवनोद्यानम् । दृष्ट्वा तत्र अशोकपादपतलगतः, स्वधि-  
प्यरिवाहितः, एकविधसममरतः, द्विभसद्विधानविरहितः, त्रिदण्डरहितः,  
चतुष्कपायमयनः, पञ्चेन्द्रियनिग्रहपरः, पदजीवनिकायवत्सलः, सत्त-  
मयविप्रमुक्तः, अष्टमदस्थानरहितः, नवव्रहाचयेगुप्तः, दशविधधर्मसुत्थि-  
समनाः, एकादशाङ्गज्ञानो, द्वादशतपस्वरणकर्मनिरतश्च विजयसिहो  
नाम आचार्य इति । ततः तं दृष्ट्वा समुत्पन्ना तस्य प्रीतिः । चिन्तितं  
च तेन-धन्यः खलु एवः, योजनवस्थितस्नेहविभ्रमे ससारे एव धर्मं  
निरत इति । ततः पुच्छामि तावत् एन, किं पुनः एतस्य निर्वेदकारणं ?  
येन एयः एव धर्मं निरत इति । यतस्तस्य समीपम् । सविनयं प्रणतो  
भगवान् । कृतस्तस्य गुरुणा अपि धर्मलाभः । उवविट्ठस्तस्य पादमूले ।  
पृष्ट्वा भगवान्-किं तव निर्वेदकारणम् ? येन त्वम् एवम् अपि उदा-  
हृगसुन्दराभिरामः, सुन्दराभिरामतया एव पितुर्निर्जनिर्जाविभवितातारः,



विमद्वित्तयारा संधियसयणरग्नो, सयणयगमिरिवेषलमिमं ईदसं नित्तं-  
पयं पयग्नो ति । गुदगा भणियं-सुण, किमिह अट्टिमंसरुहिरसंगए सरो  
वि सुन्दरत्तं ? को वा आयासमेत्तफरो विहयदित्तयारे पणियग्नो, को  
सुमिणयसमागमचञ्चले सयणे ति । अयि य-

सयणस्स त्रि मज्झगओ रोगाभिहओ किलिस्सइ इहेओ ।  
सयणो वि य से रोगं न विरिञ्चइ ने य त्तासेइ ॥५॥  
मज्झम्मि बन्धवाणं एदको मरइ कलुणं हयन्ताणं ।  
न य पं धारेइ तओ बन्धुजणो नेव दाराइ ॥६॥  
एवको करेइ कम्मं फलमवि तस्सेदकओ समणुहोइ ।  
एओ जायइ मरइ य परत्तोयं एवकओ जाइ ॥७॥  
पत्तेयं पत्तेयं नियगं कम्मफलमणुहवन्ताणं ।  
को कस्स जए सयणो को कस्स य होइ अन्नजणो ? ॥८॥  
मरिऊण धेरओ वि हु जायइ जणगो, सुओ वि हु रियु ति ।  
ता अणयट्ठियमाये सयणे संगो ति मोहकलं ॥९॥

विमद्वित्तयाराणु सपित्तस्वजनवगं स्वजनवगं निरुपेक्षामिमाम् ईदं  
निरुपेक्षतां प्रपन्नाऽसि । गुदगा भणितम्-शृणु, किमिदं अस्थिमोक्षवि-  
रुपेक्षते तस्मिन्नेति मोन्दयम् ? को वा आयासमात्रफलं विमद्वित्तयारा-  
प्रतिबध्य ? को वा स्वप्नकसमागमचञ्चले स्वजने इति ? । अयि य-

स्वजनस्याऽपि मध्यगतो रोगाभिहतः किलिस्मति इहेहः ।  
स्वजनीऽपि च तस्य रोगं न विमद्वति नेव नाद्यति ॥५॥  
मध्ये बाध्यवानामेको भ्रियते कुरुण हदगाम् ।  
न च तं धारयति ततो बन्धुजनो नेव दारा ॥६॥  
एकः करोति कर्म फलमपि तस्य एकः समणुभवति ।  
एको जायते भ्रियते च परतोऽमेकको याति ॥७॥  
अयेह अयेह निरुद्ध कर्मफलमनुभवताम् ।  
ह कस्य जयति स्वजन. क. कस्य वा भवति अन्यजनः ? ॥८॥  
कृशः वैरिणोऽपि स तु जायते जनकः, सुतोऽपि स तु विरुद्धि-  
तः अस्मिन् विरुद्धे स्वजने सद्य इति मोहकलम् ॥९॥

संज्ञं च । मुन, अम्हाणमेव जं वसं-

अतिरिक्तेषु विज्ञाने संपिडितस्य नाम मयः ।  
 नाम तत्पराहो, निरिर्मई से भारिया, तां दहं मुद्रो नि ।  
 वृत्ताणो गयो तत्परासप्तमेव संपिडितस्य ।

एहमेतस्तस्य पापघरात एहहमेताम् । यमायाम् ॥ ५ ॥ ॥ ॥ ॥  
घराणि पवित्रोति । ता नूनमेतस्य कारणेन होदय ॥

एतन्तरमि य अयच्छमि चेव संज्ञायां मे वमंतां, सुरहिमादयो, विमुक्तो सहजो वि मेराणुवन्तो वमृदंति, विष समदासिमां ललितपद्मयो, सम्बोजयद्रुमं हि वि भृङ्गः, भुञ्जानाह, वमुदया विहगसपाया, भगहरतान्तर्यं च, यावलीहि, विमुदपयासमतायं च तमुहंसमुजोहं च, भए चिन्तियं 'अह पुन कि इम मुक्कण्टेरयं' त्रि ॥

भग्यरुच । शृणु, अस्माकमेव यद् वृत्तम्-

प्रति इहैव विजये लक्ष्मीनिलय नाम नरः । तस्य धार्यवाहः, श्रीमती तस्य भार्या । तयोर्द्वयं नृप-  
वर्तमानो गतो नरनगरासन्नमेव लक्ष्मीपर्वतम् । तत्र विभागे स्निग्धपत्रसचयः, धराप्रविष्टदीपपादः ।  
तत्र हृष्ट्वा समुत्पन्न मम कीदृकम् । विनिर्मुक्तं यम् । एतावन्मात्रस्यापि पादपस्य एतावन्मात्रं ।  
पादको धरणी प्रविष्ट इति । ततो भूतपदः ।

अत्रान्तरे च अकाण्ड एव सञ्ज्ञां ॥ ३॥  
 मिमांसतः, विमुक्तः सहजोऽपि वैराग्यम्  
 समध्यासितो लक्ष्मीपवंतः सर्वशत्रुकुलम्  
 समुदिता विहंगसंघाताः, मनोहरोत्तापः  
 विन्दुप्रकाशमत्ताप च तमुद्देशमुद्देशम्  
 चिन्तितम्— अयं पुनः किमिदं भुङ्क्ते

नाम  
परि-  
प्रती  
मु ।

एत्यन्तरम्भितरुणरविमण्डलनिहं, सुविमुद्धजञ्चकञ्चनं, अनेक-  
 रयणमण्डय, जयजयरवाधूरियनहंगणं, गिज्जन्ततियसमंगलं, निवदन्-  
 कुमुमवृष्टि, अणेतियसपरियरियं, विजयसंसारचक्रपिसुणयं, अवदन्-  
 साओ समोवयन्तं भयवओ अजियदेवतित्यपरस्स दिट्ठं मए धम्मचर-  
 त्ति । तपणन्तरं च महग्घगुणरयणमूसिया सियम्बरधारिणो अणेत-  
 साहवो, तओ सुरधरियकुन्दधवलायवत्तो दुन्दुहिनिणापवहिरियनहंगणो,  
 यिरायन्तदिव्यभामण्डलो, सुरयइसमुत्तिष्ठत्तचारुचामरो, सुरासुरमनु-  
 ष्यसंयुओ, कालायइपरतुदयकधूपमहमहेत्तगन्धो, गन्धयट्ठिभूओ अण-  
 त्तसोमो कञ्चनमपदिव्यकमलायलीए परित्तवकमाणो भयवं, तिलो-  
 नाहो, निस्सियणभयसमुद्धो अजियदेवतित्यपरो त्ति । तं च द्दुत्तुण सनु-  
 प्पणो मे पमोओ, पणट्ठं मिच्छत्तत्तिमिरेणं, विज्जन्मियं धम्मयवत्ताएणं ।  
 चिन्तिमं च मएधमो अहं, जेण मए तिलोयचिन्तामणी भयवं उपलब्धो त्ति ॥

एत्यन्तरम्भितरुणरविमण्डलनिहं, सुविमुद्धजञ्चकञ्चनं, अनेक-  
 रयणमण्डय, जयजयरवाधूरियनहंगणं, गिज्जन्ततियसमंगलं, निवदन्-  
 कुमुमवृष्टि, अणेतियसपरियरियं, विजयसंसारचक्रपिसुणयं, अवदन्-  
 साओ समोवयन्तं भयवओ अजियदेवतित्यपरस्स दिट्ठं मए धम्मचर-  
 त्ति । तपणन्तरं च महग्घगुणरयणमूसिया सियम्बरधारिणो अणेत-  
 साहवो, तओ सुरधरियकुन्दधवलायवत्तो दुन्दुहिनिणापवहिरियनहंगणो,  
 यिरायन्तदिव्यभामण्डलो, सुरयइसमुत्तिष्ठत्तचारुचामरो, सुरासुरमनु-  
 ष्यसंयुओ, कालायइपरतुदयकधूपमहमहेत्तगन्धो, गन्धयट्ठिभूओ अण-  
 त्तसोमो कञ्चनमपदिव्यकमलायलीए परित्तवकमाणो भयवं, तिलो-  
 नाहो, निस्सियणभयसमुद्धो अजियदेवतित्यपरो त्ति । तं च द्दुत्तुण सनु-  
 प्पणो मे पमोओ, पणट्ठं मिच्छत्तत्तिमिरेणं, विज्जन्मियं धम्मयवत्ताएणं ।  
 चिन्तिमं च मएधमो अहं, जेण मए तिलोयचिन्तामणी भयवं उपलब्धो त्ति ॥

अत्रान्तरे तरुणरविमण्डलनिभम्, सुविमुद्धजारयकाञ्चनम्, अनेक-  
 रयणमण्डितम्, जयजयरवाधूरितनमोऽङ्गणम्, गीममानत्रिदशमङ्गलम्  
 निपतत्कुमुमवृष्टि, अनेकत्रिदशपरिकरितम्, विजितसंसारचक्रपिसुणम्,  
 अपरदिश, समयपतद् भगवतोऽजितदेवतीर्थंकरस्य दृष्ट मया धर्मपदम्-  
 इति । तदनन्तरं च महार्पगुणरत्नभूषिताः सिताम्बरधारिणोऽनेके साधवाः,  
 ततः सुरधृतकुन्दधवलातपत्रः, दुन्दुभिनिनादयधिरितनमोऽङ्गणः, विरा-  
 जमानदिव्यभामण्डलः, सुरपातिसमुत्तिष्ठत्तचारुचामरः, सुरासुरमनु-  
 ष्यसंयुतः कालागुहप्रवरतुदयकधूपप्रसरद्गन्धः, गन्धयतिभूतः, अण-  
 त्तसोमः, कञ्चनमपदिव्यकमलायल्या परित्तरत्नभगवान्, तिलोक्तनायः,  
 निस्तीर्णभक्तसमुद्धः, अजितदेवतीर्थंकर इति । तं च दृष्ट्वा समूहप्रो मे  
 प्रमोदः, प्रपट् मिच्छत्तत्तिमिरेणं, विज्जन्मियं धर्मयवत्तायेन, चिन्ति-  
 त्ति मया-धम्मोऽहम्, येन मया तिलोक्तचिन्तामणिभंगवान् उपलब्ध इति ॥

अत्रान्तरे च इति त्रिदशभगवतो मणिकनककस्योत्तमयनिमित्तप्राका-  
 रविदम्, सुविमुद्धजञ्चकञ्चनम्, रत्नमयविचित्रकपितीर्थंकरम्, उच्छ्रित-  
 त्तुदयकधूपम्, गुरुजन्ममधुरास्मोदयोमितम्, उच्छ्रितत्तुदयकधूपम्,

संगहरं, वेदतिथिदिव्यसोहासं, महत्सोहयचक्रमण्डितं समोत्तरणं  
ति । पवित्रो भयं । पश्यया धम्मकहा । कहिओ भगवया असासओ  
धीरलोको । अवगओ अम्हाणं । तओ तं पुण्यकोउयं समनुस्सरत्तेण  
पुच्छिओ भयं मए तिलोयनाहो । भयं । किं पुण तस्स नातिएरि-  
पायवत्स पायओ ओइण्णो, किं अत्थि तत्थ द्विजजायं किं वा महि  
(मिहो), किपरिमाणं वा, केण वा तं ठवियं, कीइसो वा तस्स विधाओ  
ति ? भगवया भणिये-सुण, सोहदोसेण पायओ ओइण्णो । अत्थि तत्थ  
इदिजजायं । तं च दीनारसत्तल्लपरिमाणं । तुमए तेणं च नातिएरि-  
ओवेण ठवियं । धम्मसाहओ य विधाओ एयस्स । मए भणियं-भयं ।  
इहं पुण मए इमिणां य ठवियं, कहुं च मम ईदिसो विधाओ इमस्स वि-  
ईदिसो ति । भगवया भणिये-सुण,

अत्थि इहं विजए अमरउर नाम नगरं । तत्थ अमरदेवो नाम  
गोहोदई होत्वा । सुन्दरी से भारिया । ताणं च तुम्हे दुवे वि' उरयो-  
परिजायणो गुणचन्द्रालङ्कारमिहाणा य पुत्तय ति । संपत्तओदेवो  
य महत्तं खलाइमणं येत्तुं धानिज्जवाडयाए भागया इमं देव ।

मनोहरम् बद्धुं दिव्यसिंहासनम्, महासिंहवज्रचक्रमण्डितं, समवसरणम्-  
इति । प्रविष्टो भगवान् । प्रस्तुता धर्मकथा । कथितो भगवता आदेशो  
देवो जीवलोकः । अवगतोऽस्माभिः । ततस्तं पूर्वकोनकं समनुस्मरता  
पुष्टो भगवान् मया त्रिलोकनायः । भगवन् ! किं पुनस्तस्य नातिकेरी-  
पादपस्य पादकोऽवतीर्णः, किम् अस्ति तत्र द्विजजातं किं वा निधिः,  
किं परिमाणं वा, केन वा तत् स्थापितम्, कीदृशो वा तस्य विपाकः  
इति ? भगवता भणितम्-शृणु लोभदोषेण पादकोऽवतीर्णः । अस्ति तत्र  
द्विजजातम् । तच्च दीनारसप्तल्लपरिमाणम् । स्वयां तेन च नाति-  
केरीजावेन स्थापितम् । धर्मसाधकश्च विपाक एतस्य । मया भणितम्-  
भगवन् ! कथं पुनर्मया अवेन च स्थापितम्, कथं मम ईदृशो विपाकः,  
एतस्मादपि ईदृश इति । भगवता भणितम्, शृणु-

अस्ति इदं विजये अमरपुरं नाम नगरम् । तत्र अमरदेवो नाम  
गृहपतिरभवत् । सुन्दरी तस्य भार्या । तयोश्चयुवो द्वौपि संपुष्प-  
जातौ गुणचन्द्र-बालचन्द्राभिधानौ च पुत्रौ इति । संप्राप्तयोऽनौ  
च महत् खलादिषां गृहीत्वा धानिज्यवृत्तिकया भाग्यो इमं देवम्













धावाइस्तंति । एतन्तरमि पत्ता नयरं । आरामसमीवठिएणं भणिओ  
 सुमए मंगलगो । भद्द मंगलग ! गच्छ, ससुरकुलपडसि मे कुओ वि  
 डवलहिय संयाएहि, जेण पविसामो नयरंति पयट्टो मंगलगो । चिन्तियं च  
 णेण-पविट्टो खु एसो लहुं चेव एयं वेण्हिस्सइ । ता तहाणुचिट्ठामि, जहा म  
 एस एत्थ पयिसइ । गच्छन्तो य मे सुहवायामणिज्जो भयिस्सइ । ता  
 एयं से निवेएमि । जहा, इत्थिसहायओ कुलविच्छेदमाचरिऊण पविसिया  
 ते धरिणी । अओ अश्वन्तमुध्विणं ते ससुरकुलं । सुमं च अम्हाणमाग-  
 मणमेएहि, अओ अहिययरं लग्गियाणि । ता न जुत्तमेत्थ पविसिउं ति  
 संपहारय तओ नयरं पविसिऊण कक्कालवत्तेवो मायाचरिएण विषण्ण-  
 मुहण्णओ आगओ ते समीधं । निवेदयं जहा चिन्तियं । तओ विसण्णो  
 तुमं । चिन्तियं च सुमए-धिरत्थु इत्थिभावस्स, जमेवविहा वि सावय-  
 कुलपत्ता वि सुविधायजिनययणसारा पि उभयलोयविच्छेदमायरइ ।  
 भहवा नरिय दुक्करं मोहभावस्स । ता अल मे इयाणि पि गिहवासेण ।  
 पयज्जामो तित्थयरमासियं साट्ठधम्मं । एवमसाणो खु एस सिण्हवन्धो ।  
 ता अल मे सगिहगमणेणं पि । इओ खेय गच्छामि, जत्थ भगवं

प्यापादयिष्य इति । अत्रान्तरे प्राप्तां नगरम् । आरामसमीपस्थितेन  
 मणितस्त्वया मंगलकः-भद्र मंगलक ! गच्छ, स्वसुरकुलप्रवृत्तिं मम  
 कृतोऽपि उपलभ्य सपादय, येन प्रविशामो नगरमिति । प्रवृत्तो मंगलकः ।  
 चिन्तितं च तेन-प्रविष्टः खलु एव लब्ध्वेव एतं ब्रह्मोप्यति । ततस्तथाऽ-  
 नुतिष्ठामि, यथा नैपोऽत्र प्रविशति । गच्छच्च मम सुखध्यापादनीयो  
 भविष्यति । तत एतत् तस्य निवेदयामि । यथा, स्त्रीस्वभावतः कुलवि-  
 द्भवायं प्रविष्टा (अन्यगृहे) तव गृहिणी । अतोऽयन्तमुद्दिग्ना तव स्वसुर-  
 कुलम् । धृतं च अस्माकमागमनमेतं, अतोऽधिकतरं लज्जितानि । ततो न  
 मुक्तमत्र प्रवृत्तिमिति सप्रघायं ततो नगरं प्रविश्य कृतकालक्षेपः मायाचरि-  
 णेन विवर्णमुखच्छाय आगतस्तव समीपम् । निवेदितं यथा चिन्तितम् । ततो  
 विषण्णस्त्वम् । चिन्तितं च त्वया-धिगस्तु स्त्रीस्वभावम्, यदेवंविधाऽपि  
 भावककुलोत्पन्नाऽपि, सुविज्ञातजिनवचनसाराऽपि उभयलोयविच्छेदमा-  
 वरति । अथवा नास्ति दुष्करं मोहभावस्य । ततोऽलं मम इदानीमपि गृह-  
 वासेन, प्रपद्यामहे तीर्थंकरभाषितं साट्ठधम्मम् । एवमवसानः खलु एव स्नेह-  
 रन्ध्रः । ततोऽलं मम स्वगृहगमनेनाऽपि । इत्थ एव गच्छामि, यत्र भगवान्

अणंगदेवो । एसो वि मंगलगो इयो जेव वच्चउ घरं, किमिमिणा किं-  
 सिएणं ति सपहारिकण भणिओ जहाचिन्तिममेव मंगलगो । चिन्तिव  
 णेणं-अहो ! एस मायाचरिएणं मं वच्चिऊं उज्जओ । ता कहमहमि-  
 मिणा वच्चिऊंजामि ति । ता भणामि ताव एयं । जाव तुमं न चिन्तिदेव  
 पत्तो ति, ताव कहमहं भवन्तं परिच्चयामि । एयं कइवयदिणानि इमिणा  
 सह गच्छिऊण यावाइस्सं इमं ति । चिन्तिऊण भणिओ तुमं इमिणा ।  
 पडिमणिं च तुमए । भइ मंगलग ! जइ ते निव्वणो, ता एय हयउ ति ।  
 तओ पुच्छिस्सामो कंचि साहुं, कहिं मययं अणंगदेवो ति ? । मनिऊण  
 परिपया नुस्से पडिपहेण । अइवकन्ता कइवि यासरा । अग्रया अइविम-  
 मरणमग्गावत्तिनहयलसरन्तरमभिगए दिणयरम्मि 'महासाहुतं' नि  
 कलिऊण अच्चन्तपुद्दहियएणं लोहवोसओ तथा वि अणियत्तमाणेन मुग्गे-  
 सारविहियओ जेव पहओ तुम पिट्ठिदेसम्मि छुरिणाए मंगलगेणं ति । एव-  
 न्तरम्मि अट्ठाणपट्टिवओ अणेयत्तमणपरियारओ तत्थेव पएसे साहुओ  
 समागओ अणंगदेवो । विट्ठो तुमं अगगामिएहिं साहुहिं । एत्थन  
 रम्मि तागतोण छुरिमवहाय नट्ठो मंगलगो । चिन्तिम च तुमए-हा ।

अनङ्गदेव । एवोऽपि मंगलक इत एव वज्जतु गृहम्, किमनेन वलेट्ठो-  
 नेति सप्रथायं भणितो यथाचिन्तितमेव मङ्गलकः । चिन्तित च तेन-  
 अहो ! एय मायाचरितेन मा वच्चितु उच्यते । ततः कथमहमनेन वच्चं  
 इति । ततो भणामि तावद् एतम् । यावत् त्वं न चिन्तितदेशं प्रातोऽपि,  
 तावत् कथमहं भवन्तं परित्यजामि । एव कतिपयदिनानि अनेन सह  
 गत्वा व्यापारविषये इममिति चिन्तयित्वा भणितस्त्वमनेन । प्रतिमगित  
 च त्वया । भइ ! मङ्गलक ! यदि त्वं निर्वन्धः, तत एव भवतु इति ।  
 ततः प्रथमम्, वच्चितुं साधुम्, कृत्वा भगवान् अनङ्गदेव इति मन्त्रविद्या  
 प्रस्थितो मुक्ताप्रतिपद्यते । अतिशान्ताः कतिचिद् यासराः । अन्य-  
 भविष्यमारण्यमध्यवर्तिनमनलसरोन्तरमभिगते । दिनकरं 'महासाहु-  
 तम्' इति कल्पित्वा अल्पजुहुदयेन लोमदोषतस्तथाऽपि प्रतिवर्-  
 मानेन मुक्तिश्चतुर्दश एव प्रत्यग्वै पृथग्देवं छुरिकया मङ्गल-  
 केन इति ॥ अत्रान्तर अष्टप्रतिपन्नोत्तममणपरिवृत, तत्रैव प्रथ-  
 मं मा भगवान् अनङ्गदेव । एतस्त्वमगमिकः माधुमि । अत्रान्तर  
 अष्टप्रतिपन्नोत्तममणपरिवृत, तत्रैव प्रथ-  
 मं मा भगवान् अनङ्गदेव । एतस्त्वमगमिकः माधुमि । अत्रान्तर

किमेयंति । किं तत्करा समागता भवे । जीवियं पिट्टो, जाव दिट्ठो सत्सं-  
भमाकुलं पलायमाणो भंगल्लो । चिन्तियं च तुमए—न एत्थ अग्ने चोरा  
दीसन्ति, पलायइ य एसो । ता किमेयंति ? । एत्थन्तरम्मि दिट्ठा सोणि-  
याणुरज्जिया छुरिया । गहिया य सा तए पच्चभिन्नाया य । तओ संजाओ  
विद्यापो । किमेयं भंगल्लेणे ववसियं भवे ? । अहवा न एयस्स किपि  
एवं ववसायकारणं उपेस्सामि । ता सद्देमिताव एय ति । एसेव मे एत्थ  
परमार्थं साहिसइ । सद्भिर्भगल्लो, जाव अहिययरं पलाइउमारट्ठो ।  
तओ अवगओ ते विद्यापो । हन्त ! एएण चेव ववसिय ति । ता कि पुण  
से इमस्स ववसायस्स कारणं । आभोइओ निहाणयवुत्तन्तो । चिन्तिय च  
तुमए—मत्थि अकरणिज्जं नाम लोहवसमाणं ति । अओ चेव निमित्तओ  
जिनमदीवुत्तन्तो वि इमिणा विगप्पिओ भवे । अग्रहा कह तारिसी महा-  
कुलपसूया सुविघ्नाजिनवयणसारा य तारिसं उभयलोकविरुद्धं करिस्सइ ।  
एत्थन्तरम्मि पत्ता ते साह्वो तमुद्देसं । पच्चभिन्नाओ य तेहि । बन्दिपा  
य तुमए । धम्मल्लोओ साह्वि । पुच्छिओ य तेहि । सावय ! किमेयंति ? ।

किमेतदिति । किं तत्कराः समागता भवेयुः ? । दृष्टं पृच्छतः, यावद्  
दृष्टः संसंभ्रमाकुलं पलायमान. भंगल्लः । चिन्तितं च त्वया—न अत्र  
अन्ये चोरा दृश्यन्ते, पलायते च एषः । ततः किमेतदिति । अत्रान्तरे  
दृष्टा सोणिताञ्जुरवता छुरिका । गृहीता च सा त्वया प्रत्यभिज्ञाता च ।  
ततः संजातस्तव विकल्पः । किमेतद्भंगल्लकेन व्यवसितं भवेत् ? अथवा  
न एतस्य किमपि एवं व्यवसायकारणमुपेक्षे । ततः शब्दयामि तावद्  
एतमिति । एष एव ममात्र परमार्थं कथयिष्यति । शब्दितो भंगल्लः,  
यावद् अधिकतरं पलायितुमारब्धः । ततोऽप्यन्यस्तव विकल्पः । हन्त !  
एतेन एव एतद् व्यवसितमिति । ततः किं पुनः तस्याऽन्य व्यवसायस्य  
कारणम् ? । आभोगितो निघानकवृत्तान्तः । चिन्तितं च त्वया—नास्ति  
अकरणीय नाम लोभवशगानामिति । अत एव निमित्ततो जिनमदीवृत्ता-  
न्तोऽपि यनेन विकल्पितो भवेत् । अन्यया कथं तादृशी महाकुलप्रभृता  
सुविज्ञातजिनवचनसारा च तादृश उभयलोकविरुद्धं करिष्यति । अत्रा-  
न्तरे प्राप्तास्ते साधवस्तमुद्देशम् । प्रत्यभिज्ञातश्च तैः । बन्दिताश्च  
त्वया । धर्मजाभिः साधुभिः । पृच्छ च तैः । यावक ! किमेतदिति ।

गाहिओ तुमए तेसि जहावतो युत्तन्तो । समासासिओ साहि ।  
 एतत्तरम्मि बिट्ठो अणंगदेवेणं । वन्दिओ सो तए । अभिनन्दिओ  
 इमिणा धम्मलाहेण । पुच्छिओ पर्जति । साहिया तुमए । समासामिओ  
 गुदणा । निवत्तो तुमं तमं साहुगच्छेण । पत्तो यानेसरं नाम सन्निवेणं ।  
 टिओ तय्य गुद मासकप्पं । पउणो ते पहारो । उवलद्धा जहाट्ठिया वि-  
 भाईजणी । विम्वित्तं च तुमए-अहो ! मंगलस्स वञ्चनापगारो, अहो  
 निनिताया मोहरस अहो ! अणुवाएयया संसारस्स । ता जइ वि अ-  
 विज्जणीया जिणमई, तहायि अलं मिहासमेण । संपाडेमि उमयनोगमु-  
 भां गणीहिं । भुविप्रायजिणयणसारा य सा तुल्लचित्ता य मे पाएण ।  
 ता मोट्ठण इमं यइयरं सा वि य पव्वइस्सइ ति । एवं च कए सा वि  
 तगगिणी इमाओ कुवजयहुलाओ मयसमुद्धाओ समुत्तारिया ह्यइ । अ-  
 न अणयइयरण सोए बंसणेणं । बहुविध्या चरणपडिपत्ती, मुहावहाय ।  
 गुता विग ति विम्वित्तं पव्वइओ अणंगदेवगुदसमीये ।

अइयकत्तो कोइ कालो । गुओ एस यइयरो कुओयि जिणमईए ।  
 गतिगा गुता । विम्वित्तं च सोए । सोहणमणुविट्ठियं अज्जउत्तेण ।

ननिताया तेयो मयावत्तो वृत्तान्तः । समाशवासितस्ताष्टुभिः । अ-  
 तरे हृष्टोऽणंगदेवेन । वन्दितः स त्वया । अभिनन्दितस्त्वमनेन धर्म-  
 माप्तेन । पुच्छः प्रवृत्तिम् । कविता त्वया । समाशवासितो गुदणा । नि-  
 वृत्तः तमं साधुगच्छेन । प्राप्तः स्थानेश्वरं नाम सन्निवेतम् । स्थि-  
 तं गुदणीयतया । प्रगुगन्तव्यप्रहारः । उवलद्धा ययास्थिता त्रिनमी-  
 भ्रमिताः । विम्वित्तं त्वया-अहो ! मङ्गलकस्य वञ्चनाप्रहारः, अहो !  
 निवृत्तता मोहरस, अहो ! मंगलस्य । ततो यच्चपि अ-  
 विज्जणीया नि-

विज्जणीया नि-

मगुतायइ ममी

पाणेन । ततः -

माज्जि मनु -

मारी । तत्तं

गुतायइ -

अति

गुता ।



साहिबो तुमए तेसि जहावतो मुत्तन्तो । समासासिओ साहिब ।  
 एरयन्तरमि बिट्टो अणंगदेवेण । बन्दिओ सो साए । अभिनन्दिओ तुम  
 इमिणा घम्मलाहेण । पुच्छिओ पर्जोत । साहिया तुमए । समासानिओ  
 गुरुणा । नियतो तुमं समं साहुगच्छेण । पतो धानेसरं नाम सन्निवेशम् ।  
 ठिओ तरय गुरु मासकण्ठं । पउणो ते पहारो । उवलव्हा जहाद्वियात्रि  
 मईपउत्तो । चिन्तियं च तुमए-अहो ! मंगलस्स वञ्चनापणारो, अं  
 विचित्तया मोहस्स अहो ! अणुयाएयया संसारस्स । ता जइ वि अ  
 णिइयसीला जिनमई, तहगवि अलं गिहासमेण । संपादेमि उमयलोगगुरु  
 यहुं समीहियं । मुयिआयजिनययणसारा य सा तुल्यचित्ता य मे पाए  
 ता सोऊण इमं यइयरं सा वि य पयइस्सइ ति । एवं च कए सा वि  
 तवस्सिणी इमाओ दुवप्रयहुलाओ भवसमुदाओ समुत्तारिया हवइ ।  
 च अपयइयस्स सोए दंतणेणं । बहुविद्या चरणपडिपती, सुहावहा  
 एसा चेव ति चिन्तिऊण पयइओ अणंगदेवगुरुसमीये ।

अइयकतो कोइ कालो । सुओ एस यइयरो कुओवि जिनम  
 संविगा एसा । चिन्तियं च सोए । सोहणमनुचिद्वियं अञ्जव

कथितस्त्वया तेषां यथावृत्तो वृत्तान्तः । समाश्वसितस्साधुभिः ।  
 न्तरे दृष्टोऽनङ्गदेवेन । बन्धितः स त्वया । अभिनन्दितस्त्वमेन  
 कामेन । पृष्टः प्रवृत्तिम् । कविता त्वया समाश्वसितो गुरुणा  
 तस्त्वयं समं साधुगच्छेन । प्राप्तः स्थानेश्वरं नाम सन्निवेशम् ।  
 तत्र गुरुमासकण्ठम् । प्रगुणस्तव प्रहारः । उवलव्हा यथास्थिता वि  
 प्रवृत्तिः । विन्तितं च त्वया-अहो ! मङ्गलकस्य वञ्चनाप्रकारः  
 विविचिता मोहस्य, अहो ! अनुपादेयता संसारस्य । ततो यय  
 णिनसीला जिनमती, तथाऽपि अलं गृहाश्रमेण । संपादयामि उमयलो-  
 कगुणावहं समीहितम् । मुविआयजिनवचनसारा च सा तुल्यचित्ता च मम  
 प्रायेण । ततः श्रुत्वा इमं व्यतिकरं साऽपि च प्रव्रजिष्यतीति । एवं च इते  
 साऽपि गुरु तवस्वनी अस्माद् दुःखबहुलाद् भवसमुदात् समुत्तारि-  
 भवति । अतं च अत्रत्रजिनस्म तस्या दर्शनेन । बहुविद्या चरणप्रतिपतिः  
 गुणानवा च एषा एव इति चिन्तयित्वा प्रव्रजितोऽनङ्गदेवगुरुसमीये ॥

अतिश्रान्तः कदिवन् कालः । श्रुत एव व्यतिकरः कुतोऽपि त्रिन-  
 मत्या । मविगा एसा । विन्तितं च तया-शोभनमनुचिद्वित्तमार्येण ।

किलेसायासबहुलो एष संसारो, विप्रोपावसानो य संवभो, दाहणो य विनागो  
 विषयपरिमोगस्त, दुल्लहं च मनुजभावेमि जिगमयं, उमपलोपमुहावहं  
 च एयं चेव त्ति । ततो सा एवं विचिन्तिऊण अगुन्नविष जगणिजणए  
 जणुप्राया तेहि आगया तं अघ्नेसमाणी, जत्य तुमं । दिट्ठो य अणाए ।  
 वेच्छिऊण निव्वुइपुरपट्ठियं तुमं भणियं च अणाए । अज्जउत्त, सोहण-  
 मणुचिट्ठियं तुमए । छिन्ना मोहवल्ली । अवलम्बियं सत्पुरुसचरियं ।  
 समुत्तारिया अहं अप्पा य इमाओ भवसमुहाओ त्ति । अहिणन्दिऊण  
 पवप्पा पव्वज्जं अणंगदेवगुरुसमीवे । अइक्कन्तो कोइ कालो । निरइमारं  
 सामण्णमणुबालिऊण तुमं कालक्कमेण मओ समाणो उववप्पो पणुवोत्त-  
 सागरोपमाऊ मेवेज्जगसुरो त्ति । इयरो विमंगलगो तपस्यं परिग्गहिप  
 महासिलासंचओच्छादयं च काऊण तम्ममत्तेण तत्येव देसे कुणिमाहारेण  
 किलेससंपादयवित्ती अहाउयं पालिऊण मओ समाणो उववप्पो तमाभिहा-  
 णाए नरपुट्ठपीए दावीत्तसागरोपमाऊ नारगो त्ति । ततो य महता परिकि-  
 लेसेण तमहाउयं पालिऊण उव्वट्ठो समाणो एत्येव विजए रट्ठवट्ठणए ग्रामे  
 वेत्तिपगस्त चण्डालस्त गेहे छेलगत्ताए उववप्पो त्ति । पत्तो य जोव्वणं ।

किलेसायासबहुल एष संसारः, विप्रोपावसानश्च संवभः, दाहणश्च विपाको  
 विषयपरिमोगस्य, दुर्लभं च मनुजभावे जिगमतम्, उमपलोकमुहावहं  
 च एतदेव इति । ततः सा एवं विचिन्त्य अनुज्ञाप्य जननी-जननी अनु-  
 जाता ताभ्याम्, आगता ह्वामन्वेपमाणा, यत्र त्वम् । दृष्टश्च अनया ।  
 प्रेक्ष्य निर्वृतिपुरप्रस्थितं त्वां भणित चानया । आर्यपुत्र ! शोभनमनुष्ठितं  
 त्वया । छिन्ना मोहवल्ली । अवलम्बितं सत्पुरुषचरितम् । समुत्तारिता-  
 श्च अस्मा च अस्माद् भवसमुद्राद् इति । अभिनन्द्य प्रपन्ना प्रव्रज्याम्  
 अनङ्गदेवगुरुसमीपे । अतिक्रान्तः कश्चित् कालः । निरतिचारं श्रामण्य-  
 मनुपाल्य त्वं कालक्रमेण मृतः सन् उपपन्नः पञ्चविंशतिसागरोरमायुर्ध-  
 वेयकमुर इति । इतरोऽपि मङ्गलकस्तम्यं परिगृह्य महासिलासंचया-  
 वच्छादित च कृत्वा तन्ममत्वेन तत्रैव देशे कुणिमाहारेण क्लेशसंरादित-  
 यृत्तिर्यथायुष्कं पालयित्वा मृतः सन् उपपन्नः तमाभिधानायां नरक-  
 पृथिव्या द्वाविंशतिसागरोपमायुर्नरक इति । ततश्च महता परिक्लेशेन  
 तद् यथायुष्कं पालयित्वा उद्भूतः सन् अत्रैव विजये राष्ट्रवर्धनके ग्रामे  
 वेत्तितकस्य चाण्डालस्य गृहे छाणकतया उपपन्न इति । प्राप्ते च यौवनम् ।



अथवा य बहुलसमयगतो ततो रद्वयद्वयाजो अथत्यते निम्न-  
 माणो पत्तो इमं निहाणगुहेसं । समुत्पन्नं च ते तमुद्देशमवलीङ्ग्य  
 पुत्रवधव्यमासओ जाइसरणं । ततो लोहयोसेण विपद्दो वेत्तिवत्त  
 नेच्छइ ततो उद्देशाओ अन्नत्यमभिगन्तुं, सोइज्जन्तो वि पुणो पुणो नि-  
 सइ । कोहामिभूएणं वायाइओ वेत्तिवत्तणे । उत्पन्नो तस्येय निहाणगुहे  
 मूसओ । परिगृहीतं च नेण ओहसत्ताए तं दय्यं । अनुपातिं कंचि कंचि  
 अथवा सोमचण्डो नाम जूयारिओ वहंचि परिभ्रमन्तो आगओ तमुद्देशं ।  
 उपविष्टो शास्त्रपादपसमीपे । ततो अन्नालोलोहयोरोण सरस पुत्तो साम-  
 रिसमिध परिभ्रमिउमाहत्तो । वायाइओ य तेणं । समुत्पन्नो य तस्येय  
 पणहुसयणनासिकाए दुग्गिलिगाभिहोणाए भारियाए कुच्छिप्ति पुत्ताए  
 ति । जाओ कालवधमेणं । पइट्ठादियं च ते नामं रद्वयद्वो ति । पत्तो  
 अणेगजणसंतावगारयं विसपायधो द्य ओद्यणं । असमञ्जसं च ववहरि-  
 उमारद्वो । अथवा गहिओ रत्तमुहे । उयणोओ राइणो समरभासुरसं  
 समाणत्तो वज्जो । भिन्नो सुत्तिवाए आरक्षितनरेहि । मओ य समाणो समु-  
 त्पन्नो सबकराभिहोणाए नरयपुद्वीए किंचूणतिसागरोपमाज्ज नारो ति ।

अन्यथा च बहुलसमयगतः ततो राद्वयधनाद् जयस्यले तोयमानः  
 प्राप्त इमं निधानकोद्देशम् । समुत्पन्नं च तस्य तमुद्देशमवलीङ्ग्य पूर्ववदा-  
 भ्यासतः जातिस्मरणम् । ततो लोभदोषेण विकृष्टो वेत्तिवत्तस्य नेच्छति  
 तत् उद्देशाद् अन्नासभिगन्तुम्, तोयमानोऽपि पुनः पुनः निवर्तते इति  
 क्रीडाभिभूतेन व्यापादितो वेत्तिवत्तकेन । उत्पन्नस्तत्रैव निधानकोद्देशं  
 मूपकः । परिगृहीतं चानेन ओषसंगया तद् द्रव्यम् । अनुपातिं कंचि  
 कालम् । अन्यथा सोमचण्डो नाम सूताचार्यः कथञ्चित् परिभ्रम  
 आगतरत्तमुद्देशम् उपविष्टः शास्त्रपादपसमीपे । ततोऽज्ञानलोभदोषेण तं  
 पुरतः सामर्थ्यमिव परिभ्रमितुमारब्धः । व्यापादितश्च तेन । समुत्पन्न  
 तस्येय प्रनाटयवणनासिकाया दुग्गिलिकाऽभिधानाया भार्यायाः कुशी पु-  
 त्तया इति । जातः कालत्रमेण । प्रतिष्ठापितं च तस्य नाम रद्वयद्व इति  
 प्राप्तोनेय जनसत्तापकारकं विपदादप इव योजनम् । असमञ्जसं च द्य  
 हन्तेमारब्ध । अन्यथा गृहीतः शास्त्रमुत्ते । उपनीतो गमः समरभासुरसं  
 समागतो वध्यः । भिन्नं सुत्तिवाया आरक्षितनरैः । मृतः सन् समुत्प-  
 न्नकराभिधानाया नरयपुद्वीया किंचिदूनत्रिसागरोपमायुनारिक इ-

तत्रो अहाउयमणुवालिङ्गण उव्वेटो समाणो समुप्पन्नो एत्थेव विजए एत्थेव  
 लच्छिनिए असोगदत्तस्स सेट्ठिस्स सुहङ्कराए भारियाए कुच्छिसि  
 इत्थिगत्ताए ति । जाया उच्चियसमएणं । पडट्ठावियं च से नामं सिरि-  
 भादेवि ति । पत्ता जोव्वणं । दिग्धा सागरदत्तसत्यवाहपुत्तस्स समुद्-  
 दत्तस्स । वत्तो विवाहो भुञ्जन्ति भोए ति । एत्थन्तरम्मि तुमं गेयेज्ज-  
 तेहितो चविज्जण इमाए चेव कुच्छिसि समुप्पन्नो पुत्तत्ताए ति । जाओ  
 कालवकमेण । पडट्ठावियं च से नामं सागरदत्तो ति । पत्तो जोव्वणं ।  
 पडिबुद्धो य देवसम्मापरियसमीचे । परिणीया ईसरवत्तन्दसायगस्स धूपा  
 मन्दिणि ति । भोगसुहमणुहवन्ताणं कालवकमेणं जाओ ते पुत्तो । अत्रया  
 य पुत्तजन्मसमुदयनिमित्तेणं चेव सपरिचारो आगमो उज्जाणिगाए इमं  
 चेव मिहाणगुद्देसं । दिट्ठो य तुमए पुत्तज्जयनिवेशननिमित्तं सङ्ख खण-  
 भाणेणं निहाणगकलसकण्ठेगदेसो ति । तत्रो तमन्नत्थ निवेसिज्जण तं च  
 पएसं पुनरपि तहेव करिज्जण भुत्तुत्तरकाले पविट्ठो नयरं । चिन्तियं तुमए ।  
 किमेत्थ जुत्तं ति अम्बं ताव पुच्छामि । साहिओ इमीए एस वइअरो ।  
 पुच्छिया एसा 'किमेत्थ जुत्तं' ति । तीए भणियं । मम ताव त पएसं

ततः यथायुष्कमनुपास्य उद्वृत्तः सन् समुत्पन्नः अत्रैव विजये, अत्रैव  
 लक्ष्मीनिलये अशोकदत्तस्य श्रेष्ठिनः शुभकराया भार्यायाः कुक्षी स्त्रीक-  
 तया इति । जाता उचितसमयेन । प्रतिष्ठापितं च तस्या नाम 'श्रीदेवी'  
 इति । प्राप्ता यौवनम् । दत्ता सागरदत्तसार्ववाहपुत्रस्य भगवदत्तस्य ।  
 वृत्तो विवाहः । भुञ्जाते भोगान् इति । अत्रान्तरे त्वं यैवयकेभ्यश्च्युत्वा  
 अस्याश्चैव कुक्षी समुत्पन्नः पुत्रतया । जातः कालक्रमेण । प्रतिष्ठापितं  
 च तव नाम सागरदत्त इति । प्राप्ता यौवनम् । प्रतिवृद्धश्च देवशर्मा-  
 धार्यसमीपे । परिणीता ईश्वरस्कन्दथावकस्य दुहिता नन्दिनी इति ।  
 भोगमुत्तमनुभवतो, कालक्रमेण जातस्तव पुत्रः अन्यदा च पुत्रजन्मान्मु-  
 दयनिमित्तेन चैव सपरिवार आगत उद्यानिकायाम्—इमं चैव निघानको-  
 देशम् । दृष्ट्वा च त्वया पुत्रध्वजनिवेशननिमित्तं गता स्नमानेन निघान-  
 ककलशवण्ठकदेश इति । ततः तमन्यत्र निवेश्य तं च प्रदेश पुनरपि  
 तथैव कृत्वा भूक्तोत्तरकाले प्रविष्टो नगरम् । चिन्तितं त्वया—किमत्र  
 भूक्तमिति अम्बा तावत् पुच्छामि । कथितोऽस्या एष व्यतिकरः ।  
 पूष्टा एषा 'किमत्र भूक्तम्' इति । तया भणितम्—मम तावत् तं प्रदेशं

रंतेहि; तत्रो जं जुतं, सं भगिस्तमि ति । वात्रिप्रो से पश्यो ।  
 अत्रागलोहोसेन चिन्तितं च सीए । यावाएमि एयं तत्रो एगाओ  
 गेण्हिस्मामि । एयं चिन्तिऊण भगिप्रो सुमं । पुत्तम, पम्पमेयं इय ।  
 एयंमि घेःरमाणे कदाइ नररई अवगच्छे । तत्रो य सो मेउरशराणां  
 रि मा करिस्तइ ता अने ताव एइया, अवसरेण गेण्हिस्मामो ति । नर  
 भगियं । अय्य, जं तुम मागवेसि । पत्रिद्वानं नयरं । अइयकत्ता कर्ण  
 दिवहा तुम्ह सुहेण, इमीए पुण पुत्तमयमरयलोहोसेन तुह मरगचिनो-  
 पायपम्माउकाए दुक्खेणं ति । परिचिन्तिप्रो उवाप्रो । देमि से पोउ-  
 होयवासवारणपमोयणे विमं ति । तत्रो उववासलहुसरीरो रितःप्रोउ  
 लहुं चेय न भविस्तइ ति चिन्तिऊण पउतं विसं । लद्धो तुमं तेव ।  
 एय्यन्तरमि दिद्धो नन्दिणोए । कत्रो अगाए कोलाहलो । तत्रो अहि-  
 यरं ते कूजिउं पयसा जगमो । संमिलिप्रो लोपनिपहो । तत्रो एकेन  
 सिद्धुत्तेण विपापहारमन्त्रसामय्यप्रो 'साहम्मिप्रो' ति कतिऊण  
 जीवाविप्रो । समुत्पन्ना य ते चिन्ता । एवमनेकोरद्वयमात्रं मनु-  
 याग जोयियं । ता अने निहवासेनं । मा पुनो रि मे पमतस्य एवमेव

दत्तं, तत्रो यइ पुत्तम्, तद् भगिस्तमि इति । दत्तितस्त्रयाः प्रदेव ।  
 अत्रागलोहोसेन चिन्तितं च तत्रो-अवादायामि एउम्, तत्र एकाकिनो  
 प्रहोदामि । एव चिन्तियित्वा भगितस्त्रयम् । पुत्तम् । प्रमूयमेयं  
 इयम् । एवस्मिन् गृहमाणे कदाविद् नररतिरवगच्छेत् तत्रैव स घेः  
 इशापहारमपि मा करिष्यति, तत्रोऽयं तावद् एतेन, अवसरेण प्रहो-  
 ध्याम इति । त्वया भगितम्-अय्य ! यत् त्वमाज्ञायसि । प्रविष्टं  
 नगरम् । अत्रिकाण्डा, कतिचिद् दिवसाः तव सुखेन, अस्याः पुनः पूर्वं  
 पवाप्स्यस्यलोमदोषेण तत्र मरणचिन्तोपायपर्याकुलाया दुःखेति । परि-  
 चिन्तित उवायः । ददामि तस्य पोयघोरवासपारणकमोजने विरमिति ।  
 तत्र उवायामल्लुत्तरीरो विपप्रयोगेण क्वचिद् न भविष्यति इति चिन्तयित्वा  
 प्रपुत्र उवायम् । लद्धस्त्वत्तन । अत्रान्तरे दृष्टो नन्दिया । कृजो जना  
 को गहृत् । तत्रो अहिजनरतत्र कूजितुं प्रवृत्ता जननी । संमिलितो लोहनि-  
 यद्दः । तत्र एकेन सिद्धुत्तेण विपापहारमन्त्रसामय्यतः 'साधमिकः' इति  
 कटपिशा जोवितः । समुत्पन्ना च तत्र चिन्ता । एवमनेकोरद्वयमात्रं मनु-  
 याग जोवितम् । तत्रोऽयं गृहवासेन । मा पुनरपि मम प्रमतस्य एवमेव



इच्छन्ति सर्वजीवा निमिरदुःखिता वि जीविं जम्हा ।  
 तस्मात् तं चेन्न निरे तोयि कुम्भेन विजेयम् ॥२३॥  
 तस्मात् न मरयस्मिन् मरणेन उपस्मिते राज्यमपि ।  
 देह मजीविनहेतुं तस्मात् तं चेन्न द्रुवरं ॥२४॥  
 दायन्तं च मदमया जं द्रुवं होद माह्वमानं तु ।  
 तं दानं परलोके सुप्रमिच्छन्ना मुदितात्मन् ॥२५॥  
 दीर्घायुस्तु सूरूपो नीरोमो होद अमयदानेन ।  
 जन्मान्तरे वि जीवो तव जननगताह्वनिजो य ॥२६॥  
 एतत् तु अमयदानं त्रिदशेन्दुनरेन्दुनतपरणे ।  
 श्रावय ! जिनेर्भणिं दुर्जयकर्माष्टदलने ॥२७॥  
 धर्मोपग्रहदानं भण्यते स्वयमेव द्रव्यमविवक्ष्यं ।  
 नवकोटीपरिशुद्धं विज्जन्तं जं धम्मिषज्जणस्त ॥२८॥  
 तं पुन अगणं पाणं पत्यं पतं च भेतमं जोमं ।  
 दायव्यं तु मदमया ताहेव सयणासणं पवरं ॥२९॥

इच्छन्ति सर्वजीवा निमिरदुःखिता अति जीविन् मस्मात् ।  
 तस्मात् तदेव प्रिय तोया कुम्भेन विजेयम् ॥२३॥  
 यस्माच्च मरयस्मिन् मरणे उपस्मिते राज्यमपि ।  
 ददाति स्वजीविनहेतुं तस्मात् तदेव द्रुवतम् ॥२४॥  
 दातव्यं च मतिमया यदिष्टं भवति ग्राहकाणां तु ।  
 सद् दानं परलोके सुप्रमिच्छन्ना मुदितात्मन् ॥२५॥  
 दीर्घायुस्तु सूरूपो नीरोमो भवति अमयदानेन ।  
 जन्मान्तरेऽपि जीवः सकलजनश्लाघनीयश्च ॥२६॥  
 एतत् तु अमयदानं त्रिदशेन्दुनरेन्दुनतपरणे ।  
 श्रावय ! जिनेर्भणिं दुर्जयकर्माष्टदलने ॥२७॥  
 धर्मोपग्रहदानं भण्यते स्वयमेव द्रव्यमविवक्ष्यम् ।  
 नवकोटीपरिशुद्धं दीयते यद् धार्मिकजनाय ॥२८॥  
 तत् पुनश्चानं पाणं पत्यं पतं च भेयजं योऽयम् ।  
 तु मतिमता सर्वैव दायनाऽस्तनं प्रवरम् ॥२९॥



तं सदाजलरहितं भीयं य न होइ बहुफलं तस्त ।  
 दाणं बहुं पि पवरं दूषितचित्तस्त मोहेण ॥३७॥  
 पाऊण य पाणिवहुं जो दाणं देइ धम्मसद्धाए ।  
 वहिऊण चन्दणं सो करेइ अंगारवाणिज्जं ॥३८॥  
 मूढो लोपविद्वं धम्मविद्वं च देइ जो दाणं ।  
 सो अप्पाणं तह गाहणं च पाडेइ संसारे ॥३९॥  
 जाणह गाहणसुद्धं पञ्चमहव्ययधरो उ जो निममा ।  
 गुहसुत्तूतानिरओ जोगम्भि समाहियप्पा य ॥४०॥  
 तह एन्ति-मद्वय-ज्जयजुत्तो धणियं च विगल्लोही व ।  
 मण-धयण-कायगुत्तो पञ्चिन्दियनिगहपरो य ॥४१॥  
 सज्जायसाणनिरओ सुद्धप्पा सुद्धसाधुचरिओ य ।  
 इह परलोए य तहा सवत्थं दढं अपडिबद्धो ॥४२॥  
 मेरु थ्य जो न तीरइ उयसगसमीरणोहि चालेउं ।  
 एवारिसम्मि दाणं गाहणसुद्धं तु विघ्नेयं ॥४३॥

तत् सदाजलरहितं भीजमिय न भवति बहुफलं तस्य ।  
 दानं बहुं यदि प्रवरं दूषितचित्तरय मोहेन ॥३७॥  
 कृत्वा च पाणिवर्धं यो दानं ददाति धर्मश्रद्धया ।  
 दाध्या चन्दनं स करोति अङ्गारवाणिज्यम् ॥३८॥  
 मूढो लोकविद्वं धर्मविद्वं च ददाति यो दानम् ।  
 आत्मानं तथा ग्राहकं च पातयति संसारे ॥३९॥  
 जानीत ग्राहकसुद्धं पञ्चमहाव्ययधरस्तु यो निपमात् ।  
 गुहसुत्रूपानिरतो योनें समाहितात्मा च ॥४०॥  
 तथा एन्ति-मादंवा-ज्जयजुत्तो बाढ च विगल्लोमस्तु ।  
 मनो-यदन-कायगुत्तः पञ्चिन्दियनिग्रहपरो य ॥४१॥  
 स्याध्यायध्याननिरतः सुद्धात्मा सुद्धसाधुचरितस्य ।  
 इह परलोके च तथा सर्वत्र दृढमप्रतिबद्धः ॥४२॥  
 मेरुस्थे यो न तीरते उपसगसमीरणोच्चालयितुम् ।  
 एतादृशे दाने ग्राह्यसुद्धं तु विघ्नेयम् ॥४३॥





जानह ॥ भावगुणं मत्ता-मनेनारदगुणो य ।  
 कर्तव्यं मनेनो अत्तानं देह जो दानं ॥५१॥  
 मयकोटीरिगुणं रमरोगरिविनिर्गुणं च देवं वि ।  
 एव नि भावगुणं वत्ततं नीरराणेहि ॥५२॥  
 भट्टरमद्वेषमो भवि मृत देह कर्तुमिदमगो उ ।  
 मनिदानं च न एव भावगुणं हृदयं दानं ॥५३॥  
 मोक्षार्थं न दानं न नद एवो विही मुनेयगो ।  
 अनुकम्पादानं पुन जिमेहि न कहिनि वद्विमिदं ॥५४॥  
 एवो उ दानमदो धर्मो मनेनो समरतागो ।  
 मृतो य सोऽमदयं तु भगवमाणं नितामेह ॥५५॥  
 जानह य सोऽमदयं पाणरहा-दलिय-अदिप्रदानां ।  
 मेहुण-परिग्रहाण य विरई जा सक्कहा सम्मं ॥५६॥  
 सह कोह-माण-माया-लोभस्य य निग्रहो दंडं जो उ ।  
 एतौव मह्य-उज्जय-संतोमविचितसरमेहि ॥५७॥

जानोत च भावगुणं श्रद्धा-सवेगप्रकटगुणकश्च ।  
 कृतकस्य मन्यमान आत्मानं ददाति यो दानम् ॥५१॥  
 नयकोटिपरिगुणं दशशेषविरहितं च देवमपि ।  
 एतद् अपि भावगुणं प्रकृत्य वीतरागेऽपि ॥५२॥  
 अलंकारातीतगतोऽपि गुणं दद्याति कर्तुमित्तमनास्तु ।  
 सनिदानं च न एव भावगुणं भवति दानम् ॥५३॥  
 मोक्षार्थं यद् दानं तत् प्रति एव विधिर्ज्ञातव्यः ।  
 अनुकम्पादानं पुनर्जिनैर्न कुर्वन्ति प्रतिपिदम् ५४॥  
 एष तु दानमयी धर्मः सधेवतः समाख्यातः ।  
 इतश्च शीलमयं तु भगवमाणं निशामयत ॥५५॥  
 जानोत च शीलमयं प्राणवधा-श्लोका-उदताऽऽदानानाम् ।  
 मयून-परिग्रहाणां च विरतिर्षा सर्वथा सम्यक् ॥५६॥  
 तथा क्रोध-मान-माया-लोभस्य च निग्रहो दंडं यस्तु ।  
 क्षान्त्या मार्दवा-ऽऽर्ज्यं संतोष-वि-

क्षणलवपडिबुज्जणया सद्धा-संवेगपासणा तह य ।  
 चित्तेण निरोहेणं मेत्तो वि य सव्वजीवेसु ॥५८॥  
 एयं च सेविऊणं धम्मं जिणदेसियं सुसोलमयं ।  
 मुगई पावन्ति नरा ठएन्ति सइ दुग्गइदुवारं ॥५९॥  
 एसो उ सोलमइओ भणिओ धम्मो जिणेहि सव्वेहि ।  
 सावय ! परमगुरुहि दुज्जयजियरागदोसेहि ॥६०॥  
 भण्णइ तवोमइओ स बाहिर-अम्मन्तरस्स य तवस्स ।  
 जमणुट्ठाणं कीरइ असेसकम्मवत्तयनिमित्तं ॥६१॥  
 अणत्तणमूणोपरिया वित्तीसंखेवणं रसच्चाओ ।  
 कायकिलेसो संलीणया व बज्झो तवो होइ ॥६२॥  
 पायच्छित्तं विणओ वेपावच्चं तहेव सज्झाओ ।  
 हाणं उस्सग्गो वि य अम्मन्तरओ तवो होइ ॥६३॥  
 एवं चरिऊणं तवं जीवा इह-मारलोइयसुहाइं ।  
 पावेन्ति विसालाइं करेन्ति दुक्खवत्तयं तह य ॥६४॥

क्षणलवप्रतिबोधनता श्रद्धा-संवेगस्पर्शना तथा च ।  
 चित्तेन निरोहेण मैत्री अपि च सर्वजीवेषु ॥५८॥  
 एवं च सेविता धर्मं जिणदेशितं सुशीलमयम् ।  
 मुगतिं प्राप्नुवन्ति नराः, स्वययन्ति सदा दुर्गतिद्वारम् ॥५९॥  
 एष तु शीलमयो भणितो धर्मो जितैः सर्वैः ।  
 भावक ! परमगुरुमिदं जयजितराग-द्वेषैः ॥६०॥  
 भण्यते तपोमयः सबाह्या-अभ्यन्तरस्य च तपसः ।  
 यद् अनुष्ठानं क्रियते अशेषकर्मक्षयनिमित्तम् ॥६१॥  
 अनशनमूणोदरिका वृत्तिसंश्लेषणं रसत्यागः ।  
 कायकलेशः संलीनता च बाह्यं तपो भवति ॥६२॥  
 प्रायश्चित्तं विनयो वैयावृत्यं तथैव स्वाध्यायः ।  
 ध्यानमुत्सर्गोऽपि च आभ्यन्तर तपो भवति ॥६३॥  
 एवं चरित्वा तपो जाता इह-मारलौकिकसुखानि ।  
 प्राप्नुवन्ति विसालानि कुर्वन्ति दुःखक्षयं तथा च ॥६४॥

एसो उ तवोमइओ धम्मो संखेवओ समवत्ताओ ।  
 निसुण्ह एसो सुन्दर ! धम्मं पुण भावणामइयं ॥६५॥  
 सम्मं सम्महंसण-नाण-चरित्ताण-भावणा जाओ ।  
 वेरग्गभावणा वि य परमा तित्थयरभत्ती य ॥६६॥  
 संसारजुगुच्छणया कामविरागो सुसाहु-जिणसेवा ।  
 तित्थयरभासियस्स य धम्मस्स पभावणा तह य ॥६७॥  
 मोक्खसुहम्मि य राओ अणाययणवज्जणा य सुपसत्था ।  
 सह अप्पणो य निन्दा गरहा य कहिंचि खलियस्स ॥६८॥  
 एसो जिणेहि भणिओ अणन्तनाणीहि भावणामइओ ।  
 धम्मो उ भोमभववणसुजलियदावानलम्भूओ ॥६९॥  
 एयं चउध्विहं कासिऊण धम्मं जिणेहि पत्तत्तं ।  
 सुन्दर ! अणन्तजीवा पत्ता मोक्खं सदासोक्खं ॥७०॥  
 तओ एयमायणिऊण आविष्मूओ सिहिकुमारस्स जिणधम्मबोहो ।  
 भणिओ य णेण भयवं विजयमिद्धो-भयवं ! एवमेवं, ईदिसो वेवएत्त

एष तु तपोमयो धर्मः श्रद्धेयतः समाख्यातः ।  
 निशृणुत इतः सुन्दर ! धर्मं पुनर्भाविनामयम् ॥६५॥  
 सम्यक् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्याणां भावना याः ।  
 वैराग्यभायनाऽपि च परमा तीर्थंकरमस्ति श्व ॥६६॥  
 संसारजुगुप्सनता कामविरागः सुसाधु-जिनसेवा ।  
 तीर्थंकरभाषितस्य च धर्मस्य प्रभावना तथा च ॥६७॥  
 मोक्षसुखे च रागोऽजयतनवर्जना च मुप्रशस्ता ।  
 सदा आत्मनश्च निन्दा गर्हा च कूत्रचित् स्तलितस्य ॥६८॥  
 एष जिनेर्भणितोऽनन्तज्ञानिधिर्भाविनामयः ।  
 यमस्तु भोमभववनमुज्वलितदावानलभूतः ॥६९॥  
 एव अनुविद्य स्पृष्ट्वा धर्मं जिनेः प्रशस्तम् ।  
 सुन्दर ! अनन्तजीवाः प्राप्ता मोक्ष सदासौख्यम् ॥७०॥

तत एव आकर्ष्य आविर्भूतः नितिकुमारस्य जिनधर्मबोधः ।  
 भणितश्च तेन भगवान् विजयमिह-भगवन् ! एवमेव, ईदृश एव एषः



# समराइच्चकहम्

- ॥५॥ मंगेयत्रो समवस्ताओ ।  
 ! गाय पुण भावणामदयं ॥६५॥  
 ..हरिणाज-भावणा जाओ ।  
 गाय निग्यवरमत्तो य ॥६६॥  
 काहरागो गुताहृ-जिणसेया ।  
 ..भावाज यभावणा तह य ॥६७॥  
 ..भावाज यभावणा य गुपसत्था ।  
 ..भावाज यभावणा य गुपसत्था ॥६८॥  
 ..भावाज यभावणा भावणामदयो ।  
 ..भावाज यभावणा भावणामदयो ॥६९॥  
 ..भावाज यभावणा भावणामदयो ।  
 ..भावाज यभावणा भावणामदयो ॥७०॥  
 ..भावाज यभावणा भावणामदयो ।  
 ..भावाज यभावणा भावणामदयो ।

एसो उ तवोमइओ धम्मो तंखेदओ समदखाओ ।  
 निसुणह एत्तो सुन्दर ! धम्मं पुण भावणामइयं ॥६४॥  
 सम्मं सम्मद्वंत्तण-नाण-चरित्ताण-भावणा जाओ ।  
 वेरगभावणा वि य परमा तित्थयरभत्ती य ॥६५॥  
 संसारजुगुच्छणया कामविरागो सुसाहु-जिणत्तेवा ।  
 तित्थयरभासियस्स य धम्मस्स पभावणा तह य ॥६६॥  
 मोक्खसुहम्मि य राओ अणाययणवज्जणा य सुपत्तत्त  
 सइ अप्पणो य निन्दा गरहा य कहिंचि खलियत्त ॥६७॥  
 एसो जिणेहि भणिओ अणन्तनाणीहि भावणामइओ  
 धम्मो उ भीमभववणसुजलियदावाणलब्भूओ ॥६८॥  
 एयं चउत्विहं फातिऊण धम्मं जिणेहि पत्तत्तं ।  
 सुन्दर ! अणन्तजीवा पत्ता मोक्खं सदासोक्खं ॥६९॥  
 तओ एयमायणिऊण आविब्भूओ तिहिकुमारस्स जिणधम्मवो  
 णिओ य णेण भयवं विजयसिद्धो-भयवं ! एवनेवं, ईदितो चेय

एष तु तपोमयो धर्मः संक्षेपतः समाख्यातः ।  
 निश्चुण्व इतः सुन्दर ! धर्मं पुनर्भाविनामयम् ॥६५॥  
 सम्यक् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारिषाणां भावना यतः ।  
 वैराग्यभायनाऽपि च परमा तीर्थंकरभक्तिरन ॥६६॥  
 संसारजुगुप्सनता कामविरागः सुसाधु-जिननेया ।  
 तीर्थंकरभाषितस्य च धर्मस्य प्रभायना तथा च ॥६७॥  
 मोक्षसुखे च रागोऽनाद्यतनवर्जना च सुप्रशस्ततः ।



धर्मो, न एव संदेहो ति । किं तु दानमयं भोक्तृण न सेतमेवा इमरस  
सम्भं अवियता तीरन्ति गिर्येण काउ । ता आचिकर भयव ! केरितो  
पुन इमरस महापुरिससेवियस्स, सधलदुबल्लानलजलरस, सिद्धिवहुसंगमे-  
वहेउणो समणसरस जोगो ति । भयवया भणिय-सुण, समणत्तणारिहो  
आर्यदेमुत्पन्नो, यिसिद्धजाइकुलसमन्विओ, क्षीणप्रायकर्ममलो, तओ  
वेव विमलवृद्धो 'हुल्लह माणसत्तण, जन्मो मरणनिमित्त, यलाओ सप-  
याओ, दुबल्लहेपवो विपया, सज्जो गं विअं गो, अणुसमयमेव मरण, दाउणो  
विवागो' ति अधिगतसंसाररुहवो, तओ चेव तद्विरत्तो, पयणकुसाओ,  
पेवहासो, अकौउणो, कयप्प, यिणीओ, पुट्ठ पि राणा-समवपउरअण-  
वहुमओ, अवोसगाओ, वत्ताणओ, मद्धावओ, धिरसओ समवसंपन्नो प ।  
सिद्धिकुमारेण भणिय-भयव ! सोहणो समणत्तणारिहो भयवया पवे-  
इओ । अहं पुन समुपसपन्नो । ता एव निवेदए भयव पमाणं ति ।  
तओपरिचित्तयं मद्यया-अहा प एसो महाभागवन्तो सुहुमपसि-  
पेम् अविश्वयो, अवसत्तवत्तकओ, अहमिउणभणिकुसलो वि य  
लविज्जइ, तथा भविश्वमणेण महाकुलपसूएणं भवविरत्तचित्तेण

धर्म, न अत्र संदेह इति । किं तु दानमयं भुक्त्वा न दोषभेदा अस्य  
सम्पत्तु अविकलागतीर्यन्ते ( शक्यन्ते ) गृहस्थेन वर्तुम् । तत आचक्ष्व  
भगवन् । कीदृशः पुनरयं महापुरुषसेवितरय, सकलदुःखाजलजलरय,  
सिद्धिवधूसंगमैवहेतोः श्रमणत्वस्य योग्य इति । भगवता भणितम्-शृणु,  
श्रमणत्वाहं आर्यदेशोत्पन्नः विनिष्टजातिकुलसमन्वितः, क्षीणप्रायकर्म-  
मलः, ततश्चैव विमलवृद्धिः, 'हुल्लंभ मनुष्यत्वम्, जन्म मरणनिमित्त-  
त्तम्, यलाः संपदः, दुःखहेतवो विपयाः, सयोगे वियोग, अनुसम-  
यमेव मरणम्, दाउणो विवाकः' इति अधिगतसंसाररुपरः, ततश्चैव  
तद्विरत्तः, प्रतनुकपायः, शोकहास्यः, अकौतुक, कृतज्ञः, विनीतः, पूर्व-  
मपि राजा-समाय पौरजनवहुमतः अद्वेषकारी, कल्याणादयः, श्रद्धावान्,  
स्थिरश्चिद्धः समुपसपन्नदव । सिद्धिकुमारेण भणितम्-भगवन् ! सोभनः  
श्रमणत्वाहो भगवता प्रवेदितः, अहं पुनः समुपसपन्नः । तत एवं निवेदिते  
भगवान् प्रमाणमिति । तत, परिचिन्तित भगवता-यथा खलुएव महाभाग  
वान् सूक्ष्मप्रज्ञेय विचक्षणः, अत्यन्तप्रज्ञान्तरूप, अतिनिपुणभणितिकुश-  
लोऽपि च लक्ष्यते, तथा भवितव्यमनेन महाकुलप्रभूतेन



य । ता इमं नात्र एव पश्यन्ताम्, तं एवो उपागमस्ति इति विनिश्चय-  
मपि य चेन्न-महाभाष्यम् । न मेमगुणविग्रहो इह उपागमः । अने-  
न पदनिर्गुणे ममाश्रयमे अमिष समस्ततया, किं तु दुष्करमिदम् । एव-  
मनु साध्यामेव समस्तप्रतिपक्षभावेन प्राणातिपातविरतिः, अत्यन्तस्य  
अनलिप्तमात्रस्य द्वागमोहमेव तस्य वि अतिद्वयस्य वृत्तता, मन-वदन-  
काएहि अत्यन्तमेव निरोधो, यद्य-पक्षो-यमरकोटि वि निश्चयतया,  
अतिविग्रहादयमविरतिः । उपागम-प्राय-पक्षेणाविगुणविग्रहण, सर्वो-  
पादपञ्चदशोपरिहितमितकालभोजनम्, पञ्चसमितत्वम्, त्रिगुणता, ईर्ष्या-  
समिदादिभाषणाभो, अनशन-प्रायश्चित्त-विनयादिसवाह्याऽभ्यन्तरतपोविधा-  
नम्, मासादिकाश्च अनेकाः प्रतिमाः, विचित्राश्च द्रव्यादयोऽभिप्राहाः,  
अस्नानम्, भूमिशयनीयम्, केशलोचः, निष्प्रतिकर्मशरीरता, सर्वकालमेव  
गुरुणा निदेशकरणम्, लुप्ता-पिपासादिपक्षिहाधिसहनम्, दिव्याद्युपसर्ग-  
विजयः, लब्धाऽपलब्धवृत्तिता-किं बहुना ? अत्यन्तदुर्वेहमहापुरुषव्यूहा-  
ष्टादशशीलाङ्गसहस्रभरवहनमविश्रामम्-इति । ता स्तस्तीत्योः खलु अयं  
बाह्याऽहं महासमुद्रो, भविष्यत्यो निरामाय (ए) एव बालुकाकवलो,

य । तत इदं तावद् अत्र प्राप्तकालम्, यद् एव उपसंगृह्यते इति विनि-  
श्चित्वा प्रतिपक्षे च तेन-महाभाष्यम् ! न शेषगुणविग्रहीत इह उपसंगृह्यते ।  
यत्त च प्रकृतिनिर्गुणे ससारवासे इदं श्रमणत्वम्, किं तु दुष्करमिदम् ।  
अत्र खलु, सर्वकालमेव समस्तप्रतिपक्षभावेन प्राणातिपातविरतिः, अत्य-  
न्ततया अनलीकमापणम्, दन्तशोषनमात्रस्यापि अदत्तस्य वर्जना, मनो-  
वचन-कायैर-ग्रहाद्यर्थनिरोधः, वस्त्र-पात्रो-पकरणेऽपि निमग्नत्वता, चतु-  
विधरात्रिभक्तविरतिः, उद्गमो-त्पादनै-यणाविशुद्धिपिण्डग्रहणं सयोजना-  
दिपञ्चदशोपरिहितमितकालभोजनम्, पञ्चसमितत्वम्, त्रिगुणता, ईर्ष्या-  
मित्यादिभाषणाः, अनशन-प्रायश्चित्त-विनयादिसवाह्याऽभ्यन्तरतपोविधा-  
नम्, मासादिकाश्च अनेकाः प्रतिमाः, विचित्राश्च द्रव्यादयोऽभिप्राहाः,  
अस्नानम्, भूमिशयनीयम्, केशलोचः, निष्प्रतिकर्मशरीरता, सर्वकालमेव  
गुरुणा निदेशकरणम्, लुप्ता-पिपासादिपक्षिहाधिसहनम्, दिव्याद्युपसर्ग-  
विजयः, लब्धाऽपलब्धवृत्तिता-किं बहुना ? अत्यन्तदुर्वेहमहापुरुषव्यूहा-  
ष्टादशशीलाङ्गसहस्रभरवहनमविश्रामम्-इति । ततस्तीत्योः खलु  
अयं बाह्याऽहं महासमुद्रः, भविष्यत्यो निरामाय (ए) एव बालुकाकवलो,

परित्यक्तव्यं नित्यकरवालधाराए, पायत्वा मुहुषहृषवहजालावली,  
परिप्यो मुहुषपवनकोत्थलो, गन्तव्यं गंगाप्रवाहप्रतिधोतसा, तोलिप्यो  
तुलाए मन्दरगिरी, जेयव्यमेकागिना चाउरंगवल, विधेयत्वा विवरीय-  
मन्तद्वचकोपरिधित्तिला, गहियत्वा अगहियपुत्वा तिहुषणजय-  
शगा । एओधम दुषकरं समणत्तणं ति ॥

ततो एयमाधणिऊण पट्टवदनकमलेण भणिय सिहिबुमारेण-  
भयव ! एयमेय, जहा सुदमे आणवेह । कि तु विदियसत्तारसत्त-  
पाणिणो तद्विओगुजजयसत्त तस्समुच्छेयकारणं न किञ्चि दुषकर ति । भय-  
वया भणियं-एयमेय, कि तु तं खेय संसारसत्तं वत्तवपीवलजममाणा-  
मुदरं वि अजेयमयभावनाओ मोहेह पाणिण, मूढो य सो न चिन्तेह तस्स-  
वव, न गणंइ आणइ न यत्तए उयएत्त, नाधियत्तइ गुव, न वेएलइ कुलं, न  
गेवइ धम्म, न खेहेह अयमसत्त, न रवत्तइ ययणिज्ज । सत्तहा त तमापरइ,  
जेण जेण मो इत्थलोए परलोए य किलेसभायणं होइ । ता निहणियधो वत्तु  
एत्त मोहो ति । निहिबुमारेण भणिय भयव ! तस्स वि य निहणने

परित्यक्तव्यं निमित्तकरवालधारायाम, पातव्या मुहुषहृषवहजालावली,  
परित्यक्तव्यः मुहुषपवनकोत्थलः, गन्तव्यं गङ्गाप्रवाहप्रतिधोतसा, तोलि-  
तव्यः तुलायां मन्दरगिरिः, जेयव्यमेकागिना चातुरङ्गवलयम्, वेधितव्या  
विपरीतं भ्रमदण्डकोपरिधोततिला, गहोतव्या अगहोतपूर्वा विम्व-  
नजयपताका । एतदुपमं दुषकरं यमपतवमिति ॥

तत एतद आकर्ष्यं प्रहृष्टवदनकमलेन भणित निहिबुमारेण-  
भयवन् ! एवमेतद, यथा यूयम् आज्ञापयत । कि तु विदिनमनार-  
रूपय पाणिनः तद्विओगोत्तस्य तस्योक्तोदवारणं न किञ्चिद दुषकर-  
मिति । भयवता भणियम्-एवमेवत, कि तु तदेव संसारसत्तं वत्तवपी-  
वलजममानागुन्दरमणि जेयव्यमेकागिना चातुरङ्गवलयम्, वेधित-  
न विन्नयति तस्वरूपम्, त वत्तयति आदियम्, न यत्तने उपदेसम्,  
नाधियत्तइ गुवम्, न प्रेतने कुलम्, न गेवने धम्मम्, न विवरीय-  
वव, न रवत्तइ ययणीयम् । गेवदा तव एह आचारिण, जेय जेय ग इह-  
लोके परलोके य किलेसभायणं होइ । ततो निहणियधो वत्तु एत्त  
मोहो इति । निहिबुमारेण भणियम्-भयवन् ! तस्मादि य निहणने

अहिहाणं पवत्तए । न उण एत्थ कोइ देहं चइऊण घडघिडओ वि-  
परमयं गच्छइ । ता मा तुमं असन्ते विपरलोके मिच्छाहिनिवेममावि-  
मई सहायमुन्दरं विसयगुह परिच्चयसु, दंसेहि वा देहवइरित देहिणं ।  
अओ ज तए भणिय-जहा दुल्लहं मणुपत्तण, तमसंबद्धमेव । जओ न तं  
सुकय-दुक्कयाणु भावेण लब्धइ, अवि य भूयपरिणईओ, अओ किमि-  
माउलत्तण । तथा ज च भणिय 'अणिच्चा पियजणसमागमा', एयं वि  
अकारण । जओ न ते निवत्तन्ताण पि अत्तहा होन्ति । तथा जं च भणियं  
'चच्चलाओ रिद्धोओ', एयस्स वि न निवत्तमणमेव पडिबवतो, अवि  
य उवाएण परिरवत्तण ति । तथा जं च भणिय 'कुमुमसारं जोय्यण',  
एत्थ वि य रसायण जुत्तं, न उण निवत्तमणं ति । तथा जं च भणियं  
'परलोपपत्तियओ अणगो' ति, एयं वि न सोहणं, जओ परलोओ सेव  
नत्थि, न य कोइ तओ आगन्तुमत्पाणयं दसेइ । एयमिदं य परिगत्तये  
अइत्थसगो ति । तथा जं च भणिय 'दारणो विसयविद्यागो' ति, एयं वि  
म जुत्तिमगय; जओ आहारस्स यि विद्यागो दारणो सेव, एवं च भोयण-  
मयि परिच्चइअय्यं । न य 'हरिणा विजज्जति ति जया सेव न दुत्पत्ति ।'

अभिघाण प्रवर्तते । न पुनरत्र कश्चिद् देह रूपवत्त्वा घटचटक इव परमत्र  
गच्छति । ततो मा त्वमप्यपि परलोके मिथ्याभिनिवेशमावितमति स्व-  
सावमुन्दर विषयगुह परिचय, दंश्य वा देहव्यतिरिक्त देहिणम् । अतो यत्  
त्वया भणितम्-मया दुर्लभ मनुजत्वम्, तद असंबद्धमेव । यतो न तत्  
गुह्यतदुत्पत्तानुभागेन गम्यते, अपि च भूतपरिणतितः । अतः किमिदमाकुल-  
त्वम् । तथा यच्च भणितम् 'अनिट्ठाः प्रियजनसमागमा' एतदपि अकार-  
णम् । यतो न ते निष्क्रान्तानानामपि अन्यथा भवति । तथा यच्च  
भणितम् 'चच्चला ऋद्धयः', एतस्यापि न निष्क्रमणमेव प्रतिपक्षः, अपि  
च उपायेन परिरक्षणमिति । तथा यच्च भणितम् 'कुमुमसार योयनम्',  
अत्रापि च रसायन यन्त्रम्, न पुननिष्क्रमणमिति । तथा यच्च भणितम्-  
'परलोपपत्तियको जटग' इति, एतदपि न सोमनस, यत् परलोक एव  
नास्ति, न च कोऽपि तत्र आगम्य आत्मानं दंशयति । एवमपि च परि-  
वर्तने अनिष्टमग इति । तथा यच्च भणितम् 'दारणो विषय विद्यागः'  
इति, एतदपि न मुक्तिमयम् यत् आहारस्यापि विद्यागो दारण एव, एव च  
भोजनमपि परिदत्तमयम् । न च 'हरिणा विदग्धो इति दवा एव नोत्पत्ते' ।

(जगत्सृष्टिं य एत इति) न य उपायशुभो पुरितस्तदा दारुणतं वि संभवत् ।  
 तथा ज च भणियं 'पह्यद् म सदा अनिवारिष्यसरो मच्च' इति, एवं वि  
 बालवयसमेतं; जेच निवन्तस्तम वि एत अनिवारिष्यसरो चेत्, तेन  
 वि य समनेन 'पञ्जन्ते भरिष्यत्' इति । न य 'पञ्जन्ते भरिष्यत्' इति  
 ममाने चेवावस्थापनमुपपन्नं । न य सन्ते वि परलोके दुःखसेवनाओ मुह,  
 अवि य मुहसेवनाओ चेत् । जओ ज चेत् अन्तर्निजज्ज, तस्सेव पगरिसो  
 लोए दिट्ठो, न उण विपज्जओ इति । ता विरम एयाओ वयसाओ  
 इति । तिष्ठिकुमारेण भणियं-सत्यमिणमसंगय । सुण । अहवा न  
 वृत्तं मयवओ समपत्तं मम जंविउं । ता मयव चेत् एत्थ भणितसइ इति ।  
 तओ मयवया भणियं-मो महामाहण ! सुण । ज सए भणिय, जहा  
 'केन तुमं पवारिओ' इति, एम जन्मन्तराभ्यस्तकुशलभावनाभावित-  
 मतिरत्पावरणसंयुतो वीतरागवचनाऽऽविर्भूतक्षयोपसमभावेन समुत्पन्न-  
 तत्त्वज्ञानी जगत्सृष्टिं भवमहायमवयुज्जिज्ञातुं तओ विरतो, न उण केनचिद्विष्णु-  
 पारिओ इति । तथा ज च भणियं-न खलु एत्थ पञ्चभूतव्यतिरिक्तो पर-  
 लोकागामी जीवो समर्थोयइ, अवि य एयाणि चेत् भूतानि सहावओ चेत्

( जगत्सृष्टिश्च एषा इति ) न च उपायशस्य पुष्टस्य दारुणत्वमपि  
 संप्रवर्ति । तथा यच्च भणितम् 'प्रभवति च सदा अनिवातिप्रसरो  
 मत्पाः' इति, एतदपि यावच्चनमात्रम्; येन निष्क्रान्तरथापि एष  
 अनिवारितप्रसर एव, तेनाऽपि च श्रमणेन पर्यन्ते मर्त्यमिति । न  
 च 'पर्यन्ते मर्त्यम्' इति इमंज्ञाने एव अवस्थानमुपपन्नम् । न च सत्यपि  
 परलोके दुःखसेवनात्, सुखम्, अपि च सुखसेवनादेव । यतो यदेव अभ्यस्यते,  
 तस्यैव प्रवर्पो लोके दृष्टः, न पुनर्विपर्यय इति । ततो विरम एतस्माद् व्यव-  
 सायादिनि । तिष्ठिकुमारेण भणितम्-सर्वमिदमसंगतम् । शृणु । अथवा न  
 युक्त भगवतः समक्ष मम जन्मिषुम् । ततो भगवान् एव अत्र भणिष्यति  
 इति । ततो भगवता भणितम्-मो महामाहण ! शृणु । यतस्त्वया भणितम्,  
 यथा 'केन त्व प्रतारित' इति, एष जन्मान्तराभ्यस्तकुशलभावनाभावित-  
 मतिरत्पावरणसंयुतो वीतरागवचनाऽऽविर्भूतक्षयोपसमभावेन समुत्पन्न-  
 तत्त्वज्ञानी यथास्थित भवस्वभावमवदुष्य ततो विरक्तः, न पुन, केनचिद्  
 विप्रतारित इति । तथा यच्च भणितम् 'न खलु अत्र पञ्चभूतव्यतिरिक्तः  
 परलोकगामी जीवः समर्थो, अपि च एतानि एव भूतानि स्वभावत एव

एतत्प्रकारपरिणामपरिणतानि जीव इति भवन्ति, एवं च न युक्ति-  
संगतम् । यतः सर्वथा अचेतनानि भूतानि । ततः कथमेवामेन-  
प्रकारपरिणामपरिणतानामपि एषा प्रत्यक्षप्रमाणानुभूयमाना गमनादि-  
चेष्टानियन्त्रणा चेतना युज्यत इति । नहि मद् भेषु प्रत्येकं न विद्यते,  
तत् तेषां समुद्रयेऽपि भवति, यथा बालुकास्थानके तैलम् । अथ 'प्रत्येक-  
मपि इमानि चेतनानि' इति, ततः सिद्धमनेकचैतन्यसमुद्रयः' पुरुषः,  
एकेन्द्रिमाश्च जीवाः, घटादीनां च चैतन्यमिति । न च घटादीनां चेत-  
नेति । अतोऽस्ति तन्म पञ्च भूतव्यतिरिक्तचैतन्यात्पः परलोकगामी  
जीव इति । ततश्च यद् भणितम्—'यदा एतानि त्यक्त्वा समुद्रय  
पञ्चत्वमुपगच्छन्ति, तदा "यतः पुरुषः" इत्यभिधानं प्रवर्तते,' एतदपि  
वचनमात्रमेव । चैतनस्य तदतिरेकभाववृत्तितः । न चानुभूयमानस्वरूपा  
एव चेतना निषेद्धा कथ्यते । तथा यच्च भणितम्—'न पुनरत्र कोऽपि देहं  
त्यक्त्वा घटघटक इव परमव गच्छति' इति एतदपि अत्र एव प्रतिपिद्धं  
वेदितव्यम्, चैतनस्य अचेतनभेदाद् इति । तथा यच्च भणितम्—'ततो मा त्व  
अपि परलोके मिथ्यामिनिवेशमावितमतिः स्वभावागुन्दर विषयमुल

एतत्प्रकारपरिणामपरिणतानि जीव इति भवन्ति, एतदपि न युक्ति-  
संगतम् । यतः सर्वथा अचेतनानि भूतानि । ततः कथमेवामेन-  
प्रकारपरिणामपरिणतानामपि एषा प्रत्यक्षप्रमाणानुभूयमाना गमनादि-  
चेष्टानियन्त्रणा चेतना युज्यत इति । नहि मद् भेषु प्रत्येकं न विद्यते,  
तत् तेषां समुद्रयेऽपि भवति, यथा बालुकास्थानके तैलम् । अथ 'प्रत्येक-  
मपि इमानि चेतनानि' इति, ततः सिद्धमनेकचैतन्यसमुद्रयः' पुरुषः,  
एकेन्द्रिमाश्च जीवाः, घटादीनां च चैतन्यमिति । न च घटादीनां चेत-  
नेति । अतोऽस्ति तन्म पञ्च भूतव्यतिरिक्तचैतन्यात्पः परलोकगामी  
जीव इति । ततश्च यद् भणितम्—'यदा एतानि त्यक्त्वा समुद्रय  
पञ्चत्वमुपगच्छन्ति, तदा "यतः पुरुषः" इत्यभिधानं प्रवर्तते,' एतदपि  
वचनमात्रमेव । चैतनस्य तदतिरेकभाववृत्तितः । न चानुभूयमानस्वरूपा  
एव चेतना निषेद्धा कथ्यते । तथा यच्च भणितम्—'न पुनरत्र कोऽपि देहं  
त्यक्त्वा घटघटक इव परमव गच्छति' इति एतदपि अत्र एव प्रतिपिद्धं  
वेदितव्यम्, चैतनस्य अचेतनभेदाद् इति । तथा यच्च भणितम्—'ततो मा त्व  
अपि परलोके मिथ्यामिनिवेशमावितमतिः स्वभावागुन्दर विषयमुल

परिस्वयमु, दंतेहि या मे देह्यइरितं देहिगं', एतय वि ॥ पुण-जेयन्न-  
मेयसिद्धोए कंहं नतिय परलोगो ? विज्जमाणे य तस्मि कंहं एयस्स  
मिच्छामिनिवेसो ? । कंहं च पमुणसाधारणा विडम्बणामेतस्सुवा चिन्ता-  
यासवहुला मणनिव्वाणवरिणो अविद्यापयीसम्मसुहस्सुवा सहावसुन्दरा  
विसयं ति, किं च तेहितो सुहं ? । जं पुण 'सो देहमिप्पो न दोसइ'  
एय कारणं पुण-सुहमो अणिन्दिओ य सो यत्तए, अओ न दोसइ ति ।  
वेळन्ति पुण सव्वन्नु । भणियं च बीयरामेहि-

अणिन्दिगुणं जीवं अदिस्सं मंसच्चखुणो ।

सिद्धा पस्सन्ति सव्वन्नु भाणसिद्धा य साहुणो ॥७१॥

एवं च परंपरिपि विजयसिद्धाचार्ये ईसि विहसिऊण भणिय पिग-  
केन-भयवं । सव्वमसव्वदमेव भणियं भयवया । कंहं ? पुण-अ ताव  
भणियं-'सव्वहा अचेयणाणि भूयानि, तत् कंहं इमानं एयत्तगारपरि-  
णामपरिणयान वि एता पक्कवरद्वयमाणानुसूयमाना ममणाइचेट्टानिय-  
यणा चेयणा जुज्जइ ति; न हि ज खेसु पत्तेय न विज्जएत्त तेसि समुदए वि

परित्यज, दर्शय वा मम देह्यतिरिवत् देहिनम्,' अत्रापि च शृणु-  
चैतन्यसदसिद्धया केय नास्ति परलोक. ? विद्यमाने च तस्मिन् कथ-  
मेतस्य मिथ्यामिनिवेशः ? कथं च पदगुणसाधारणा विडम्बनामावरूपा-  
विचिन्ताऽस्यासवहुला मनोनिर्वाणवरिणोऽविज्ञातविसम्मसुखस्वरूपा-  
स्वभावसुन्दरा विषया इति ? किं च तेभ्यः सुखम् ? यत् पुनः 'स देह-  
मिप्पो न इवयते,' अत्र कारणं शृणु-सूक्ष्मोऽनिन्द्यश्च स वर्तते, अतो  
न इवयत इति । प्रेक्षन्ते पुनः सवशाः । भणितं च बीतरयैः-

अणिन्दिगुणं जीवमदृश्यं मांसचक्षुषः ।

सिद्धाः पश्यन्ति सर्वज्ञा ज्ञानसिद्धाश्च साधवाः ॥७१॥

एवं च प्रजल्पति विजयसिद्धाचार्ये ईदृक् विहस्य भणितं पिगकेन-  
भयवन् ! सर्वमसुखदमेव भणितं भयवता । कथम् ? शृणु-यत् तावद्  
भणितम्-'सर्वथा अचेतनानि भूतानि, तत् कथमेवामेतत्प्रकारपरिणाम-  
परिणतानामपि एता प्रत्यक्षरनाणानुसूयमाना ममनादिचेष्टानिय-  
यना पुज्यते इति ? न हि यद्देदु प्रत्यक् न विद्यते, तद् तेषां समुदयः

सर्वमं द्रष्टुं वि न लहति, किमंग पुनानुगागितं ? एवमेव ते मारणाः पन्था-  
पादराहकारिणो तिष्ठपरकर्मपरिणामगर्हिषा चर्गहेति निरपराधेति  
यन्मत्तानुगानिबद्धेति तिष्ठन्परारुद्धतरनरयनिवातिणो कर्मपरतन्त्रा  
कृत् निरसमितं लहन्ति, येन देवानुत्पत्त्यं अनुगागितं ? । भणितं च-

निरयाउए अशीणे निरसमितं नो लहन्ति नरगाओ ।

कम्मेण पापकारी नेरइया ते निहन्ति ॥७२॥

विगर्हेण भणितम्-भगवन् ! अह एव, ता मम येन विद्या सोमोदयो  
नाम, सो अत्यन्तपरलोपमीर, प्राणवहादिविरमो, अकृतायणीतो, अनेक-  
जागपारी पक्षी य समनययं धेतुं कञ्चित् कालं परिपालय ममो ।  
सो य दृष्ट इत्यनेन नियमेन देवेषु उपपन्नो । अत्यन्तवत्सलो य अहं तत्स  
याति । धर्मं य मे देतिपश्यति भणितमासीत् । ता कर्हं सो अपरतन्त्रो  
यि समागो इहागच्छिऊण मं न पडिओहेइ । भवयथा भणितं-गुण,  
अहा नाम कोइ हरिहपुरिसो, हीनआइकुलरूपो यवसायं काज्ज  
गहिपकलाकलाओ देवान्तरमुपगतूण तत्पसायमो कर्हिचि पत्तरगमो,

स्वजनं द्रष्टुमपि न समते, किमङ्ग पुनरनुशासितुम् ? एवमेव ते मारणाः  
प्रमादापराधकारिणस्तीव्रतरकर्मपरिणामगुहीतराश्चण्डेनिरपराधेति यन्म-  
त्तानुगानिबद्धेति तिष्ठन्परारुद्धतरनरकवासिनः कर्मपरतन्त्राः कथं  
निरसमितुं लभन्ते, येन देवानुत्पत्त्यं अनुशासयन्ति । भणितं च-

निरयामुपि अशीणे निरसमितुं नो लभन्ते नरकात् ।

कर्मणा पापकारिणो नेरयिकास्ते निहन्त्यन्ते ॥७२॥

विगर्हेण भणितम्-भगवन् ! यदि एवम्, ततो ममैव पिता  
सोमपिङ्गो नाम, अत्यन्तपरलोपमीरः, प्राणवहादिविरतः, अकृताय-  
णीतः, अनेकजागकारी, पक्ष्यान् च धमनव्रतं गुहीत्वा कञ्चित् कालं  
परिपालय ममः । स च तव दर्शनेन नियमेन देवेषु उपपन्नः । अत्यन्तवत्स-  
लापवाह तस्यासम् । ममैव मम देष्टव्य इति भणितमासीत् । ततः कथं  
सोऽपरतन्त्रोऽपि सन् इहागत्य मानं प्रतिबोधयति । भगवता भणितम्-  
गुण, यथा नाम कोऽपि दारिद्र्यपुरुषः, हीनजातिकुलरूपो व्यवसायं कृत्वा  
गृहात्कलाकलाओ देवान्तरमुपगत्य तत्प्रसादतः कुञ्चित् प्राप्तराज्यः,

कथं विविधमुन्दरीपरिग्रहो, महानरेन्द्रपूजो, संजायानेकमुन्दरावस्थो,  
महासौख्यसागरावगाढो न स्मरति लज्जापतेयस्य कुकलस्य पुत्रभाण्ड-  
कस्य, एवं चैव ते देवा मनुजत्वममरं मन्त्रमाणा धर्मव्यवसायं कृत्वा  
गुह्योत्पलोककलाकलापाः, मुरालयं प्राप्य पूर्वमुकृतप्रसादतो देवविं-  
शतिपुत्रान् मुन्दरीपरिग्रहा, महानेकदेवगणपूजिताः, समुत्पन्नानेक-  
विनिबन्धनाः, अत्यन्तरतितायरावगाढा न स्मरन्ति वि मनुजभावस्य,  
किमयं पुनरागच्छन्ति ? । ता कथं समनुज्ञासयन्ति ? । भणितं च-

“सकन्तदिव्यप्रेमा विसयप्रसक्ताः समस्तकृतव्या ।

अनघो नमनुजकार्या नरभवमसुहं न एन्ति मुरा ॥७३॥

पिणकेन भणितं-भगवन् । जइ एएण हेउणा नागच्छन्ति, देह-  
मिसो यं जीवो, ता इमं इह नगरवत्तं चैव सर्वलोकप्रत्यक्षं विदग्ध्यते ।  
भगवता भणितं-कथय, किं तद् नगरवत्तं ति ? । पिणकेन भणितं-मुनः,  
एतद् नगरे एकेन तत्करेण नरपतिभाण्डागारं मुष्टमासीत् । सो य कहुंवि  
मिगच्छमाणो, गृहीतो निवृत्तपुरिसेहि । नेण्हिऊण सलोत्पन्नो चैव

हृदयविविधमुन्दरीपरिग्रहः, महानरेन्द्रपूजितः, संजायानेकमुन्दरावस्थः,  
महासौख्यसागरावगाढो न स्मरति लज्जापतेयस्य कुकलस्य पुत्रभाण्ड-  
कस्य, एवं चैव ते देवा मनुजत्वममरं धर्मव्यवसायं कृत्वा  
गुह्योत्पलोककलाकलापाः, मुरालयं प्राप्य पूर्वमुकृतप्रसादतो देवविं-  
शतिपुत्रान् मुन्दरीपरिग्रहिताः, महानेकदेवगणपूजिताः, समुत्पन्नानेक-  
विनिबन्धनाः, अत्यन्तरतितायरावगाढा न स्मरन्त्यपि मनुजभावस्य,  
किमयं पुनरागच्छन्ति ? । ततः कथं समनुज्ञासयन्ति ? । भणितं च-

सकन्तदिव्यप्रेमाणो विषयप्रसक्ता असमाप्तकर्तव्याः ।

अनघो नमनुजकार्या नरभवमसुहं नाऽप्यन्ति मुराः ॥७३॥

पिणकेन भणितम्-भगवन् । यदि एतेन हेतुना नागच्छन्ति, देह-  
मिसरव जीवः, तत इदमिह नगरवत्तं चैव सर्वलोकप्रत्यक्षं विदग्ध्यते ।  
भगवता भणितम्-कथय, किं तद् नगरवत्तम्-इति ? । पिणकेन भणि-  
तम्-मुनः, अत्र नगरे एकेन तत्करेण नरपतिभाण्डागारं मुष्टमासीत् ।  
स य कृपचिद्, निवृत्तं गृहीतो निवृत्तपुरिसेहि । गृहीत्वा सलोत्पन्न एव



उपगोत्रो नरपतेः । राज्ञा भणितम्—आपादयत एवम् । ततो सो बह्विज्जतेन  
लोहकुम्भोऽप्यपिपत्तो; पश्चिन्नविज्जण य ठद्वा लोहकुम्भो । सम्मंठा-  
याइ छिद्वाइं सत्ततोत्तएवं । ततो दिग्गा रत्तयात्तमा । तहिं य तो उ-  
गओ पञ्चसत्तं । न विट्ठो सुट्ठनो वि ते निग्गमणमगो ति । अतो अ-  
गच्छामो, न अतो जीवो ति ॥ भगवता भणितम्—भद्र ! ॥ किं नि एवं  
ति । सुण, इहेगम्मि मयरे एगो संतिगो विज्जागवगरिस्सं संरतो सीहदारे  
वि रात्त धमेत्तो सत्तज्जमरगणस्त कण्णे वि य धमेइ । तो य राज्ञा  
पुच्छिओ—कियद्वदूरे धमेति ? । तेण भणितम्—देव ! सीहदारम्भि । राज्ञा  
भणितम् कह मम ठद्मपुगारे वि यासहरए पयितइ ति ? । तेण भणितम्—  
मत्थि ते पाइघाओ ति । ततो राज्ञा अत्तद्दहत्तेज सो पुरितो सत्तंजमो  
सेय उट्ठिपाए पयिततो, युत्तो य 'आएज्जति संलं' । ठद्वा उट्ठिपा  
अज्जतारोकया य । याइओ तेण संलो । विनिग्गओ ते सद्दो, उपलब्धो  
राज्ञा नायरेहिं । न य तस्त निग्गमणछिद्ममुत्तरं ति । एवं इहावि  
भवे, को विरोहो ति ? ॥

विगकेण भणितम्—भयवं ! न एयमेवं ति । सुण । इहेवेगो

उपनीतो नरपतेः । राजा भणितम्—आपादयत एवम् । ततः सो वध-  
नियुक्तेन लोहकुम्भ्या प्रक्षिप्तः, प्रक्षिप्य च स्पगिता लोहकुम्भी । सम्पक्  
स्पागतानि छिद्राणि तत्परीक्षकेन । ततो दत्ता रक्षपालकाः । तत्र च स  
उपगतः पञ्चरत्नम् । न दृष्टः सूक्ष्मोऽपि तस्य निर्वग्नमार्ग इति । अतोऽ-  
वगच्छामः, न अन्यो जीव इति ॥ भगवता भणितम्—भद्र ! यद् किञ्चिद्  
एवम् इति । शृणु । इहेकस्मिन् नगरे एकः चाङ्गिको विज्ञानप्रकर्ष  
प्राप्तः सिंहद्वारे (मुख्यद्वारे) अपि सद्यः धमन् सर्वनगरजगस्य कर्णोऽपि  
य धमति । य य राजा पुष्ट—कियद्वदूरे धमति ? । तेन भणितम्—देव !  
सिंहद्वारे । राजा भणितम्—कय मम स्पगितद्वारेऽपि यासगूटके प्रवि-  
सति—इति ? । तेन भणितम्—नास्ति तस्य प्रतिधात इति । ततो राजा  
अद्घता स पुरुषः सद्यः एक ऊर्ध्वकाया प्रक्षिप्तः, उक्तरथ 'वादय  
सद्यः' । स्पगिता ऊर्ध्वका अनुसारीकृता च । वादितस्तेन संलं ।  
विनिर्वस्तस्य सद्यः, उपलब्धो राजा नागरैः । न च तस्य निर्वग्न-  
छिद्रमुपलब्धमिति । एवमिहाऽपि भवेत्, को विरोध इति ? ॥

पङ्ककेन भणितम्—भयवं ! नैवमेवम् इति । शृणु । इहेवंकः

तत्करतुल्यानमो मितेन मे कालदण्डपातिपुन मम वयणाओ तुलाए तोलि-  
ऊन मलकरमोदएण वायाइओ । सो य पुनो वि तोलिओ जाय जतिओ  
समोयो तसिओ अजीयो वि । अओ अवगच्छामो, न अओ जीयो; अग्रहा  
ऊनपरवो होन्तोति ॥ भगवता भणियं-मह ! अं किंचि एवम् । सुण, इहे-  
गेन गोपालेण वायभरिओ वसिष्ठपुटणो तुलाए तोलाविओ, रिक्को पुनो  
वि तोलाविओ, जाय जतिओ भरिओ, तसिओ रिक्को णि । अह य अओ  
तओ वाओ ति । अह मज्जे, सो मणाण उणयो ति । एवं च होन्ते  
इयरम्मि वि सओ पसंगो ॥ णिकेण भणियं-भवन् । न एवमेव  
ति । सुण, इहेय नगरे मितेन मे कालदण्डपातिपुन मम वयणाओ एणस्त  
तत्करस्त सरीरयं संवत्तुप्यसयं करेन्तेण वि मणिओ जीयो, न य विट्ठो ।  
तओ से सरीरयं एण्डएण्डाई करेन्तेण पुनो वि मणिओ, न य विट्ठो  
ति । अओ अवगच्छामो-न अओ जीयो । भगवता भणियं-मह !  
अं किंचि एवम् । सुण, इहेगेण मनुस्सेण अरणि संवत्तुप्यसयं करेन्तेण वि  
मणिओ भणो, न य विट्ठो । तओ तेण अरणि एण्डएण्डाई करेन्तेण  
पुनो वि मणिओ, न य विट्ठो ति । ता कि सो न तस्मि अरि ति ? ।

तत्करतुल्यानमो मितेन मे कालदण्डपातिपुन मम वयणाओ तुलायां तोलि-  
मिक्का मलकरमोदकं ध्यापादितः । स च पुनरपि तोलितः । यावद्  
यावान् सजीवः, तावान् अजीवाऽपि । अतोऽवगच्छामः, न अन्यो जीवः,  
अन्यथा 'ऊनकरूपोऽपि विद्यते' इति ॥ भगवता भणितम्-मह ! यत्  
किञ्चिद् एतत् । शृणु, इहेकेन गोपालेन वातभूतो वसिष्ठपुटकस्तुलायां  
तोलितः, रिक्क, पुनरपि तोलितः, यावद् यावन् भूतः, तावान् रिक्कोऽपि ।  
अथ च अन्यस्ततो वात इति । अथ मन्यसे, स मणाण ऊनक इति । एव  
च भवति इतरस्मिन्नपि समः प्रसङ्गः ॥ पिङ्गकेन भणितम्-भवन् !  
न एवमेतद् । शृणु, इहेय नगरे मितेन मे कालदण्डपातिपुन मम वय-  
नाद् एकस्य तत्करस्य शरीरकं सवर्तोद्वर्तकं कुर्वताऽपि मागितो जीवः,  
न च दृष्टः । ततस्तस्य शरीरकं खण्डखण्डानि कुर्वता पुनरपि मागितः,  
न च दृष्ट इति । अतोऽवगच्छामः-न अन्यो जीवः । भगवता भणितम्-  
मह ! यत् किञ्चिद् एतत् । शृणु, इहेकेन मनुष्येण अरणि सवर्तोद्वर्तकं  
कुर्वताऽपि मागितोऽग्निः, न च दृष्टः । ततस्तेन अरणि खण्डखण्डानि कुर्वता  
पुनरपि मागितः न च दृष्ट इति । तदा किं स न तस्मिन्नस्ति इति ? ।

अहं मम्यसे भवति त्ति, एवं ततो अणुत्पापसंगो ॥

एवं च भणिए उत्तरप्पयाणामावेण विलियमिअ पिगकं पेण्डअण  
भणियं मयवया-ता एवं दक्खसाहापयलणनिमित्तपयणो इव अविस्समाप्पो  
पि चक्खुणा सरोरवेष्टानिमित्तभूओ जीवो अत्थि त्ति तद्धेयं । अहं मम्यसे,  
पयणो फासिन्विएण घेप्पइ । हन्त ! जीवो वि चित्तचेयणाइधम्मानुहवेण  
घेप्पइ त्ति । भणियं च-

चित्तं चेयण सत्ता विघ्नाणं धारणा य बुद्धी य ।

ईहा मई यिययका जीवस्स उ लवणणा एए ॥७४॥

ता अत्थि जीवो त्ति । एवं च होन्तए अं तुमए भणियमासि, जहा-  
'दुल्लहं खलु एवं माणुसत्तणं त्ति, एयमसंबद्धं चेय; जओ न तं सुकय-  
दुक्कयाणुभावेण लम्भइ, अवि य भूयपरिणईओ त्ति, अओ किमि-  
यमाउलत्तणं' त्ति, एयमजुत्तं । न हि परलोकगामुए जीवे विद्वन्-  
भाणे चेय एवं समत्थधम्ममारम्भसाहगं माणुसत्तणं भूयपरिणइमेतलम्भं  
त्ति । तथा जं भणियं-'अणिच्चा पियजणसमागम त्ति, एवं पि

मय मम्यसे नास्तीति । एवं ततोऽनुत्पादप्रसङ्गः ॥

एवं च भणिते उत्तरप्रदानाभावेन व्यलीकं ( सज्जितम् ) इव  
विद्गक श्रेय भणित भगवता-तत एव बूधाद्यात्ताप्रचलननिमित्तपवन  
इव अदृश्यमानोऽपि चक्षुषा सरोरवेष्टानिमित्तभूतो जीवोऽस्ति इति यदे-  
यम् । अय मम्यसे, पयणा स्पर्शेन्द्रियेण गृह्यते । हन्त ! जीवोऽपि चित्त-  
चेतनादिधर्मानुभवेन गृह्यत इति । भणितं च-

चित्तं चेतना सत्ता विज्ञान धारणा च बुद्धिश्च ।

इहा मतिवितर्का जीवस्य तु लक्षणानि एतानि ॥७४॥

ततोऽस्ति जीव इति । एव च भवति यत् स्वया भणितमासीत्,  
मया-'दुल्लभं खलु एतद् मनुष्यत्वम्'-इति, एतद् अस्मत्तमेव; यतो न  
तन् मुहुरदुष्टताऽनुभावेन लभ्यते, अवि च भूयपरिणतित इति, अतो  
विमदमादुल्लभम्' इति, एतद् अदुष्यतम् । न हि परलोकगामुके जीवे  
विद्यमाने एव एतन् समस्तधर्मारम्भसाधक मनुष्यत्वं भूयपरिणतिमात्र-  
म् । तथा यद् भणितम्-'अनिरथाः प्रियजनसमागमा इति, एतदपि

अकारणं, यतो न ते निष्कान्ताणं पि अत्रहा होन्ति,' एयं पि न सोहणं;  
यतो निष्कान्ताणमिह भुण्णीं प्रिया-प्रियवियप्नो चेय नत्थि ति । तथा  
जं च भणियं- 'वञ्चलाओ रिद्धोओ ति, एयस्स वि न निष्कामणं चेय  
ति, एयं पि बालवयणसरितं  
रिरवसणोवाओ, असारोओ य  
णोओ य । तथा जं च भणियं-

'कृत्तुमसारं ओव्वणं ति, एयं वि य रसायणं जुत्तं, न पुणो निष्कामणं'  
ति, एयं पि न संगयं । यतो न निष्कामणधम्मसाहणरसायणाओ परम-  
पचिन्ताए अन्न रसायणं ति । तथा जं च भणियं- 'परलोपपञ्चत्थियओ  
अणो ति, एयं पि न सोहणं; यतो परलोओ चेय नत्थि, न य कोइ  
तओ आगन्तूणमप्याणय दसेइ, एवमवि य परियप्पणे अइप्पसंगो' ति,  
एयं पि कृ असारं । विचित्तकिरियाणुहव-जाइस्सरणोवलम्भतवकहिय-  
पञ्चया । अज्जमाणुप्पाइसिद्धो कहं परलोओ चेय नत्थि ? । अप्पाणया-  
दणं य भणियं कारणं । तह जं च भणियं- 'दादणो विसपधि-  
वाणो ति, एयं पि न जुत्तिसंगयं; यतो आहारस्स विपाओ दादणो

अकारणम्, यतो न ते निष्कान्तानामपि अन्यथा भवन्ति,' एतदपि न  
याधनम्; यतो निष्कान्तानामिह भुनीना प्रिया-प्रियविकल्प एव नास्ति  
इति । तथा यच्च भणितम्- 'वञ्चला ऋद्धय इति, एतस्यापि न निष्क-  
मणमेव प्रातपक्षा; अपि च उपायन परिरक्षणम्' इति, एतदपि बाल-  
वधनसदृशमेव । यतो न धर्ममय मुक्त्वा अन्य परिरक्षणोपायो, असा-  
पादव इमा द्वय्यर्द्धयोऽनेकसत्त्वापकारिण्यद्व । तथा यच्च भणितम्-  
'कृत्तुमसारं योवनमिह, अत्रापि च रसायनं युक्तम्, न पुननिष्कामणम्'  
इति, एतदपि न संगतम् । यतो न निष्कामणधर्मसाधनरसायनात् परमा-  
पचिन्तायामन्यद् रसायनमिति । तथा यच्च भणितम्- 'परलोकप्रत्य-  
यिकोऽनङ्ग इति, एतदपि न शोभनम्; यतः परलोक एव नास्ति, न च  
कश्चित् तत् आपत्य आत्मानं दर्शयति, एवमपि च परिकल्पने अति-  
प्रसङ्गः' इति, एतदपि खलु असारम् । विचित्रक्रियानुभव-जाति-  
स्मरणोपलम्भतर्कहितप्रत्ययाद् विद्यमानोत्पादादिसिद्धः कथं परलोक एव  
नास्ति ? । आत्मादर्शने च भाणतं कारणम् । तथा यच्च भणितम्- 'दादण  
विपयपाक इति, एतदपि न युजितसंगतम्; यत् आहारस्य विपाको दादण

येन, एव न मोक्षमपि परिचक्षते; न च 'हृदिना विद्यते' इति वा  
 न नृत्त-इति, न च उपायस्य पुनरस्य दाहकत्वमपि संभवति' इति  
 अनालोचितवचनम् । अतो सत्यं येन संसारिणं नृत्तं विनाशाय नैव  
 च कथेन चिन्तयन्, अस्मिन्नायं च पञ्चमस्तत्त्वं गगारात्तो वेवति  
 न य यः पुरारित्तमेव विनयपरिभोगो तोरु इति । अतो विनयतो  
 दाहकता । स भवति इति । नृत्तं मे च मणितम्—'पञ्चमं सत्यं अस्मिन्  
 मरणात् मरन्ति इति, एवं विनाशकत्वमेव इति; जेन विनाशकत्वमपि  
 अनिवार्यपक्षो चेद, न य पञ्चमो मरिष्यति इति मतात्ते चेन्नान्य  
 मुपपन्न, न य सत्ये वि परलोके पुनरुत्पन्नाओ सुतं, अत्रि य मुत्पन्ने  
 नाओ चेद, अतो न चेद अस्मात्तत्त्वत् तस्यैव पुरारितो लोके इति  
 उच्यते इति, ता विरम एवाओ वचनायाओ' इति, एवं विनाश  
 जगमोत्तम् । अतो न निवृत्तमणसा हि कलं जन्ता जन्माभावात् निवृत्तम्, निवृत्तमणसा  
 इत्यस्य जीवस्य न जन्म, न जरा, न व्याधि, न मरणं, न इन्द्रियभोगो  
 न अनिष्टसंप्रयोगो, न बुभुक्षा, न विपासा, न रागो, न दोषो

एव, एव च मोक्षमपि परिचक्षते इत्यर्थम्; न च 'हृदिना विद्यते' इति वा  
 एव मोक्षमेव इति, न च उपायस्य पुनरस्य दाहकत्वमपि संभवति' इति  
 एतदपि अनालोचितवचनम् । यतः सत्यमेव सासारिकं वस्तु विपाकशाला  
 मिति । तच्च क्रमेण वज्रंते, अविश्रुतश्च प्रपञ्चयाकलं संसारक्षय एवेति  
 न च बन्धुपरिवर्जनेन विषयपरिभोगः शक्यते इति । अत एव न  
 दाहकत्वमपि सम्भवतीति । तथा यच्च मणितम्—'प्रभवति सदा अ  
 धारितप्रतरो मृत्पूरिति, एतदपि बाधवचनमात्रमिति; येन निवृत्ता  
 स्मापि एव अनिवारितप्रसर एव; न च पर्यन्ते मर्त्यमिति इत्यर्थम्  
 एव अवस्थानमुपपन्नम्; न च सत्यपि परलोके दुःखसेवनात् सुख  
 मपि च मुत्पन्नेवनादेव, यतो यच्चैव अस्म्यस्यते तस्यैव प्रकर्षो लोके इति  
 न पुनर्विषये इति, ततो विरम एतस्माद् व्यवसायाद्' इति, एतत्  
 भुग्जनयोपपन्नम् । यतो न निष्क्रमणसाधितफलस्य एव अनिवारि  
 प्रसर इति । निष्क्रमणस्य हि फलं यस्माद् जन्माभावात् निवृत्तम्, नि  
 वृत्तमणसा जीवस्य न जन्म, न जरा, न व्याधिः, न मरणम्,  
 न अनिष्टसंप्रयोगः, न बुभुक्षा, न विपासा, न रागः, न दोषः

न कोहो, न माणो, न माया, न लोहो, न भयं, न य अशो वि कोइ उवहवो  
ति, कि तु सर्वान् सध्यदरित्री निरुपमसुहसंपन्नो तिलोपचूडामणोभूओ  
मोक्षपदं चिद्वह । अओ कहं तस्य मच्चुणो पसरो ? । न य अपयट्टकज्जा-  
रंभो पुरिसो फलं साहेइ । कहं च पइसमयमेव मरणाभिभूयानं कापुरिसाणं  
तस्स पडियारमचिन्तयन्तानां अवत्थानं पससिज्जइ ? । अओ 'न य  
पज्जन्ते मरियम्भं ति मत्ताणे जेवावत्थाणमुववसं' ति पहसणप्पाम । न य  
सपलसंगचारिणं वीथरागवयणेण कम्मवत्तज्जयाणं परिणयधरितभाष-  
णाणं समणाणं जं, सुहं, तं चक्कचट्ठिणो वि न जुज्जइ ति । भणियं च  
ममवता—'इह खलु ससारे ॥ सर्वथा सुहमत्थि, अणभिसासुहसहवा  
य एत्थ पाणिणो, कम्मसंजोए दुक्खं तन्निवित्तो सुहं, आजाई दुक्खं तन्नि-  
वित्तो सुह, जरा दुक्खं तन्निवित्तो सुहं, इच्छा दुक्खं तन्निवित्तो सुहं, विषं  
दुक्खं तन्निवित्तो सुहं, संकिलेसो दुक्खं तन्निवित्तो सुहं, मरणं दुक्खं तन्नि-  
वित्तो सुहं, अणादकम्मसंजोगओ य जं इमे पाणिणो अणभिसा य  
सुहसहपत्तं ति धेमि । एवं आजाइ-जरा-इच्छा-विष-संकिलेस-मर-  
णेसु वि विभासा । ते जहा नाम केइ पुरिसा आजाइरोगलेसुपप्पा

न क्रोधः, न मानः, न माया, न लोभः, न भयम्, न च अन्योऽपि कोऽपि  
उपद्रव इति, कि तु सर्वज्ञो सर्वदर्शी निरुपमसुखसंपन्नस्मिलोकचूडामणो-  
भूतो मोक्षपदे तिष्ठति । अतः कथं तत्र मृत्योः प्रसरा ? । न चाप्रवृत्त-  
कार्यान्मः पुनः फलं साधयति । कथं च प्रतिसमयमेव मरणाभिभूतानां  
कापूरुपाणा इत्य प्रतीकारमचिन्तयतामवस्थानं प्रशस्यते ? । अतो 'न च  
पश्यन्ते मर्तंममिति समयाने एवावस्थानमुपपन्नम्' इति प्रहसनप्रापम् ।  
न च सकलसंगत्यागिनां वीथरागवचनेन कर्मसंयोजनानां परिणतचारि-  
व्यावधानां श्रमणानां यत् सुखम्, तत् चक्रवर्तिनोऽपि न भुज्यते इति ।  
मणितं च भयवता—'इह खलु ससारे न सर्वथा सुखमस्ति, अणभिसासुह-  
स्वरूपाश्च अत्र प्राणिनः, कर्मसंयोगे दुःखं तन्निवृत्तिः सुखम्, आजातिदुःखं  
तन्निवृत्तिः, (तो) सुखम्, जरा दुःखं तन्निवृत्तिः सुखम्, इच्छा दुःखं तन्निवृत्तिः  
सुखम्, प्रिय दुःखं तन्निवृत्तिः सुखम्, सबलेसो दुःखं तन्निवृत्तिः सुखम्, मरण  
दुःखं तन्निवृत्तिः सुखम्, अणादकर्मसंयोगतद्वच इमे प्राणिनोऽनाभिहादश्च  
सुखस्वरूपस्येति प्रदीमि । एवम् आजाति-जरा-इच्छा-प्रिय-सबलेस-मर-  
णेसु अपि विभासा । तद् यथा नाम-केचित् पुण्या आजातिरोदसंजोत्तमा-

आजादरोगगतिषा मरिद्वारोगपुरिताद्वया आमरणं तस्मात् अगमिना  
 आरोग्यमुत्सृज्यते, एवं चेत् समणाउसो ! अनाद्वयप्रवृत्तानां वृ-  
 त्तसंवासी इमे प्राणिनो हि । जेन बद्धं वि य न जहा ते अरोगिपुरितं  
 तेमु तेमु रोगिपुरिताङ्गुल्लेखे समायारेमु अवद्विमानं सन्धरोगनिघातनि  
 कारयमणुसासयन्त अत्येन पउससन्ति, अत्येने उवहसन्ति, अत्येने अक-  
 हीरन्ति, अत्येने मुणन्ति, अत्येने न परिणामेन्ति, अत्येने परिणामेन्ति,  
 अत्येने नाणुचिद्वन्ति, अत्येने अनुचिद्वन्ति, अत्येने सगं विराहेन्ति; अत्येने  
 किञ्चसगं विराहेन्ति, अत्येने न विराहेन्ति, अपिराहणाए य न अस्ति  
 केइ सद्यदुक्ताविमोक्ष करेन्ति, करेता तस्मात् विउद्वन्ति, तजो अह-  
 मन्ततस्मात्ते सन्तु अय पुरितेऽविवद्वि अमिनापारोग्यमुत्सृज्यते भवति,  
 समणपरिणामगमा वि आवद्विमानमिनापारोग्यमुत्सृज्यते भवन्ति एवमेव  
 समणाउसो ! आवद्विमानसंवासी इमे प्राणिनो बद्धं वि य न भावा-  
 रोगपुरितं तेमु तेमु कम्मसज्जोपादुक्तामिनापारोग्यमुत्सृज्यते समायारेमु  
 अवद्विमानं तदुक्तामिनापारोग्यमुत्सृज्यते अत्येन (जाव-)  
 अविद्विमानमिनापारोग्यमुत्सृज्यते भवन्ति, न पुन अमहन्ति" ॥

आजातरोगगृहाता अद्विष्टारोगपुरुषादिका आमरणं तस्मात् अग-  
 मिना आरोग्यमुत्सृज्यते, एवमेव अमणावुष्मन् ! अनाद्यप्येवसाना-  
 वर्तक्षेत्रवासिन इमे प्राणिनः इति । यत् दृष्ट्वाऽपि च यथा ते अरोग-  
 गिरुष्य तपु तपु रोगगिरुष्याङ्गुल्लेखे समाचारेषु अवतमानं सर्वराग-  
 निर्धातिनी ! क्रियामनुशासयन्त सन्त्येके (पुरुषाः) द्विषन्ति, सन्त्येके उप-  
 हसन्ति, सन्त्येके अवधीरयन्ति, सन्त्येके गृह्णन्ति, सन्त्येके न परिणम-  
 यन्ति, सन्त्येके परिणमयन्ति, सन्त्येके नानुतिष्ठन्ति, सन्त्येकेऽनुतिष्ठन्ति,  
 सन्त्येके साध्यं विराधयन्ति, सन्त्येके कञ्चसाध्यं विराधयन्ति, सन्त्येके  
 न विराधयन्ति, अविराधयन्ता च सन्ति कोचत् सर्वदुःखविमोक्षं कुर्वन्ति,  
 कृत्वा तस्मात् विकुट्टयन्ति, ततोऽतिक्रान्ततस्मात्ते सन्तु अय पुरुषोऽविवद्वि-  
 दितम् आभजाताऽऽरोग्यमुत्सृज्यते इति भवति, अमण पारणामयामि-  
 मोऽपि अविद्विमानमिनापारोग्यमुत्सृज्यते भवन्ति, एवमेव अम-  
 णावुष्मन् ! आवतक्षेत्रवासिन इमे प्राणिनः दृष्ट्वाऽपि च त भावाऽरो-  
 ग्यपुरुष्य तपु तपु कम्मसज्जोपादुक्तामिनापारोग्यमुत्सृज्यते समाचारेषु अवत-  
 तदुक्तामिनापारोग्यमुत्सृज्यते अत्येन (जाव-) अवि-  
 ममिनापारोग्यमुत्सृज्यते भवन्ति, न पुन अन्यथा" इति ॥

अथो न दुःखमेवमं ताहृदिरिया, अवि य मुहं येय । अगिर्वं च-  
तिपासंपारनिवधो वि मुनिवरो भट्टराग-भय-मोहो ।  
जं पायद मुत्तिसुहं वक्तो तं चवक्रयद्वी वि ? ॥७५॥

अथो मुहमेवमाथो येय मुहपपरितो ति तत्त्वं वेधोवधनं ति ।  
एवमपरिभ्रमं ताहृदिरियाहृदमरिपलोपणेन निवधिरियहियवतामार्थं पददृ-  
भावनममत्परिपासेन अगिर्वं चमयसेन-चयवं । एवमेवं, न अग्रह  
ति । अविभो तेन जिणदेतिथो चम्भो, पवत्रं ताम्भसं, चिन्तिवं च विग-  
दम्भोहं-अहो । ये मुपस्त मोहो वधतामो' ति । विगदेन वि य वध-  
मुहपरिपासेन येय अगिर्वं-चयवं । एवमेवं ति । अहं बहं पुन पुन-  
वाधानं वितोसो सविगदम्भ ? अयवया अगिर्वं-मुप, वधवधं येय-

अयिरयद्वगतामृदविमंताहृदिरियधूमपविहृये ।  
एवमे वसन्ति मयणे नियतमनिनिम्भस्तुलीए ॥७६॥  
अथे वि रद्वयकुंभुमविनिस्तधूमोलिपूरिजसंभे ।  
जुणनिहेलजयिपस्ततालपरितंठियमुवंगे ॥७७॥

अथो न दुःखमेवमं ताहृदिरिया, अवि य मुहं येय । अगिर्वं च-  
तुपसंपारनिवधो वि मुनिवरो भट्टराग-भय-मोहो ।  
जं पायद मुत्तिसुहं वक्तो तं चवक्रयद्वी वि ? ७५॥  
अथो मुहमेवमाथो येय मुहपपरितो ति तत्त्वं वेधोवधनं ति । अथान्ते  
आमदवापदमपलोपणेन निवधिरियहृदममार्थं चयवं चमयसेन-चयवं-  
वाधेन अगिर्वं चमयसेन-चयवं । एवमेवं, न अग्रहमेति । अविभ-  
देन जिणदेतिथो चम्भो, पवत्रं ताम्भसं, चिन्तिवं च विगदमोह-  
'अहो । ये मुपस्त मोहो वधतामो' इति । विगदेन वि य वध-  
मुहपरिपासेन येय अगिर्वं-चयवं । एवमेवं ति । अहं बहं पुन पुन-  
वाधानं वितोसो सविगदम्भ ? अयवया अगिर्वं-मुप, वधवधं येय-

अयिरयद्वगतामृदविमंताहृदिरियधूमपविहृये (अविभु) ।

एव वसन्ति मयणे नियतमनिनिम्भस्तुलीए ७६॥

अथे वि रद्वयकुंभुमविनिस्तधूमोलिपूरिजसंभे ।

जुणनिहेलजयिपस्ततालपरितंठियमुवंगे ७७॥



एके घबलहरोवरि मियड्डुकरदन्तुरे सह प्रियाहि ।  
 लीलाए गमिन्ति निसि पेसलरयचाट्टुयम्मेहि ॥७८॥  
 अन्ने वि सिसिरमारयसोयपयेविरसमुब्धसियदेहा ।  
 कहकह वि प्रियारहिया याएन्ता वन्तवोणाओ ॥७९॥  
 एगे कञ्चणपडिवद्धयोरमुत्ताहलुम्भडाहरणा ।  
 विलसन्ति बहलकुङ्कुममसलियवच्छत्यलामोपा ॥८०॥  
 अन्ने वि सइं महियलनिसोयणुप्पन्नकिणियपोगित्ता ।  
 मलिनजरकप्पडोच्छइयविग्गहा कह वि हिण्डन्ति ॥८१॥  
 एके पूरेन्ति मनोरहाइ जं मगिराण पणतीणं ।  
 अन्ने पुण परघरहिण्डणेण कुच्छि पि न भरेन्ति ॥८२॥  
 इय पुण्णा-पुण्यफलं पच्चक्खं चैव दीसई लोए ।  
 सह वि जणो रागग्घो घम्मम्मि अणायरं कुणइ ॥८३॥  
 एसो व तम्बिसेसो लक्खिज्जइ आगमवलेण । अन्नं च-

एके घबलगृहोपरि मृगाङ्गुकरदन्तुरे सह प्रियाभिः ।  
 लीलायां गमयन्ति निशा पेसलरयचाटुकर्मभिः ॥७८॥  
 अन्येऽपि सिनिरमारयतृतीयपयेवमानसमद्भुषितदेहाः ।  
 कथंकथमपि प्रियारहिता वादयन्तो दन्तवोणाः ॥७९॥  
 एके काञ्चनप्रतिबद्धस्त्रूलमुक्ताफलोद्भूटाभरणाः ।  
 विलसन्ति बहलकुङ्कुममभरितवक्षस्यलामोपाः ॥८०॥  
 अन्येऽपि सदा महितलनियदनोत्पन्नकिणितपरिपक्वाः ।  
 मलिनजीर्णकपटं (वस्त्रं) उच्छदितविग्रहाः कथमपि हिण्डन्ते ८१॥  
 एके पूरयन्ति मनोरथादि मदु मार्ग्यमाणानां प्रणयिनाम् ।  
 अन्ये पुनः परगृहहिण्डनेन कुक्षिमपि न भरन्ति ॥८२॥  
 इति पुण्या-पुण्यफलं प्रत्यक्षमेव दृश्यते लोके ।  
 तथाऽपि जनो रागान्धो घर्मे अनादरं करोति ॥८३॥  
 इति च तद्विज्ञेयो लक्ष्यते आगमवलेन । अन्यच्च-

पुष्पेण महासोदया धदकी देया य तिरिगामो य ।

पावेण वृमाणस-तिरिय-नारया होन्ति जीवा उ ॥८४॥

रिग्वेण जगियं भयवं ! एवमेवं; अहं किं पुन पुष्पकारण, पाव-  
कारण वा अनुद्धानं ति ? । भयवया जगियं-मुण, पुष्पकारण ताव  
सप्तपाणिषट्-भुतायाया-ऽदस्तावान-मेतुण-परिगृहण विरई, निमित्त-  
वाच्यं, रागबोमाविनिगृहो य । पावकारणं पुन इषमेव विवरीय ति ।  
तयो एवमायज्जिज्ञास पत्रयो। तावयधम्मं एव बभूवत्तं विवरीतः । जगियं  
व बभूवत्तं-भयवं ! एव मे तिरिगुमारो मुनो होइ; जगियं य एतो  
महापुरिषो विष्णु भणुद्धाने । भणुमय य मे सप्तमिम एवमस बभूवत्तं, ता कि  
एवमस भणुद्धानस उपिओ, भणुपिओ ति वा ? भयवया जगियं-न एवमा-  
मपणुपुवं एवमं पडिबभूवत्तं भणुपियं । तयो हरितवपुपुमइयमेव 'करेड  
एव इमं ममं विमनोरहोपरं' ति विमिन्नं जगियं बभूवत्तं-भयवं ।  
भणुमाओ मए तुम, करेहि तवममपुमओय नि । तयो तहरितं एवमि-  
न्नं जगियं तिरिगुमारो-ताव । भणुपि-होओ गिह । तयो विमिन्नं

पुष्पेण महासोदयाधदकी देयाय तिरिगामिनरय ।

पावेण वृमाणस-तिरिय-नारया भवन्ति जीवा उ ॥८४॥

रिग्वेण जगियं-भयवं ! एवमेवं, अहं किं पुन; पुष्प-  
कारण, पावकारण वा अनुद्धानमिति । भयवया जगियं-मुणुपुम-  
कारणं तावन् तावत्तातिरिय मुपावावा-ऽदस्तावान-मेतुण-परिगृहण  
विरति, निमित्तमपि (भोक्तृ) बभूवत्तं, रावत्तातिरियहरित । पावकारणं  
पुरितरिव विवरीयति । एव एवमं कावत्तं तवमः भाववत्तं जग  
वत्तमेव रिग्वेण । जगियं व वत्तमेव-भयवं ! एव मम तिरि-  
गुमारो मुनो भवति; भयवित्तं एव महापुरिषो विष्णु भणुद्धाने । भणु-  
मय य मम तावत्तातिरियमं भवति । एव विमिन्नं भणुपि-  
वत्तं, भणुपिउ इति वा ? । भयवया जगियं-न एवमायज्जिज्ञास  
पत्रयो । तयो हरितवपुपुमइयमेव 'करेड एव इमं ममं  
विमनोरहोपरं' इति विमिन्नं जगियं बभूवत्तं-भयवं ।  
भणुमाओ मए तुम, करेहि तवममपुमओय नि । तयो तहरितं  
एवमिन्नं जगियं तिरिगुमारो-ताव । भणुपि-होओ गिह । तयो विमिन्नं

गुरुं पवित्रा मयं । यन्मयतेन वि य द्यायिषमापोतणापुण्यं महादानं  
कराविषा जिनायपणाईमु अट्टाहिया महिमा । ततो यसाये तिहि-  
करण-महत्त-जोगे महत्ता यमोएण, दिग्मा ए विभूईए, परिपरितो राय-  
गायरएहि, दिव्यं सिद्धिमाएडो, मज्जन्तेहि भंमत्तनूरसंगाएहि, पसंतिज-  
मानो जित्तलोएणं, सत्तुत्तामातोएज्जमानो पूरगुन्दरीहि, देन्तो क्हा-  
मसीहिं अस्सिजणण वाणं निगगओ नयराओ तिहिदुमारो । गतो जय  
सगयं यिजयसिधायरिओति । ओदण्णो सिद्धिमाओ । यन्विओ गुरु ।  
गुरुणा नि कए आवरत्तए सं यामपाते ठविऊण यन्दिमा परमगुरुवो ।  
ततो विट्ठिवन्दनं दत्तुण भणियं तिहिकुमारेण-इच्छाकारेण पट्ठावेह ।  
ततो गुरुणा 'इच्छामो' ति भणित्वा नमोस्कारपाठेण विधिपूर्वकं  
धम्मियं से रयहरणं 'साधुलिङ्गम्' ति । बहुमानओ गृहीतं तिहिकुमारेण ।  
यन्दिऊण गुरुं पुणो भणित्तमणेण-इच्छाकारेण मुण्डायेह । ततो  
'इच्छामो' ति भणित्वा नमोस्कारपूर्वकं अट्टाओ गुरुणा गृहीताओ  
तिणि अट्टाओ । ततो यन्दिऊण गुरुं, भणियं तिहिकुमारेण-इच्छाकारेण  
समाह्वयं मे आरोवेह । 'इच्छामो' ति भणित्वा तदारोपणनिमित्तं समं

गुरुं प्रविष्टो नगदम् । ब्रह्मदत्तेनापि च दापितमापोषणापूर्वकं महादानम्,  
कारिता जिनायतनादिषु अट्टाहिका महिमा । ततः प्रशस्ते त्रिवि-करण-  
महत्त-योगे महत्ता प्रमोदेन, दिग्मया विभूत्या परिकरितो राजनायरकैः,  
दिव्यो सिद्धिकामाहूतः, वाद्यमानैः मङ्गलतूर्यसंघातैः प्रशस्यमानो विदु-  
घल्लोकेन, सत्तुत्तमालोक्यमानः पूरगुन्दरीभिः, ददद् यथासमीहितमर्थ-  
जनेभ्यो दानं निर्गतो नगरात् सिद्धिकुमारः । गतो यत्र भगवान् विजय-  
सिंहाचार्य इति । अवतीर्णः सिद्धिकातः । यन्त्रितो गुरुः । गुरुणा अवि-  
कृते आलस्यके सं यामपास्ये स्थापयित्वा यन्त्रिताः परमगुरुवः । ततो  
विट्ठिवन्दनं दत्त्वा भणितं सिद्धिकुमारेण-इच्छाकारेण प्रयाजयत् । ततो  
गुरुणा 'इच्छामः' इति भणित्वा नमस्कारपाठेन विधिपूर्वकमपितं तस्य  
रजोहरणं 'साधुलिङ्गम्'-इति । बहुमानतो गृहीतं सिद्धिकुमारेण ।  
यन्दिखा गुरुं पुनर्भणित्तमनेन-इच्छाकारेण मुण्डयत् । ततः 'इच्छामः'  
इति भणित्वा नमस्कारपूर्वकम्-अत्रुटिता गुरुणा गृहीतास्त्रयोऽर्घ्याः ।  
ततो यन्दिखा गुरुं भणितं सिद्धिकुमारेण-इच्छा कारेण सामायिकं  
मम आरोपयत् । 'इच्छामः' इति भणित्वा तदारोपणनिमित्तं समं

निहिकुमारेण कञ्चो णेण काउत्तस्यो, चिन्तिओ थओ, पारिओ ममी-  
 वंशारेण । तओ नमोवकारपुव्वयं तिणिण चाराओ कड्डियं सामाइयं, महा-  
 संबेयसारं अणुकड्डियं सिहिकुमारेण । तओ गहिया गुरुणा वाता, दिव्वा  
 परमगुरुपाएणु, तहा सन्निहिपाणं साहुमादीण य । एत्थन्तरमि वदि-  
 ङ्गण गुरुं भणियं सिहिकुमारेण-संदिसह, किं भणामि ? । गुरुणा वदिद-  
 वदित्तु पवेएह । तओ वन्दिऊण जंणियमणेण-तुव्वोहि मे सामाइय-  
 रोवियं, इच्छामि अणुत्त(सि) द्वि ति । वामण्णपाणपुव्वयं भणियं गुरु-  
 किवारगवारो गुरुगुणेहि वड्डाहि । तओ वन्दिऊण भणियं गिण्ण-  
 र्ण-तुव्वं पवेइयं, संदिसह, साहुणं पवेएमि । गुरुणा भणियं-वदि-  
 त्तो वन्दिऊण नमोवकारपाटेण कयं पयाहिणमणेण । निरुपाय-  
 गुरुगुणेहि वड्डाहि ति भणमाणेहि दिव्वा गुरुमादीहि वाता ।  
 गमगमो । एवं तिणिण चारे । तओ वडिओ परमगुरुपाएणु,  
 य नित्तणस्त, कयं निरुद्धं, अणुत्तासिओ गुरुणा । एवं  
 पापमूले विमुञ्जमानेनं परिणामेनं जिणोवदिदुडेणं विहिण-  
 परमोत्तहि महापट्टजं ति ॥

शिखिकुमारेण कुतोऽनेन कायोत्सर्गः, चिन्तिवः स्तवः,  
 रेण । ततो नमस्कारपूर्वकं धीन् दारान् कपितं गाथा-  
 धारमनुकपितं शिखिकुमारेण । ततो गृहीता गुरुणा  
 मगुरुपादेपु, तथा सन्निहितानां साध्यादीनां च ।  
 भणितं शिखिकुमारेण-संदिसात, किं भणामि ?  
 वन्दिता प्रवेदयत । ततो वन्दिता जलिन-  
 विकमारोपितम्, इच्छामि अनुतिष्ठिम् इति ।  
 गुरुणा-निस्तारकपारगो गुरुगणवंधंस्य ।  
 कुमारेण-तुभ्यं प्रवेदितं, संदिसात, साहु-  
 णम्-प्रवेदयत । ततो वन्दिता नमोवकार-  
 निस्तारकपारगो गुरुगणवंधंस्वेति  
 स्थितो मनाग् मार्गतः, एवं धीन् वा-  
 आचार्येभ्य निपण्णस्य च, वृत्तं निरु-  
 षोऽस्य पादमूले विमुञ्जमानेन व-  
 रुद्रावपरमोपधि महाप्रदग्धान्

तीर-  
 इडा-  
 म्यव-  
 प्रेति-  
 प्रहृष्ट-  
 बवा-  
 इति,  
 उदवि-  
 । ततो

अहिण्डिओ आणन्दवाहजलमरियन्नीयणेणं राहूणा यम्मयत्तेणं  
 मयरजणवणं य । अओ कइयपविण्हे तत्थाऽऽसिऊण ममतं मामरये  
 यओ मगयमा सहंसेसन्तरम्मि । एवं च निरइयारं मामणमनुयातेन्ताम  
 अइयकन्ता अणेणे यरिमत्तकरा ॥ इओ य ममुण्णओ जानिणोए अनु-  
 याओ । हा ! इट्ठ मए ययमियं, जेण एसो अयायाविओ चेव निण्णओ  
 ति । ता वेसेमि से वेसत्तययणमारं संदेसयपुप्पयं किंचि उपायणं, जेण  
 एमो पुणो पि कहंचि इहायच्छइ, तओ वावाइस्सं ति । अनुविट्ठियं च  
 तीए जहाममीहिं । पेनिओ बहुविहसंभेमगमिणं कम्बलरयणमादाय  
 सोमदेवो । गओ य सो देमविक्कयायायरियपउत्तिपुच्छणेणं तमालमप्रि-  
 येसमंठियस्स तिहिक्कुमारस्स (गमोवं) । विट्ठो य तेण पच्चुच्चारएण  
 साहूण सुत्तयमणुभासयत्तो तिहिक्कुमारो । वन्दिओ पट्ठवयणपड्डएम् ।  
 घम्मलाहिओ तेणं । पच्छमिन्नाओ य पच्छा । पुच्छिओ य 'कओ मवं'  
 ति ? । तेण मणित्वं-देव ! कोमंबनगराओ अक्कम्ममणुतायाणत्तइत्त-  
 माणवेहाए जणणीए मयओ चेव पउत्तिनिमित्त वेसिओ म्हि । तिहिक्कु-  
 मारेणं मणित्वं-को पि य अनुयाओ अम्माए ? सोमदेवेण मणित्वं-

अभिजन्दिता आनन्दवाष्पजलमृतलोचनेन राज्ञा ब्रह्मदत्तं नगर-  
 जनपदेन च । उक्तं कतिपयदिवसान् तत्र आमित्रा समाप्ते मासकल्पे गतो  
 मयवता सह संश्रान्तरम् । एव च निरतिचार धामण्यमनुपाह्वयतोऽर्थ-  
 क्रान्तानि अनेकानि वर्षलक्षाणि ॥ इत्येव समुत्पन्नो जालिन्त्या अनुतापः ।  
 हा ! दुष्टं मया व्यवसितम्, येन एयोऽव्यापादित एव निगंत इति ।  
 तावत् प्रेषयामि तस्य पेशलवचनसारं संदेशपूर्वकं किंचिद् उपायनम्, येन  
 एष पुनरपि कश्चिद् ब्रह्म आगच्छति । ततो व्यापादयिष्ये इति । अनु-  
 ट्ठितं च तया ययासमीहितम् । प्रेषितो बहुविधसंदेशगमितं कम्बल-  
 रयणमादाय सोमदेवः । यतश्च स देशविख्याताचार्यप्रवृत्तिप्रच्छनेन तमा-  
 लसनिवेगसंस्थितस्य शिखिकुमारस्य (समीपम्) । दृष्टश्च तेन प्रत्यु-  
 च्चारकेन साधूनां मूत्रार्थमनुभासयन् शिखिकुमारः । वन्दितः प्रहृष्टवद-  
 नपट्टजेन । घम्मलाभितश्च तेन । प्रत्यभिज्ञातश्च पदवात् । पृष्टश्च- 'कुतो  
 भवान्-इति ? । तेन मणित्वम्-देव ! कोशाम्बनगराद् अत्यन्तमनुसापान-  
 इह्यमानदेह्या जनन्या भवत एव प्रवृत्तिनिमित्त प्रेषितोऽस्मि । शिखि-  
 कुमारेण मणित्वम्-कोऽपि च अनुतापोऽव्यायाः ? । सोमदेवेन मणित्वम्-

अथ तुम पश्यद्भ्योऽसि । ततोऽसि हि कुमारेण चिन्तितम्-अहो नृ खलु नेह वाय-  
राणि अपरमार्गप्रेक्षीणि जननीहृदयानि भवन्ति, दुष्प्रतीकाराणि य माया-  
दितोऽसि चिन्तयित्वा भणितम्-भोऽसौमदेव ! न खलु अहं अग्न्यानिवे-  
एवं पश्यद्भ्यो, अथ य भवनिर्वेदेन इति । ता अकारणं अनुत्पद्यद्भ्योऽसि ।  
सोमदेवेण भणितम्-देव ! भणितं ते जननीपु, जहा- 'जाय ! येव हि यमो,  
अविशेषभाजनं, अविमृश्याकारी, अञ्जलस्वभावो, प्रभवन्तमृत्परी, अत-  
गाहनिरयो, पश्चादनुतापी महिलान्नो भवति । पुरितोऽयं गम्भीरहि-  
यमो, विनयभाजनं, सुविमृश्याकारी, अचञ्जलस्वभावो, कृतज्ञः, ददा-  
तामो, बहुधावेक्षक इति । ता किं त्वया मम हृदयं अघातिज्ज्वा एव  
भवति इति । अत्र च-प्रपन्नपरलोकमार्गेण विभक्तवया अवश्यमहं प्रेक्षि-  
त्यमिति । उपनीतं च तव कम्बलरत्नम् । एतच्च भगवता अवश्यं प्रदो-  
ष्यमिति । सिद्धिकुमारेण भणितम्-भोऽसौमदेव ! भणितं मया- 'अका-  
रणं अनुत्पद्यद्भ्योऽसि । अं च भणितं, अवश्यमहं प्रेक्षितव्यम् इति ।' एतच्च  
वि गुरु प्रमाणं । अघातिज्ज्वा मम अप्यवस्यतगत्त । एवं वि कम्ब-  
लरत्नं अनुचितं चेन्न साहृणं, तथा वि भगवतो निवेदयिष्ये इति । ततो

यत् त्वं प्रव्रजित इति । ततः सिद्धिकुमारेण-चिन्तितम्-अहो ! नृ खलु  
नेह कातराणि अपरमार्गप्रेक्षीणि जननीहृदयानि भवन्ति, दुष्प्रतीकाराणि  
मातापितर इति चिन्तयित्वा भणितम्-भोऽसौमदेव ! न खलु अहं अग्न्या-  
निर्वेदेन प्रव्रजितः, अपि च भवनिर्वेदेन इति । ततोऽकारणमनुत्पद्यद्भ्योऽसि ।  
सोमदेवेन भणितम्-देव ! भणितं तव जनन्या, यथा- 'जाय ! स्तोकहृ-  
दया, अविशेषभाजनम्, अविमृश्याकारी, अञ्जलस्वभावः, प्रभवन्तमृत्परी,  
असद्व्याहनिरयो, पश्चादनुतापी महिलान्नो भवति । पुरितः पुनः गम्भीर-  
हृदयः विनयभाजनम्, सुविमृश्याकारी, अचञ्जलस्वभावः, कृतज्ञः, ददा-  
तामः, बहुधावेक्षक इति । ततः किं त्वया मम हृदयमज्ञात्वा एतद् व्यव-  
सितमिति । अन्यच्च-प्रपन्नपरलोकमार्गेण विभक्तवया अवश्यमहं प्रेक्षि-  
त्यमिति । उपनीतं च तव कम्बलरत्नम् । एतच्च भगवता अवश्यं प्रदो-  
ष्यमिति । सिद्धिकुमारेण भणितम्-भोऽसौमदेव ! भणितं मया- 'अका-  
रणं अनुत्पद्यद्भ्योऽसि । यच्च भणितम् 'अवश्यमहं प्रेक्षितव्यम् इति,'  
अत्रापि गुरुवः प्रमाणम् । अघातिज्ज्वा मम आत्मनश्चैव स्वस्य । एतदपि-  
कम्बलरत्नमनुचितमेव साधूनाम् । तथापि भगवतो निवेदयिष्ये इति । ततो

वसिष्ठो मे एतेन साहज्या गुरु । निवेद्यो तेन एतं वृत्तान्तो भगवतो ।  
 उद्योगं च कथ्यन्त्यस्य । कुमारवद्विमानो गृहीतं गुरुणा, भणियं च-  
 मोक्षमन्तरायं पेक्षितं अहिगम्यमुपसमासीत् कुमारः । सोमदेवेन भणियं-  
 भायं ! अणुगिहीया से जणनी । एवं च कथयद्विषहे विद्विज्जण गणो  
 सोमदेवो । अद्भुतान्तो कोड कालो कुमारस्य तद-संजमं करेन्तस्त ।  
 मद्यया य कोसंबनगरासन्नविषयविहारेण कुओड पुरिसाओ 'उपरओ  
 ब्रह्मवस्तो' ति समुत्पद्यन्प्रवृत्तिना सयन्तलयणनिमित्तं चैव साहिज्जण  
 एवम्तं वृत्तान्तं कथयन्मुसाहपरिवारिओ पेक्षिओ सिहिकुमारो भगवया  
 विनयसिद्धापरिण कोसंबनगरं ति । पत्तो य सो तयं । आयसिओ मेह-  
 वणाभिज्ञाने उज्जाने । जाओ य जणवाओ, अहो ! आगओ मयं  
 सिहिकुमारो । पूहओ राय-नायरोहि । कया ॥ तेनमखलंयणी धम्मवहा !  
 मायजिगया य नायकया । विद्वद्विषहम्मि गओ जणवित्तयासं । विद्वा य तेन  
 रायोदण विष धम्मवत्तमरणेण अचयन्मणीणविहवा अमंभाविज्जमाना  
 बया सज्जणी । न पण्यमिद्धाया य । पण्यमिद्धाओ य गमोतीए । तओ  
 सहजमायासाहज्येण साहज्यमरियलोयणं सदुत्तमिय भैरवसरं पदव्या  
 वसिष्ठस्तस्य एकेन माधुना गतः । निवेदितस्तेन एव वृत्तान्तो भगवतः ।  
 वसिष्ठं च कथ्यन्त्यस्य । कुमारवद्विमानो गृहीतं गुरुणा, भणियं च-  
 मुक्त्वा यन्तरायं पेक्षितं अहिगम्यमुपसमासीत् कुमारः । सोमदेवेन  
 भणियं-भगवन् ! अणुगृहीता तस्य जननी । एवं च कथयद्विषयान्  
 सिद्धिना गतः सोमदेवः । अदिकान्तं कथितं कालः कुमारस्य तव-संजमं  
 कुर्यन्तः । मद्यया य कोसाम्बनगरासन्नविषयविहारेण कुतश्चिन् पुरिसान्  
 'उपरओ ब्रह्मवस्तो' इति समुत्पद्यन्प्रवृत्तिना स्वयन्तलयणनिमित्तं  
 चैव कथयित्वा एतस्य वृत्तान्तं कथियन्मुसाहपरिवारितं प्रेषितः सिद्धि-  
 कुमारो भगवया विनयसिद्धाचार्येण कोसाम्बनगरमिति । प्रत्यक्षं गतः ।  
 ब्रह्मविनो मेधवनाभिज्ञाने उज्जाने । जायन्त जनवादः, अहो ! आगओ मय-  
 वान सिद्धिकुमारः । पुत्रिओ रात्र नागरे । कया य तेन आशेयणी धर्म-  
 कया । मायजिगद्वय नागरयाः । विद्वद्विषये गओ वसिष्ठो गमोतीए । हृष्टो  
 य तेन पातोऽनेन दुष्टं कथ्यन्त्यस्येन अचयन्मणीणविहवा अमंभाविज्जमाना-  
 बया सज्जणी । न पण्यमिद्धाया य । पण्यमिद्धाओ य गमोतीए । तओ  
 सहजमायासाहज्येण साहज्यमरियलोयणं सदुत्तमिय भैरवसरं पदव्या





एवं च अम्ब ! जूतं तुग्मा वि चइऊण मोहवितपरत्तं ।  
पाउं अच्चन्तमुहं इणमो धम्मामयं चेय ॥९१॥

एवं च भणिए समाने समायं चेय भणियं जालिणीए-जाय । हेहि  
मे अवत्थोचिपाइं ययाइं । तओ आगोचिऊण संपुण्णचरणात्तमं तीए  
परिणामं संसिऊण सवित्थरं गिहिधम्मं विद्यानि से अनुत्थयानि, तओ  
यावणवीमस्सममत्तायणनिमित्तं सत्तमायेण यिय गहिमाइं च तीए । तओ  
कंचि येत्तं गमेऊण पट्टो कुमारो । भणिओ य जालिणीए-जाय ! अग्ग  
तए इहेव भोत्तयं ति । सिहिकुमारेण भणियं-अम्ब ! अणापारो सु  
एसो समणानं, जं मोत्तूण महुपरविस्ति एगविण्डमोयणं ति । जालिणीए  
भणियं-जाय ! सुमे जाणसि ति । एवं च सो पइविणं से करेइ धम्मदेशणं  
चिन्तेइ य जालिणी एवस्स मारणोवाए, न यावइइ कोइ सुट्टमोउयाओ ति  
अन्नया आगया चउहुसो । ठिया साहुओ उययामेणं भियत्ताणहिण्डनेन  
मुणिया य तीए । तओ चिन्तिउं पयत्ता । जइ कहुंचि कत्तं न एस वाक्  
इउजइ, तओ गमित्तइ पक्कसण्णोए । न एत्थ अणो कोइ उयाओ; ९

एवं च अम्ब ! युक्त्वं तवाऽपि त्यक्त्वा मोहवितपरतम् ।  
प्राप्तुमरयन्तमुखमिदं धर्मानृतमेव ॥९१॥

एवं च भणिते सति समायमेव भणितं जालिन्या-जात ! हे  
मम अवत्थोचितानि व्रतानि । तत आलोच्य संपूर्णचरणाऽक्षमं तस्य  
परिणामं संसिद्ध्या गविस्तरं गृहिधर्मं दत्तानि तस्य अनुव्रतानि, तद्वत्  
पावनवितस्समसमुत्पादननिमित्तं सत्त्वायेनेव गृहीतानि च तथा । ९  
काचिद् येतां गमयित्वा प्रवृत्तः कुमारः । भणितश्च जालिन्या-जात  
अथ त्वया इहेन भोत्तव्यमिति । सिद्धिकुमारेण भणितम्-अम्ब ! अ  
धारः मनु एव श्रमशानाम्, यद् मुक्त्वा मधुकरवृत्तिमेकविण्डमो  
मिति । जालिन्या भणितम्-जात ! त्वं जानासि इति । एवं च स प्र  
दिन तस्य करोति धर्मदेशनाम् । चिन्तयति च जालिनी एतस्य मार  
पायान्, न याऽऽपतति कदिचत् सूक्ष्म उपाय इति । अन्यदा आगता  
देशी । स्थिताः साधर उपनातेन भिक्षाऽहिण्डनेन । जातश्च ता  
वत्तद्विषयन्तपिबु प्रवृत्ता । यदि कश्चित् कर्तव्यं न एव व्यापा  
ततो गमित्यति पक्षसधो । नाऽप्य अन्यः कोऽपि उपायः;

कोऊन कंसारं तालपुटसंयुतं चेत्तं विसमोषणं गोसे उच्यतेमि एषाणं,  
निष्कण्डो य मृज्जादिरस्तामि एते । तत्रो सहस्यपरिवेसणेनं तन्मोष  
गप्यमाणेनं वावाइस्मं इमं ति । संवादयं जहासमोहिषमिमीए । गमा गोसे  
चेत्तं भोयणं घेत्तून तमुज्जाणं जालिणी । विट्ठा सिहिकुमारेण, भणिग्या य  
तेनं-अम्ब ! किमेकाकिनी किमपि अनुचितं घेत्तून यागया ति ? जालि-  
णीए भणियं-जाय ! अतणो चेत्त पुण्याहिलासिणी तुम्हाण भोयण ति ।  
सिहिकुमारेण भणियं-अम्ब ! एसो मि ए अणापारो चेत्त समणाणं,  
नमाहावचं आह्वं च मृज्जए ति । कहियो से विही । तत्रो तीए भणियं-  
जाय ! न अन्नहा मे हिषयमिषुई होइ, अफलं च मत्तेमि असंपादए इमस्मि  
जायस्त आगमणं । ता अवस्सं तए इमं कायप्पं ति भणिरूण नियडिया  
चलणेसु । तत्रो य उज्जुयसहावओ 'वेच्छह, से घम्मसङ्का जायसिणेहो  
य, ता मा से विपरिणामो भविस्सइ' ति, तत्रो गुरुलाघवमालोचिकरुणं  
भणियं मिहिकुमारेण-अम्ब ! जं तुमं भणसि ति । किं तु न तुमए पुणो  
वि साधुनिमित्तमारम्भो कामय्यो । जालिणीए भणियं-जाय ! एवं जं तुमं

कृत्वा कंसारं (लपनधियम्) तालपुटसंयुतं चकं विपमोदकं प्रत्युपसि उप-  
नयामि एतेषाम्, निबन्धप्रतश्च भोजयिष्यामि एतान् । ततः स्वहस्तपरिवे-  
षणेन तन्मोदकप्रदानेन व्यापादयिष्ये इममिति । संवादितं यथासमीहित-  
मनया । गता प्रत्युपसि एव भोजनं गृहीत्वा तदुद्यानं जालिनी । दृष्ट्वा  
शिखिकुमारेण-भणिता च तेन-अम्ब ! किमेकाकिनी किमपि अनुचितं  
गृहीत्वा आगताऽमि ? जालिन्या भणितम्-जात ! आत्मान एव पुण्या-  
मिलापिणीयुष्माकं भोजनमिति । शिखिकुमारेण भणितम्-अम्ब !  
एषोऽपि खलु अनाचार एव श्रमणानाम्, यद्वाधाकृतम् आहृतं च मृज्जते  
इति । कथितस्तस्य विधिः । ततस्तथा भणितम्-जात ! न अन्यथा मम  
हृदयं निर्वृतिर्भवन्ति, अफलं च मन्ये असंपादिते अस्मिन् जातरय आग-  
मनम् । ततोऽवश्यं त्वया इदं कर्तव्यमिति भणित्वा निपतिता चरणयोः ।  
ततश्च ऋजुकस्वभावतः 'प्रेषध्वम्, तस्या घर्मश्रद्धा जातरनेहश्च, ततो  
मा तस्या विपरिणामो भविष्यति' इति, ततो गुरुलाघवमालोच्य भणितं  
शिखिकुमारेण-अम्ब ! यत् त्वं भणसि इति । किन्तु न त्वया पुनरपि  
साधुनिमित्तमारम्भः कर्तव्यः । जालिन्या भणितम्-जात ! एवं यत् त्वं

भणसि त्ति । सिहिकुमारेण भणियं—जइ एवं तो देहि एवम् बहुते  
 भोयणजायं, तओ भुञ्जिस्सामि त्ति । जालिण्या भणियं—आय ! रम्भ  
 चेव तुमए माइयच्छलत्तणं, ता कि इमिणा, मम हस्सओ बंस्स  
 त्ति । सिहिकुमारेण भणियं—अम्ब ! एवं; आगच्छ पारणके  
 त्ति । तओ आगया पारणकवेला । कुमारवयणबहुमानओ उरं  
 साहुणो । दित्ताणि तीए जहोचिएण विहिणा भायणाइं । परिणि  
 य सुसंमिजो कासारो । पमुत्ता य साहुणो । दितो य भुत्तेन  
 सारसंगओ चेव कुमारस्स तालपुडलड्डुओ, भुत्तो य तेणं । आयन्ता  
 साहुणो । अवणोयाइ भायणाइं । एत्यन्तरम्मि आडत्तो धारिणिजं नि  
 कुमारो । चिन्तियं तेण 'किमियं' त्ति ? । पलोइया य साहुणो, का  
 सत्या चिट्ठन्ति । तओ गूहियमणेण । एवं च जाय येवा येवा भ्रातृणा  
 ताव पणट्ठा से घाया । चिन्तियं च णेणं—नूणं न भविस्सामि त्ति । नि  
 डिओ धरणिघट्ठे । आजलीहया साहयो, जालिणी य । चिन्तियं चो  
 किमेयं अकज्जं जणणीए से बवसियं भविस्सइ ?

भणसि इति । सिहिकुमारेण भणितम्—यदि एवम्, ततो देहि एवम्  
 साधोर्मोजनजातम्, ततो भोदये इति । जालिन्या भणितम्—जय इति  
 तमेव स्वया मातृवात्सल्यम् । ततः किमनेन ? मम हस्ताद् बन्धनं  
 मिथि । सिहिकुमारेण भणितम्—अम्ब ! एवम्, आगच्छतु पारणके  
 इति । तत आगता पारणकवेला । कुमारवचनबहुमानेन उरं  
 साधवः । दत्तानि तथा यथोचितेन विधिना भाजनानि । परिश्रमात्  
 सुसंभूतः कंसारः । प्रभुवत्ताश्च साधवः । दत्तश्च भुज्जयेकस्य ।  
 एव कुमारस्य तालपुटलड्डुकः, भुज्जश्च तेन । आचान्ताश्च वदन् ।  
 अपनीयानि । अत्रान्तरे आरब्धो (विषेण) ग्रहणित्ति ।  
 'किमेतत्' इति ? । प्रतोकिताश्च वदन् ।  
 । एव च यावत् स्तोत्राणि  
 । चिन्तितं च तेन । मूढ  
 । आतुलीयतां ।  
 किमेतद् अकार्यं जनन्या तत्त मां

॥१॥  
 ॥२॥  
 ॥३॥  
 ॥४॥  
 ॥५॥  
 ॥६॥  
 ॥७॥  
 ॥८॥  
 ॥९॥  
 ॥१०॥  
 ॥११॥  
 ॥१२॥  
 ॥१३॥  
 ॥१४॥  
 ॥१५॥  
 ॥१६॥  
 ॥१७॥  
 ॥१८॥  
 ॥१९॥  
 ॥२०॥  
 ॥२१॥  
 ॥२२॥  
 ॥२३॥  
 ॥२४॥  
 ॥२५॥  
 ॥२६॥  
 ॥२७॥  
 ॥२८॥  
 ॥२९॥  
 ॥३०॥  
 ॥३१॥  
 ॥३२॥  
 ॥३३॥  
 ॥३४॥  
 ॥३५॥  
 ॥३६॥  
 ॥३७॥  
 ॥३८॥  
 ॥३९॥  
 ॥४०॥  
 ॥४१॥  
 ॥४२॥  
 ॥४३॥  
 ॥४४॥  
 ॥४५॥  
 ॥४६॥  
 ॥४७॥  
 ॥४८॥  
 ॥४९॥  
 ॥५०॥  
 ॥५१॥  
 ॥५२॥  
 ॥५३॥  
 ॥५४॥  
 ॥५५॥  
 ॥५६॥  
 ॥५७॥  
 ॥५८॥  
 ॥५९॥  
 ॥६०॥  
 ॥६१॥  
 ॥६२॥  
 ॥६३॥  
 ॥६४॥  
 ॥६५॥  
 ॥६६॥  
 ॥६७॥  
 ॥६८॥  
 ॥६९॥  
 ॥७०॥  
 ॥७१॥  
 ॥७२॥  
 ॥७३॥  
 ॥७४॥  
 ॥७५॥  
 ॥७६॥  
 ॥७७॥  
 ॥७८॥  
 ॥७९॥  
 ॥८०॥  
 ॥८१॥  
 ॥८२॥  
 ॥८३॥  
 ॥८४॥  
 ॥८५॥  
 ॥८६॥  
 ॥८७॥  
 ॥८८॥  
 ॥८९॥  
 ॥९०॥  
 ॥९१॥  
 ॥९२॥  
 ॥९३॥  
 ॥९४॥  
 ॥९५॥  
 ॥९६॥  
 ॥९७॥  
 ॥९८॥  
 ॥९९॥  
 ॥१००॥

अथवा न सोयणिज्जा संपयमेसो वि जीवलोयम्मि ।  
 सिवमुहफलकप्पतरं जिणघम्मं पाविया जेण ॥९९॥  
 ता सुमरामो परमं परमपयसाहमं जिणयत्तायं ।  
 अह पञ्चनमोक्कारं संपइ किं सेसचिन्ताए ॥१००॥  
 तो सो मुहपरिणामो पञ्चनमोक्कारभावणाजुत्तो ।  
 मरिऊणं उययत्तो तियसवरो घम्मलोगम्मि ॥१०१॥  
 मयसागरोवमाऊ रइलच्छिसमागमे विमाजम्मि ।  
 सामानिओ महप्पा घम्मसुरेसस्स दिव्वजुई ॥१०२॥  
 इयरो वि कालसेसं गमिउं मरिऊण सककरप्पहाए ।  
 उययत्ता नेरइओ तिसागराऊ महाघोरो ॥१०३॥

‘समराइच्चकहाए’ मीओ भयो सम्मतो ।



अथवा न सोयणीया सांप्रतमेवापि जीवलोके ।  
 सिवमुहफलकप्पतरं जिणघर्मं प्रापिता येन ॥९९॥  
 ततः स्मरामः परमं परमपदसाधकं जिनाह्वयाम् ।  
 अथ पञ्चनमस्कारं संश्रुतिं किं शेषचिन्तया ॥१००॥  
 ततः स मुहपरिणामः पञ्चनमस्कारभावनायुक्तः ।  
 मृत्वा उपपन्नः निदशवरो ब्रह्मलोके ॥१०१॥  
 मयसागरोवमायू रतिच्छिन्नीममागमे विमर्शते ।  
 सामानिओ महात्मा ब्रह्मगुरेशस्य दिव्ययुतिः ॥१०२॥  
 इतरार्धे कालशेषं गमयित्वा मृत्वा शर्कराप्रमायाम् ।  
 उययत्ता नेरविकः तिसागरावुमेहापीर ॥१०३॥

पाणिनीयवृत्तरागुन्-परमगुणानुरागि-परमसत्ताप्रिय-परमशान्ति-  
 भगवन्-धोर्ध्वमश्नुरिषरवितापो ‘समरादित्यकथायाम्’

सुनीयो भव. समाप्त. ।



# समराइचकहा ( समरादित्यकथा )

हिन्दी अनुवाद

जिन्होंने देवताओं तथा मनुष्यों के द्वारा लिये जाने वाले विषम उपमार्गों पर प्रसार को, जो कि अन्यत्र दृष्ट में विजित किया जा सकता है, जामानी में जीन लिया है, जो त्रिभुवन के मंगल के स्थान है तथा जो श्रेष्ठ मणि को प्राप्त हुए है. ऐसे श्री ऋषभदेव नामक प्रथम जितेश्वर को नमस्कार करो । १

मोक्षरूपी श्रेष्ठ लक्ष्मी में सदा प्रवर्धमान, जिन्होंने अहंकार का नाश कर दिया है तथा परमविभुज ज्ञान-दर्शन के धारक है और मन, वचन तथा काया के तीनों योगों को भी जो नष्ट कर चुके हैं, जो योगियों में सर्वश्रेष्ठ हैं तथा जो स्वयसंबुद्ध हैं ऐसे वर्धमान प्रभु को भी नमस्कार करो । २

शेष बाकी तीर्थंकरों को भी, जो कि जन्म, जरा तथा मृत्यु के बन्धन में मुक्त हैं तथा त्रैलोक्य के मस्तक ऊपर स्थित हैं, अर्थात् लोक के अग्र भाग पर स्थित हैं, उनकी भावपूर्वक नमस्कार करो । ३

जिन भगवान् जिस समय चारों तीर्थों का प्रवर्तन करते हैं, उस समय ( अपनी आन्तरिक प्रसन्नता को प्रकट करने के लिये ) शम्भु आदि देवता जो पुष्पवृष्टि करते हैं, और जिन पुष्पों पर निरन्तर गुञ्जार करनेवाले भ्रमरों का समुदाय सदा मंडराता है, ऐसी वह पुष्पवृष्टि तुमको मंगल की तरफ से जाय, अर्थात् वह पुष्पवृष्टि तुम्हारे लिये मंगलमय हो । ४

देवतागण, मित्रपुरुष अर्थात् महान् योगी तपस्वी पुरुष एवं मनुष्यमात्र जिसे आदरपूर्वक नमस्कार करना है तथा जो तीर्थंकर प्रभु के मुखारविन्द में प्रकट हुई है, ऐसी मनोहर (तथा बन्धाजवारिणी) वाणी तुम्हें सदा सुख प्रदान करे । ५

बहुत विन्नार करने में क्या लाभ ? जो मुनें लायक तत्त्व है, उन्हें मुनी, प्रणमा करने लायक बाये है, उनकी प्रणमा करो तथा जो



हृदि आदि एवं गित्य-मवान बनाने आदि कथाओं से संयुक्त हो' मंत्र प्रसार के धातुवादों ( मोला वादी बनाने की कथा ) के मुख्य उदाहरणों व प्रयोगों में मुख्य गामदामरुण तथा भेद आदि गजनीति की विधियों में युक्त हो वह 'अर्थकथा' कहलाती है ।

कामकथा वह कथा कहलाती है जो काम-गामग्री के विषय की प्रधानता से युक्त हो । धन, दारीर, उन्न, धन तथा अनेक प्रकार की कुशलता से सहित हो, अनुगम भाव में पुनर्निर्मित प्रतिपत्तिमूलक योग की क्रिममें प्रधानता हो तथा जो कृती-व्यापार अर्थात् रति भाव में अनुयुक्त पदार्थों में सम्मिलित हो, वह 'कामकथा' कहलाती है ।

धर्मकथा—उग कथा की कहने हैं जो प्रधान रूप से धर्म-नामग्री का ग्रहण करती हो । दामा, भावक, आज्ञा, निर्लोभता, तप, सयम, शौच, अविचल्य एवं दत्ताचर्य जैसी धर्म भावनाओं में युक्त हो, पाप अनुव्रत, दिग्गन्त, देशावगातिव्रत, तथा अनर्थ दण्ड विरति, नाभायिका, पौषधोपवाम, उग्रमंग-परिमोगन्न, तथा अतिथि मविभागादि व्रतों में सुनोभित हो, अनुकम्पा भाव, अकाम निजंगादि धर्म-नामग्री में समन्वित हो वह धर्म कथा है ।

सर्वांग कथा, वह कथा होती है जो त्रिवर्ग-धर्म, अर्थ तथा काम की उपादान नामग्री में सम्बद्ध हो, काव्य, गद्या, ग्रन्थ एवं ग्रन्थों के अर्थ-विस्तार में विरचित हो, लौकिक अर्थात् वेद शास्त्रों में प्रसिद्ध हो, उदाहरण, हेतु तथा कारणों आदि में सहित हो, वह सर्वांग कथा कहलाती है ।

इन कथाओं के श्रोता तीन प्रकार के होते हैं । यथा—अधम, मध्यम तथा उत्तम ।

अधम श्रोता—जो क्रोध, मान, माया तथा लोभ में आच्छादित बुद्धिवाले, परलोकसम्वर्धा श्रद्धा में सर्वथा पराङ्मुख, इस लोक में ही परमार्थ (मोक्ष) का दर्शन करनेवाले, जीवों पर शिल्कुल दया न करनेवाले, तम प्रवृत्तिवाले पुरुष, दुर्गति में जाने के लिये उद्यत, सुगति तथा सत्कार्यों के मदा प्रणिपत्ती, क्रिममें अनर्थों की प्रधानता कथाओं या कार्यों में ही जो मदा तत्त्वीन रहते हैं, वे 'अधम श्रोता' होते हैं ।





जन्मेवाले तथा शाश्वत एवं कल्याणकारी मोक्षसम्बन्धी सुख में ही जिनका राग है, ऐसे शास्त्रकारों ने कहा है—

धर्म में अच्छे कुल में जन्म प्राप्त होना है, धर्म में दिव्य रूप की प्राप्ति होनी है, धर्म में ही मुक्तिस्तुत कीर्ति प्राप्ति होती है। धर्म अनुपम मंगल है और धर्म ही सभी सामाजिक दुःखार्थी क्षीमाग्निषों की अनुल्लापधि है। धर्म ही मनुष्य की विपुल शक्ति है और धर्म ही मनुष्य का दुःख से राण कर सकता है और धर्म की धारण ही मर्त्त्य शरण है। इस सम्बन्ध में विदोष कहने से क्या लाभ ? इस दुःखमान जगत् में जो कुछ भी दिखाई होना है, शरीर की तथा इन्द्रियों की सुन्दरता आदि सभी एवमात्र धर्म का ही फल है। जिस समय मृत्यु जैसा भयकर प्रसंग आता है, उस समय अत्यन्त कष्टपूर्वक कमाये हुए धन को, सुन्दर शरीर को तथा स्वजनों को छोड़कर प्राणी जत्र जाता है, उस समय धर्म ही उसका मर्त्त्य सहायक होता है। धर्म ही मनुष्य को देवलोक को पहुँचाता है, और देवलोक में ही मनुष्य गति की प्राप्ति भी होती है, इसलिये नि सदेह कहा जा सकता है कि दुःखों से छुटकारा दिलानेवाला, शाश्वत सौख्य प्रदान करनेवाला तथा दीप्त ही मुक्ति प्रदान करानेवाला केवल धर्म ही है। १२-१६

जो धर्मत्रियाओं में कुशल मध्यस्थ होता है, वह भवज भाषित धार्मिककथाओं की गावधानी में गुनता है, उन्हें हृदय से जानता है तथा जानता हुआ, तदनुसार आचरण भी करता है। इसलिये सर्वप्रथम, धर्म के प्रभाव को जानकर में, आराधक तथा विराधक के गुण तथा दोषों के प्रकट करने वाले श्रेष्ठ चरित्र का ही चयन करेंगे। १७-१८

पूर्व के नव भवों में जुटा हुआ, यह चरित्र भव्य प्राणियों की समार में वैराग्य उत्पन्न करनेवाला है। यह चरित्र अश्वत्थि के राजा, समरादिष का है, में इसका चयन करता है, उपरान्त आप मुने। १९

यद्यपि इस चरित्र में वर्णित आराधन तथा विराधन के भव तो बहुत में हैं, लेकिन ये सभी भव बहुत उपयोगी नहीं हैं, केवल इन पन्ध में वर्णित नव भवों के इन दोनों का ( समरादिष तथा गिरिमेन का ) परस्पर निर्घा न किन्तु रूप में सम्बन्ध रहा है, अतः यहाँ नी भवों का रहन

किया गया है। जैसा कि उन भाग्यशाली (ममगादन्य) महात्मा, जिनको देवलजान उत्पन्न हो गया था और जिन्होंने गिरिमेन के दिये गये उपमनों को सहन करने के पश्चात् देवलधर नामक देवता को कहा है—२०-२१।

मुनिचन्द्र नामक राजा की नर्मदा आदि प्रधान गनियों का वर्णन प्रकट रूप में, मैं मधोप में कहूँगा। जैसा कि पूर्वाचार्यों ने कहा है—२२।

(यही आराधक (ममगादन्य) तथा विराधक (गिरिमेन) के नवों भवों का जिन जिन रूप में सम्बन्ध आया है, वह क्या क्रम बतलाये है—)

प्रथम भव में गुणमेन आराधक था तथा वह राजपुत्र था और अग्निदामा विराधक था तथा राजपुरोहित था। दूसरे भव में उक्त दोनों ही क्रमशः सिंह तथा आनन्द नाम से पिता-पुत्र के रूप में हुए। तीसरे भव में उपरोक्त दोनों का जीव माता तथा पुत्री के रूप में उत्पन्न हुआ, जहाँ उनके नाम क्रमशः शिखी तथा जालिनी थे। चौथे भव में दोनों धननामक पति तथा धनश्रीनामक पत्नी के रूप में सम्बद्ध हुए। पाँचवें भव में दोनों जय तथा विजय नामक सगे भाई के रूप में उत्पन्न हुए, पश्चात् छठे भव में धरण नामक पति तथा लक्ष्मी नामक पत्नी के रूप में दोनों का संयोग हुआ। सातवें भव में उपरोक्त दोनों का सम्बन्ध चचेरे भाइयों के रूप में हुआ, जहाँ उनके नाम क्रमशः सेन तथा वितेन थे। आठवें भव में गुणचन्द्र (आराधक) तथा वाणव्यन्तर (विराधक) के रूप में उत्पन्न हुआ इसके पश्चात् नववें तथा अन्तिम भव में ममगादन्य (अवन्ती का राजा) तथा गिरिमेन (अधम कुलोत्पन्न) के रूप में अवन्ती (उज्जैन) नगरी में इनका परस्पर सम्बन्ध आया। ममगादन्य की तो मोक्ष की प्राप्ति हुई और गिरिमेन का ममार अनन्त काल के लिये बद्ध गया। २३-२५।

उपरोक्त नौ ही भवों में जिन नगरों में इनका सम्बन्ध आया, उनमें नाम क्रमशः निम्न प्रकार हैं—

१ शिखिप्रतिष्ठित, २ जयपुर, ३ कोशाम्बी, ४ गुणमनिगर, ५ कावन्दी, ६ मावन्दी, ७ चम्पा, ८ अयोध्या और ९ अवन्तिका (उज्जैन)। २६।

गुणमेन (आराधक) उपरोक्त भवों में जिन देवलोको में उत्पन्न

हूँ, उनका वर्णन निम्न प्रकार है—

प्रथम भव के पञ्चानु बह मीधमं देवलोका में उत्पन्न हुआ। दूसरे भव के पञ्चानु मन्त्रकुमार देवलोका में तीसरे भव के पञ्चानु श्रद्धालोका नामक देवलोका में, चौथे भव के पञ्चानु नृक देवलोका में पाचवें भव के पञ्चानु उगका उगधान (जन्म) जानत देवलोका में, छठे भव के पञ्चानु आरुण देवलोका में, सातवें भव के पञ्चानु नयधैर्या में आठवें भव के पञ्चानु अनुत्तर विमान में । २३

दूसी प्रकार अग्निदर्मा (विशधक) निम्न स्थानों पर उत्पन्न हुए ।

प्रथम भव के पञ्चात् विद्युत्कुमार नामक अमुरकुमारों में, दूसरे भव में लेकर आठवें भव तक क्रमशः रत्नप्रभा नरक से लेकर सातवीं महातमः प्रभा नामक नरक में अग्निदर्मा का जन्म हुआ । २८

गुणमेत अपने आठों भवों में जिनजिन देवलोकों के अन्दर उत्पन्न हुए वहाँ इनकी आयुष्य (स्थिति) निम्न प्रकार से रही—

सौधमं में एक सागरोपम की बाद में क्रमशः पाच, त्री, पन्द्रह, अठारह, बीस, तीस तथा सत्तीस सागरोपम की ऐसी आठों भवों की स्थिति समझनी चाहिये । २९

अग्निदर्मा उपरोक्त आठों भवों में उत्पन्न हुआ, उसका आयुष्य निम्न प्रकार से जानना चाहिए—

विद्युत्कुमार देवलोका में डेढ़ पत्थोपम का, पञ्चात् भातों मरकों में क्रमशः एक सागरोपम, तीन, सान, दस, मन्त्रह, बाबीस तथा सत्तीस सागरोपम की स्थिति । ३०

इस प्रकार में ये चरित्र का सफह करने जैसी गाथाएँ हैं । अब इन्हीं कथाओं का गुरु के उपदेशानुसार विस्तारपूर्वक भावार्थ कहा जायेगा ।

## प्रथमं भव

इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप में तथा जम्बूद्वीप के पश्चिम दिशि नाम्पा नग (क्षेत्र) में अतिप्रसिद्धि प्राप्त नामक एक नगर था, जो जलो तथा स्वर्ण प्राकारों में सुसज्जित था, जिसके धातु नगरों और एक बड़ा बड़ी गार्ड थी। जिसके मन्दिर जल में कमलिनी सुसज्जित हो रही थी, जो नगर अनेक स्थानों पर सुंदर थी। तीन मार्गों के संगम तथा नगर मार्गों के संगम में अलग अलग भागों में सुनिभात था और जिस नगर के भवनों ने अपनी सुन्दरता में इन्द्र के भवनों की शोभा को भी जीत लिया था।

जहाँ की स्त्रियाँ अपने मृग की शोभा में कमलों को, गुन्दर वानो से कोयल को, अपने नेत्रों से चन्द्रविक्रामी कमलों को (कुवलय), तथा अपनी गति के द्वारा कलहमाँ को भी जीत लेती थी। जहाँ के पुद्गल का व्यसन एकमात्र विद्याओं की प्राप्ति में, लोभ केवल निर्मल मन की प्राप्ति में, उनका डर केवल पापों में डरने में तथा जिसका बुद्धिपूर्ण धन सदा धर्म में ही सलग्न रहता था। १-२

वहाँ पूर्णचन्द्र नाम का राजा था, सम्पूर्ण चन्द्र मंडल के समान वास्तव में पूर्णचन्द्र ही था। चन्द्रमा के मृग का मन्दिर दिखाई देता है लेकिन वह राजा मंदरूपी कलक से निष्कलक था तथा नगर निवासियों के मन तथा नयनों को आनंदित करता था। उसके अन्तःपुर में सब रानियों में प्रधान कुमुदिनी नामक देवी (पत्नी) थी। वह विषय सुखों में विशेष रुचि रखती थी, अपने पति को इतनी प्रिय थी जितनी रति कामदेव को। उन दोनों पति-पत्नी के 'गुणसेन' नामक एक राजकुमार था, जो वास्तव में गुणों का भंडार था और वचन से ही कान्तुप्रिय व्यन्तर देवताओं की भांति वह श्रीशुभप्रिय था। ३-५

विशेषता इतनी ही है कि—

उस नगर में यज्ञदत्त नाम का एक पुरोहित था, वह सभी नगर निवासियों द्वारा बड़ा मान्य था, धर्मग्रन्थों का पाठक था, लोक-व्यवहार

तथा नील में कुसुम था, अन्य आरंभ तथा अन्त परिग्रह का धारक था, और धर्मज्ञ था। उस पुरोहित के मोमदेवा नामक पत्नी के गर्भ में उत्पन्न 'अग्निशर्मा' नाम का पुत्र पुत्र था। उसका मित्र मोटा तथा निकोना था, उसकी आँखें नीली तथा मोल्ल थी, उसकी नास शपटी थी, दूतनी चाटी कि केवल नामिका के स्थान मात्र में ही जानी जा सकती थी, शरीर के समान थे, थोड़े के बाहर आये हुए बड़े बड़े दाँत थे, टेढ़ी मेंढी तथा लम्बी गरदन थी, अगम-अर्घात् वही से ऊँची वही से नीची तथा छोटी उसकी दोनों भुजाएँ थी, बहुत छोटा वक्ष स्पल (छाती) था, टेढ़ा-मेढ़ा तथा अगम लम्बा पेट था, एक बाजू से ऊँची तथा शीघ्रने में गगन (विश्व) कमर थी, दोनों मांसल भी अगम-बेडोल थी, जंपाएँ बहुत जाड़ी कठोर तथा छोटी थी, पैर छोटे बड़े मानि बेडोल और विस्तीर्ण थे, अग्नि की ज्वालाओं के समूह के समान पीले रंग थे, ऐसा पुरुष वह अग्निशर्मा था।

उम अग्निशर्मा की राजकुमार गुणसेन कुतूहल से बहुत बार नगर के राजमार्गों पर जल्दी जल्दी घुमाना था। घुमाने समय सुन्दर डोल, मृदंग, यामुरी, तुनतुनी, आदि प्रधान शब्द करनेवाले वाजो व नगाडों के द्वारा नगर निवासियों के बीच हाथ में तालियाँ पीटते हुए तथा हँसते हुए उसे नवाता था। गधे पर विद्युत् कर, हमते हुए अनेक बाल समुदाय ने उसे घेर कर, पुराना सुपड़ा (सूप) उसके मस्तक पर रक्कर, डण्डों की मनोहर तथा ऊँची आवाज करते हुए तथा उस अग्निशर्मा को 'महाराज' शब्द से सम्बोधित करके घुमाता था। इस प्रकार यमराज के समान उम गुणसेन के द्वारा अपमानित (पीड़ित) हुए उसे वैराग्य भाव उत्पन्न हो गया। और उसने सोचा—

जो लोक पूर्व भव में अच्छे पुण्य का उपार्जन नहीं करते हैं, वे सभी जनों के उपहास के पात्र होते हैं, बहुजनो द्वारा धिक्कारे-अपमानित किये जाते हैं, तथा अन्य व्यक्तियों के द्वारा किये गये निरस्कार को सहन करते हैं, यदि अब भी मूर्ख हृदयवाले मुझ द्वारा, उत्तम पुरुषों के द्वारा सेवित तथा जन्मान्तर में प्रगाढ़ सुख देनेवाला धर्माचरण न किया गया तो इस जन्म में भी पुण्यकर्म न करनेवालों का तीव्र फल में देख रहा हूँ अतः मुनियों द्वारा सेवित तथा परलोक में एक मात्र बन्धुसुख

धर्म का मर्म लेना करना चाहिये किन्तु जो उस में, से लेनी दुःख  
दायिनी दुःखों का सभी लोगों द्वारा जाना करने वाला दुःखिनी  
को प्रत्यक्ष न हो । १-१

मेरा विचार करने के बाद (माँ) ने प्रत्यक्ष करने का  
मे निश्चय । उसका एक मान है मर्म । उस देश के मर्म  
प्रदेश पर लिखा । गुणगुण नाम का गणित (आयाम) में पढ़ा ।  
उस गणित में मोक्षमार्ग (युद्ध) का, अर्थात्, नामों का तथा अनेक  
प्रकार के कर्म के नाम तथा मर्म विनया गुणगुण नाम का  
मे विद्वत् है । भूत में उस गणित में करने में, यज्ञ की हस्त  
सामग्री में इनकी प्रत्यक्ष गुणगुण आयामों की हस्त सामग्री का धर्म  
धर्म में आगमना में आया हुआ था । यही पताही नदी का निर्माण  
जल तपोवन के गर्भीय तक आया हुआ गुणगुण नाम का तथा वह  
आयाम तपोवनों के हस्त आयाम का भूत उपाय करनेवाला था ।

उस तपोवन तक पहुँच कर पदवान् यज्ञ नाम का करने में,  
जिसको पदवान् आ गई है ऐसा वह, थोड़ा समय विश्राम करने वह  
उस तपोवन में प्रविष्ट हुआ । १०

यहाँ उसने वस्त्र धारण किये हुए, बड़ी बड़ी जटाओं को धारण  
करनेवाले, धर्म तथा विद्वत् को धारण करनेवाले, भूमि-वस्त्र की रज  
से त्रिपुण्ड्र का निम्न धारण करनेवाले, अपने पाम में तापमोचन  
कमण्डल को धारण करनेवाले, मोक्षमूर्ति, कुशामन पर सुपुष्प  
विरोजमान, कदलीमूल में ध्यानस्थ अपने दाहिने हाथ में रुद्राक्ष की  
माला को धारण हुए, मन्त्राक्षरों के जाप में विनया कण्ठ तथा ओष्ठ-  
पुट थोड़े से गुरुत्व हो रहे हैं, जिन्होंने अपनी दृष्टि भाग पर स्थिर  
कर रखा है, और अन्य सभी विद्याओं को, जिन्होंने रोक रखा है,  
अन्तरी के समान चिखने योगपट्ट ( योग करने के पाटे ) पर परिमित  
स्थान युक्त विनय प्रकार का आयाम, जिन्होंने धारण कर रखा है, ऐसे  
तापम युक्त प्रधान आर्चनोत्थि नामक उस तपोवन के प्रधान तपोवी  
को देखा । ११-१२

उस तपोवी को देखकर उनके कारण में जिसके दरीर में  
व हो आया है, ऐसा वह, पृथ्वी पर घुटने तथा हथेलियों को

स्थापित करके, मन्त्रवद्वारा वाग्म्यार जमीन का स्पर्श करके, "मैं धन्य हूँ" ऐसा धोरने हुए उमने उन्हें प्रणाम किया। अतिथियों की सेवा-सम्भार की जिनकी सदा लाज्जमा धनी रहती है, ऐसे तपस्वीराज ने भी, उसे देखकर अपनी ध्यान मुद्रा को त्याग करके स्वागत के वस्त्रों सहित "यह आगम है, यह आगम है" ऐसा बोल करके उमका सम्मान किया। तत्पश्चात् उम शोषड़ी के आगम में रहनेवाले ऋषिकुमार के द्वारा ले जाये जाने पर, तथा ऋषिवर्य के द्वारा यह पढ़े जाने पर कि 'यहाँ बँटो', यह जिनदपूर्वक आगम पर बँट गया। ऋषि ने पूछा—आप यहाँ गे आये हैं? तब उमने विस्तारपूर्वक अपना जन्ममृत्युवृत्त कहा। ऋषि ने कहा—वत्स! पूर्ववृत्त कर्मों के परिणामों के वशीभूत होकर के ही जीव आयुष्म दुःख के पात्र होते हैं। इसलिये राजा के अपमान में पीड़ित, दारिद्र्य के दुःखों से अभिभूत, दुर्भाग्य के चलक में दुःखी तथा दृष्ट जनो-स्वप्नो के वियोगिणी अग्नि से तपे हुए लोगों ॥ लिये ही, इस लोक तथा परलोक में परमशान्ति को प्रदान करने वाला यह आश्रम निर्वृत्ति का स्थान है।

यहाँ वनवासी लोग संसार के सम्पर्क जन्म दुःख को कभी देखते नहीं हैं, लोगो के द्वारा होनेवाले अपमान का कभी अनुभव नहीं करते हैं, तथा दुर्गति में होनेवाले पतन को कभी प्राप्त नहीं होते हैं, ऐसे ये वनवासी सदा धन्य हैं। १५

ऋषि के द्वारा इस प्रकार अनुशासित किये जाने पर अग्निशर्मा बोला—आप कहते हैं, यह सत्य है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। इसलिये यदि आपकी मुझ पर अनुकम्पा है, अथवा मैं किसी व्रत-विशेष को धारण करने के योग्य हूँ तो कृपया व्रत प्रदान करके मुझे अनुगृहीत कीजिये। ऋषि ने कहा—वत्स! तुम वैराग्य माध का अनु-गमन कर रहे हो, अतः मैं तुम पर अनुग्रह करता हूँ। व्रत पालन करने के लिये तुम्हारे निवास अन्य योग्य कौन हो सकता है? इस प्रकार से कतिपय दिन व्यतीत होने पर ऋषि ने तपोवन सम्बन्धी सम्पूर्ण आचार-विचार का विस्तारपूर्वक वचन करके शुभ निधि, शुभ करण, मुहूर्त, योग तथा शुभ लग्न केना में उसे तापम दीक्षा प्रदान कर दी। अत्यन्त अपमान के कारण से उत्पन्न हुए अतिशय वैराग्यमय भावनावाले अग्नि-



समी ने भी तबसे हीना करने की, उसी दिन, मन्त्रों का प्रयोग से  
सब मन्त्रों का समापन हुआ था। जो इस प्रकार है—

य जोवन पदेन एक एक मन्त्र के पठनार्थ भोजन करने का, तब  
के दिन में प्रथम त्रिग पर मन्त्र प्रहित होऊंगा, उसी पर मेरी आज्ञा  
मिलेगी या न मिलेगी जो लोह आज्ञा तथा फिर उस दिन अन्य पर भी  
नहीं जाऊंगा। इस प्रकार प्रज्ञा करने पर भवती प्रज्ञा को क्या  
निश्चय मानने हुए कई मन्त्रों का समापन कर लिया हो गया। इस तरी-  
के के निम्न वसन्तपुरनामा एक नगर था, यही र निवासी बड़े  
गुणानुरागी थे, तथा उन लोगों को अग्निजमा के प्रति बहुत प्रसि-  
द्धिमान हो गया था। वे लोग कहा करते थे—अहो! यह मन्त्र नामी  
है, अपने घरों के प्रति भी इसे त्रिग प्रकार की आगति नहीं है,  
इसका जीवन धारण करना मकड़ है, इत्यादि। कहा भी है—

लोगों का प्रीतिपात्र तथा लोगों के डर का बहुत बहुत मान प्राप्त  
करनेवाले व्यक्ति को भी गुण-प्राप्ति में सदा प्रयत्न करना चाहिये।  
चाहे, आदमी विद्वान् न हो, लेकिन मानस्य भाव ने रहित व्यक्ति को  
निश्चय ही गुण प्राप्त हो जाते हैं। १६

उधर त्रिनिप्रतिष्ठित नगर का राजा 'पूर्ण-चन्द्र' राजकुमार गुण-  
मन का विवाह करके तथा उसका सम्मानित करने अपनी पत्नी  
कुमुदिनी से साथ तपोवनवासी हो गया था और वह कुमार गुणमन  
जिसे अनेक सामन्त लोग चरणों में झुककर नमस्कार करते थे, जिसने  
अपने देश की अपेक्षा अनेक अन्य देशों को जीत लिया था, हमों दिशाओं  
में जिसका निर्देशन प्रेमरहित हो चुका था, जो धर्म, अर्थ तथा काम-  
इन तीनों पुरुषार्थों का सम्पादन करने में मन्त्र था, महाराजा बने  
चुका था। फल-श्रम ने अन्य किसी समय वह वसन्तमेना नामक अपनी  
पत्नी के साथ, सर्वजनप्रदामनीय राज्यान्तित मुन्ना का यथाविधि अनु-  
भव करता हुआ वसन्तपुर आया, अनेक मांगलिक विधियों के साथ वह  
नगर में प्रविष्ट हुआ, पुरवासियों ने उसका पूजा-नमस्कार किया तथा  
नगरनिवासियों के साथ वह वर्षाकालीन शोभा में युक्त त्रिमानछन्दक  
नामक महल में गया। जिस प्रकार वरगात के मौसम में आममान में  
वाले बादलों की छाया रहती है, उस प्रकार उस महल में कालागुह-

काली अगरवती का घुंआ छाया हुआ था। वरमात में आकाश में विजली चमकती है, उम महल में विजली के समान रत्नपक्ति चमक रही थी, वरमात में आकाश में जलधारा दिखाई पड़ती है, उम महल में जलधारा के समान मोतियों की पवित्रियाँ दिखाई दे रही थी। जिस प्रकार वरमात में वगुलों की पक्तियाँ दिखाई पड़ती हैं, उस प्रकार उस महल में श्वेत चँवर की पक्तियाँ थी, आकाश में दिखाई पड़नेवाले इन्द्रधनुष की शोभा को तिरस्कृत करनेवाले पट्टाशुक की मालाएँ अर्थात् श्वेत वस्त्र के बड़े बड़े छत्र उम महल पर फरक रहे थे, सुगन्धित जल का छिड़ाकर करने से वहाँ के सब भूमिभाग अत्यन्त सुगन्धित हो, गुजार करते हुए भँवरों के समूह से फैले हुए या बिखरे हुए वहाँ के मार्ग दिखाई दे रहे थे। बहुत ज्यादा वर्णन करने से क्या लाभ ?

जो महल मोह-निद्रा में सोये हुए भाग्यशाली पुरुषों के पूर्व जन्म में किये हुए कर्मों के फल को विकट-प्रकट रूप में स्वप्न की भाँति कह रहा था। १७

उस वसन्तपुर में नगर निवासियों का यथाचित सम्मान करके, उस अहोरात्र को अर्थात् रातदिन का अनेक प्रकार के नाटक, गायन, नृत्यादि मनोहर आमोद प्रमोदों के साथ व्यतीत करके, दूसरे दिन बहुत जल्दी उप-कालीन तथा प्रातःकालीन कृत्याँ को समाप्त करके उचित समय पर वह सावारी के लिये निकल पड़ा और बाह्यीक, तुरष्क तथा घञ्जर आदि विविध देशों के विविध प्रकार के घोड़े सवारी के लिए तैयार कराये। पश्चात् घुड़सवारी करने से जो थकावट आ गई थी, उसे दूर करने के निमित्त से सवारी के खान के निकटवर्ती सहस्राग्र नामक उद्यान में बैठा। इसी बीच हाथ में नारंगी तथा बठिक लिये हुए दो तापसकुमार आ गये। उन्होंने राजा को देखा तथा अपनी धार्मिक परम्परा के अनुसार आशीर्वाद देकर राजा का अभिनन्दन किया। राजा ने भी यथोचित आसन तथा सन्मानादि औपचारिक विधि से उनका सम्मान किया। वे बोले—राजन् ! उत्तम नाम के धारण करने वाले हमारे कुलपति ने हमें आपकी—जो कि चारों आश्रमों के गुरु हैं धर्म तथा अधर्म की व्यवस्था को उत्तम प्रकार से करनेवाले हैं,—गरीब सम्बन्धी कुशल-श्रेय पूछने के लिये भेजा है। हमारा यह निवेदन सुन

के पश्चात्—अब आप ही प्रमाण-मत्य है । राजा बीर-आपके कुलपति  
 कहो विराजते है ? वे बोले—यहाँ में बहुत पाम मुगस्तोपनामक तपो-  
 वन में विराजमान है । पश्चात् यह राजा भक्ति तथा कौतुक-विस्मय  
 से प्रेरित होकर उस तपोवन में गया । वहाँ उसने बहुत में तपस्वियों  
 तथा कुलपति को देखा और वैराग्य भाव के साथ उनकी दयायोग्य  
 पूजा-वन्दना की । यह कुलपति के समीप बैठा और कुछ समय तक धर्म-  
 कथा सम्बन्धी प्रवृत्ति में तल्लीन होकर वहाँ रहा । पश्चात् विनयपूर्वक  
 कुलपति को नमस्कार करके राजा ने निवेदन किया कि आपके सम्पूर्ण  
 शिष्य-परिवार सहित मेरे घर पर आहार ग्रहण करने की कृपा करें  
 मुझे कृताभं कीजिये । कुलपति बोले—यत्न, तुम्हारा निमंत्रण स्वीकार  
 है, लेकिन अग्निशर्मा नामक एक महातापस है, वह प्रतिदिन नहीं राता  
 है, एक एक मास में भोजन ग्रहण करता है, उसमें भी पारणे के दिन  
 जिस घर पर प्रथम जाता है, वहाँ से भोजन मिले या न मिले, वापिस  
 छोड़ आता है । पश्चात् अन्य घर पर नहीं जाता है । इसलिये उन  
 महातपस्वी को छोड़कर आपकी प्रार्थना स्वीकार है । राजा ने जवाब  
 दिया—आपने बड़ा अनुग्रह किया है, मैं कृताभं हो गया । कृपया बतलाएँ  
 कि वह महातपस्वी कहां हैं, मैं उनकी देखना चाहता हूँ । उनके दोनों  
 से मैं अपने आपसे निष्पाप करना चाहता हूँ । कुलपति बोले—यत्न !  
 हम आश्रयीविरा ( पति ) के नीचे ध्यान मुद्रा में बैठ स्थित है ।  
 पश्चात् यह राजा अत्यन्त आदरपूर्वक आश्रयविधि की तरफ गया । वहाँ  
 उगत पद्मागन के आगमन में स्थित, दोनों नेत्रों को स्थिर किये हुए,  
 ध्यान की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों को धारण करनेवाले, किसी विशेष प्रकार  
 का ध्यान कर रहे हुए अग्निशर्मा नामक तापस की देखा । उसे देखकर  
 राजा हर्ष-पुलकित हो उठा तथा नमस्कार किया । तापस ने भी आशी-  
 र्वार्थ देकर बहुत सम्मान के साथ राजा का अभिनन्दन किया तथा कहा  
 कि—“आपका स्वागत है”, यहाँ बैठिये । राजा मुगस्तोपनाम के बैठा तथा  
 बोला—भगवन् ! आपसे हम मला दुःख ग्रस्त करने का क्या कारण  
 है ? अग्निशर्मा ने उत्तर दिया—हे महातप ! दारिद्र्य दुःख, हमसे के  
 द्वारा किया गया अपमान, कुलपति, तथा महातपस के पुत्र मुग्गेन  
 समस्त कारण निम्न ही हमसे है कारण है । तापस के उत्तर में  
 राजा ने नाम की आज्ञा की धारण करके राजा बोला—भगवन् !

धारिद्र्य-दुःखादि प्रथम तीन कारण आपकी तपस्या के भले हों, लेकिन महाराजा का पुत्र गुणमेन-कल्याणमित्र इसमें कारण कैसे है ? कृपया कहिये ! अग्निशर्मा बोला—महासत्त्व वह कल्याणमित्र इस प्रकार कारण है— सुनिये—

जो उत्तम पुरुष होते हैं, वे स्वयमेव धर्म को प्राप्त करते हैं, जो मध्यमप्रकृति के पुरुष होते हैं वे दूसरों के द्वारा प्रेरणा प्राप्त करके धर्म करते हैं। लेकिन जघन्य पुरुष कभी भी धर्म को प्राप्त नहीं करते हैं। जो किसी विशेष प्रकार की विधि से सप्ताह रुपी चक्र (कंद) में रहने वाले जीव को धर्म के लिये प्रेरणा करता है वही वास्तव में कल्याण मित्र होता है। १८-१९

पश्चात् राजा के द्वारा कल्याणवस्था के वृत्तान्त का स्मरण हुआ तथा लज्जा से नतमस्तक होकर वह बोला—भगवन् ! आप उस कल्याण मित्र के द्वारा त्रैलोक्य बन्धुरूप धर्म से कैसे प्रेरित किये गये ? अग्निशर्मा तापस बोला—हे महासत्त्व ! अनेक प्रकार की प्रेरणाओं में से कथञ्चित् निमित्तमात्र से ही मैं प्रेरित किया गया हूँ। तब राजा ने विचार किया, कि अहो ! इस तपस्वी का कितना बड़प्पन है ? अपमान को भी इसने उपकाररूप प्रेरणा के रूप में ग्रहण किया है। दूसरी की निन्दा त्याग करके शुद्ध स्वभाववाला होने से अपने अपमान का भयानक पापकर्म किया है। अतः मुझे चाहिये कि दुष्ट कार्य के आचरण से कलंकित हुए अपने आपको इसके समक्ष प्रकट कर दूँ कि वह कल्याण मित्र राजकुमार गुणमेन में ही हूँ। ऐसा विचार करके वह बोला—भगवन् ! मैं ही महान् पाप का करनेवाला तथा आपके हृदय को मलिन करनेवाला 'अगुणमेन' हूँ। अग्निशर्मा तापस बोला—हे महाराज ! आपका स्वागत है, आप अगुणमेन कैसे हैं ? कारण कि दूसरों के द्वारा दिये गये भोजन में ही त्रिमूर्ति जीवनरूपी वैभव था, ऐसा मैं आज आपके द्वारा ऐसी तपोविभूति अर्थात् उच्च कोटि को पहुँचा दिया गया। राजा ने कहा—यह आपके हृदय की महानता है। अथवा मैं कहूँ कि तपस्वी लोग प्रिय वाणी को छोड़कर अध्रिय वाणी को कभी बोलना जानते हैं ? चन्द्रमा के विषय में सभी अग्नि की वृष्टि नहीं —

होती है। इस समय इतना ही रहना पर्याप्त है, भगवन् ! आपका पारणा कब होगा ? अग्निशर्मा ने रत्न-महाराज ! मेरा पारणा पाँच दिन का बाद होगा। राजा बोला—यदि आपको कोई बाध न हो तो, आपका पारणा मेरे घर पर करने की रूपा करे। पारणे के सम्बन्ध में आपकी विशेष प्रशस्ति की प्रतिज्ञा मैंने आपके कुलपति से जान ली है, अतः मैं पहिले से ही आपसे निवेदन कर देना हूँ। अग्निशर्मा ने कहा—महाराज ! पारणे का दिन आने दीजिये, कौन जाने दीन में क्या हो जाय ? क्यों कि कहा भी है—

अभी मैं यह कार्य करता हूँ तथा यह करके फिर इसे का-  
वाहूँगा, इस प्रकार मे मनुष्य सोचता है, लेकिन इस स्वप्न तुल्य जग-  
लोक-समसार में कल का क्या भरोसा ? । २०

महाराज और भी कहा है—

“इस मगर के स्वभाव को धिक्कार है, जहाँ स्नेह भरे अनुराग  
से गुंजायित जो लोग मध्याह्न के पूर्व दिगाई देते थे, वे अपराह्न अर्थात्  
मध्याह्न के पश्चात् दिगाई तक नहीं देते।” २१

इसलिये हे महाराज ! पारणे का दिन आने दीजिये। राजा ने  
कहा—भगवन् ! यदि कोई बाधाजनक कारण न हो तो अवश्य पधारिये।  
अग्निशर्मा तापस ने कहा—यदि आपका इतना आग्रह है तो आपकी  
प्रार्थना स्वीकार है। पश्चात् राजा ने तापस को प्रणाम किया तथा  
हर्ष के कारण से पुलकित होता हुआ थोड़ा समय तर्पान्न में व्यतीत  
करके नगर में प्रविष्ट हुआ। कुलपति की उमके सम्पूर्ण परिवारसहित  
भक्ति तथा पूजा भी राजा ने की। तीन दिन व्यतीत होने पर अग्नि-  
शर्मा तापस पारणे के निमित्त मे सर्व प्रथम राजा को महल में ही  
प्रविष्ट हुआ। उस दिन राजा युणसेन के मस्तक में अत्यन्त दारुण  
वेदना उत्पन्न हुई। राजा की शिरोवेदना से मारा राज परिवार आकुल  
हो रहा था। वैद्यज्ञान्त्र में कुशल अनेकों वैद्य राजा के पाम आये  
और अनेक प्रकार की चिकित्सासम्बन्धी मंहिताएँ—हूँदकर निकाली,  
बहुत प्रकार की दवाइयाँ पीयीं जाने लगी। मस्तक की पीड़ा नष्ट करने  
के अनेक प्रकार के रत्नलेप—अर्थात् श्रेष्ठ लेप भी दिये गुवाचार्य तथा

## हिन्दी अनुवाद (प्रथम भाग)

वृत्तान्त के समान बुद्धिबलवमग्न मनीषा भी निर्वर्ण्यविमूढ हो गये। पुरोहितों ने मन्त्रमन्त्र तथा जादू-टोना प्रदान करने की प्रयत्नता से परिपूर्ण 'शान्ति गाय' का प्रारम्भ कर दिया। अन्तपुर की मन्त्राग्न की तिरोदेहना से अग्निल उद्भिन्न हो गया, शान्तियों के गले में मुनीभित्त गुणधिन फूलों की मान्यार्थ मनीषा हो गई, सुन्दर वणों ने निश्चित मेहन्दी तथा भ्रम मोन्दये-प्रमाद्यत भ्रमगत शिवाग्नि हो गये उनके नेत्रों से बाष्पजल गिरने से मणोर-मण्डल पर मोन्दयेपूर्ण जो पत्रलेखा बनाई थी, वह धूल गई, और वे अपने मुरकमलों को कन्तल-शाय की हथेली पर रख कर उदासीन मुद्रा में दिखाई देने लगी। राजमहल में गन्धार्थों का जो अन्तपुर था, वह भी एरदम विमलम्-उदाग हो गया, उन्हें अपनी पन्दुक-प्रीड़ा में विरहित हो गई, चित्रकलागम्यन्धी मनोरञ्जन के कार्य-क्रम भी उन्होंने छोड़ दिये, नृत्य तथा गानगम्यन्धी क्रियाएँ भी उन्होंने बन्द कर दी, तथा शरीर पर जो आभूषण धारण कर रहे थे, उनका भी परिष्कार कर दिया। राजमहल के द्वार पर पहरा देनेवाले जो द्वार-पात्र थे, उनके मुख की शान्ति भी मन्द पड़ गई थी और वे क्षेत्रपट्टि के समान अधोमुख बिये हुए थे, अन्तपुर के द्वार पर स्थित जो छोटे कन्तुकी थे वे भी निम्न दिवलाई पड़ रहे थे, जिनमें राजा के अतिशय वेदना की प्रतीति हो जानी थी और राजा के भोजनगृह में जो अनेक प्रमुख गमोदये थे, जो अनेक प्रकार के कार्यों में नियोजित थे, उदासीनता का सारा दृश्य देखकर अपना अपना कार्य छोड़ दिया था। इस प्रकार उदासीन स्थिति को प्राप्त उस राजकुल में पारण के लिये गये हुए, उस अग्निगर्मानामक तपस्वी ने थोड़ा समय व्यतीत करके, किसी भी व्यक्ति के द्वारा मान-सम्मान, आदर आदि न प्राप्त करके, वह राजकुल से निकल पड़ा। वहाँ से निकल करके तपोवन की गया और अन्य सापसों ने उन्हें देखा तथा कहा,—भगवन् ! ऐसा प्रतीत होता है कि आपने पारणा नहीं किया है और आपका मुखमण्डल कुछ मृज्ज (उदास) सा दिखाई दे रहा है ? क्या आपने पारणा नहीं किया है ? क्या आप राजा गुणमेन के महल में नहीं पधारें हैं ? अग्निगर्मा ने प्रत्युत्तर दिया—मेरा राजा के महल में गया था, लेकिन राजा वास्तव में अम्यम्य है तथा उनकी अम्यम्यता के कारण मारे राज-परिवार को उद्भिन्न देखकर और वैसी दुःखभरी परिस्थिति को मैं सहन न कर सका, अतः जल्दी ही

होती है। इस ममग इतना ही बटना पर्याप्त है, भगवन् ! आता पारणा नच होमा ? अग्निशर्मा ने कहा—महाराज ! मेरा पारणा पाँच दिन का याद होगा। राजा योना—यदि आपको कोई बन्ध न हो तो, आपका पारणा मेरे घर पर करने की कृपा करें। पारणे के सम्बन्ध में आपकी विशेष प्रशंसा की प्रतिज्ञा मैंने आपसे कुलपति में ज्ञात कर ली है, अब मैं पहिले में ही आपसे निवेदन कर देना हूँ। अग्निशर्मा ने कहा—महाराज ! पारणे का दिन आने दीजिये, कौन जानें योना में क्या हो जाय ? पयो कि कहा भी है—

अभी मैं यह कार्य करता हूँ तथा यह करके फिर इसे का कहूँगा, इस प्रकार से मनुष्य मोक्षता है, लेकिन इस स्वप्न तुल्य जी लोक-समार में कल का क्या भरोना ? । २०

महाराज और भी कहा है—

“इस मगार के स्वभाव को धिक्कार है, जहाँ स्नेह भरे अनुराग से गुणोभित जो लोग मध्याह्न के पूर्व दिखाई देते थे, वे अपराह्न अर्थात् मध्याह्न के पश्चात् दिखाई तक नहीं देते।” २१

इसलिये हे महाराज ! पारणे का दिन आने दीजिये। राजा ने कहा—भगवन् ! यदि कोई बाधाजनक कारण न हो तो अवश्य गधारिये। अग्निशर्मा तापस ने कहा—यदि आपका इतना आग्रह है तो आपकी प्रार्थना स्वीकार है। पश्चात् राजा ने तापस को प्रणाम किया तथा हर्ष के कारण से पुलकित होता हुआ थोड़ा समय तपोवन में व्यतीत करके नगर में प्रविष्ट हुआ। कुलपति की उसके सम्पूर्ण परिवारसहित भक्ति तथा पूजा भी राजा ने की। पाँच दिन व्यतीत होने पर अग्नि-शर्मा तापस पारणे के निमित्त से सर्व प्रथम राजा के महल में ही प्रविष्ट हुआ। उग दिन राजा गुणसेन के मस्तक में अत्यन्त दारुण वेदना उत्पन्न हुई। राजा की शिरोवेदना से सारा राज परिवार आकुल हो रहा था। वैद्यकशास्त्र में कुशल अनेको वैद्य राजा के पाम आये और अनेक प्रकार की चिकित्सासम्बन्धी महिनाएँ—बूँदकर निकाली, बहुत प्रकार की दवाइयाँ पीयी जाने लगी। मस्तक की पीड़ा बढ करके के अनेक प्रकार के रन्लेप—अर्थात् थोछ लेप भी दिये गुत्राचार्य तथा

वृहस्पति के समान बुद्धिबैभवसम्पन्न मन्त्रीगण भी विकर्तव्यविमूढ़ हो गये। पुरोहितों ने मंत्रगणित तथा आहुति प्रदान करने की प्रवृत्तता से परिपूर्ण 'शान्ति कार्य' का प्रारम्भ कर दिया। अन्नपुर जो महाराज की गिरगिरना में अत्यन्त उद्विग्न हो गया, गनियों के गले में मुशोभित गुणधित फूलों की मान्दार्ण मलीन हो गई, मुन्दर वणों से विभिन्न मेहन्दी तथा अन्य सौन्दर्य-प्रसाधक अमराग विचलित हो गये उनके नेत्रों से क्षापजल गिरने में कपात-मण्डल पर सौन्दर्यपूर्ण जो वस्त्रलेखा घनाई थी, वह धुल गई, और वे धपने मुखकमलों को कर-तल-हाथ की हथेली पर रख कर उदामीन मुद्रा में दिखाई देने लगी। राजमहल में कन्याओं का जो अन्नपुर था, वह भी एकदम विमनस्क-उदाम हो गया, उन्हें अपनी बन्दुक-क्रीड़ा में विरकिन हो गई, चित्रकलामन्वन्धी मनोरञ्जन के कार्य-क्रम भी उन्होंने छोड़ दिये, नृत्य तथा गानसम्यन्धी क्रियाएँ भी उन्होंने बन्द कर दीं, तथा शरीर पर जो आभूषण धारण कर रखे थे, उनका भी परित्याग कर दिया। राजमहल के द्वार पर पहरा देनेवाले जो द्वारपाल थे, उनके मार की कान्ति भी मन्द पड़ गई थी और वे क्षेत्रपट्टि के समान अधोमुख किये हुए थे, अन्नपुर के द्वार पर स्थित जो छोटे कञ्चुकी थे वे भी निम्न दितल्लार्त पड़ रहे थे, जिनमें राजा के अतिशय वेदना की प्रतीति हो जाती थी और राजा के भोजनगृह में जो अनेक प्रमुख रसोद्भये थे, जो अनेक प्रकारके कार्यों में नियोजित थे, उदामीनता का सारा दुःख देखकर अपना अपना कार्य छोड़ दिया था। इस प्रकार उदामीन स्थिति को प्राप्त उस राजकुल में पारणों के दिव्य गये हुए, उन अग्निशर्मतामक तपस्वी ने थोड़ा समय व्यतीत करके, किसी भी व्यक्ति के द्वारा मान-सम्मान, आदर आदि न प्राप्त करके, वह राजकुल में निकल पड़ा। वहाँ से निकल करके तपोवन को गया और अन्य तापमों ने उन्हें देखा तथा कहा,—भगवन् ! ऐसा प्रतीत होता है कि आपने पारणा नहीं किया है और आपका मुखमण्डल कुछ ध्यान (उदास) भा दिखाई दे रहा है ? क्या आपने पारणा नहीं किया है ? क्या आप राजा गुणमेव के महल में नहीं पधारे हैं ? अग्निशर्मा ने प्रत्युत्तर दिया—यै राजा के महल में गया था, लेकिन राजा काम्पव में अग्रगण्य हैं तथा उनकी अग्रगण्यता में वारण मारे राज-परिवार की उद्विग्न देखकर और



परिपूर्ण स्वर्ण कलश लाये गये, विजयलक्ष्मी के मूक मंगल वाद्य बजाये जाने लगे तथा चारण घाटों के द्वारा मंगल पाठ पड़े जाने लगे, ठीक इसी समय अग्निशर्मा तपस्वी पारणे के लिये राज-प्रसाद में प्रविष्ट हुआ। दधर मारा राज्य-परिवार तथा कर्मचारी राजा के युज-प्रयाण की तैयारी में बुरी तरह में व्यस्त थे, अतः अग्निशर्मा तपस्वी की तरफ किर्मा का भी ध्यान नहीं गया। थोड़ा समय अग्निशर्मा ने राज-गृह में व्यतीत किया, लेकिन मदोन्मत्त हाथियों तथा उध्रन घोड़ों के समूह के द्वारा कुचल दिये जाने के भय में वह राजगृह से खाना हो गया। इस बीच अपने हाथ में नकुछाया-एक दिनेप प्रकार की लकड़ी के अग्रभाग की ग्रहण करके समक्ष उपस्थित तथा ज्योतिषशास्त्र के गूढ़ रहस्य को जाननेवाले ज्योतिषियों ने राजा से निवेदन किया-महाराज प्रस्थान करने का यह उत्तम समय है, आप शीघ्र प्रस्थान करें। राजा ने कहा-आज उन अग्निशर्मा तपस के पारणे का दिन है तथा कुलपति की आज्ञा से उन्होंने मेरे घर पर आहार ग्रहण करना स्वीकार भी किया है, इगलिये में सोचता हूँ कि वे तपस्विराज आ जायें, पदार्थ उन्हें पारणा कराके और प्रणाम करके प्रस्थान करें। इतने में राज्य-परिवार में गम्बन्धित निवटवर्ती एक कुलपुत्रक बोला-महाराज ! वह महाप्रभावशाली तपस्वी अभी अभी राजमहल में आया था लेकिन इन मदोन्मत्त हाथियों और घोड़ों के समूह में कुचल जाने के भय में राजगृह में निवृत्त कर छाड़ा गया है। मैं समझता हूँ कि अभी वह नगर में बाहर भी नहीं पहुँचा होगा। कुलपुत्रक ने ऐसा गुनार राजा अत्यन्त आश्चर्यचकित उगके जाने के मार्ग में ही चले पड़ा तथा नगर में बाहर निवृत्त हुए अग्निशर्मा तपस को देखा। तपस्वी को देखते ही उस श्रेष्ठ रथ में उतर कर अत्यन्त विनय तथा भक्ति से उनके चरणों में गिरकर इन प्रकार से निवेदन किया-भगवन् ! कृपा करिये तथा महल की ओर वापिस पधारिये। मुझे मशरूम में जाना अत्यन्त आवश्यक था, फिर भी गुणगान आपके आगमन की प्रतीक्षा में इतनी देर तक रहा था, जो राज-गृह में प्रविष्ट हुए और महल के प्रधान-परिजनों मुख्य व्यवस्थापकों द्वारा आपसी और कोई ध्यान नहीं दिया गया, इसलिये इसका वापिस पधारिये। अग्निशर्मा तपस्वी बोला कि प्रत

मुझे वापिस लौटनेसम्बन्धी आग्रह करना बुरा है। तपस्वी लोग मरत्य प्रतिष्ठा करनेवाले होते हैं, तथा आहार-श्यानीसम्बन्धी लाभालाभ के सम्बन्ध में सदा उदासीन रहते हैं। राजा ने प्रत्युत्तर दिया—भगवन् ! इस प्रकार भूलभरे स्वभाष तथा आचरण के लिये मैं लज्जित हूँ, तीव्र तपस्या द्वारा आयुक्त पीड़ित आपके शरीर की अपेक्षा से भी मैं वहीं अधिक पीड़ित हूँ, सन्ताप श्पी अग्नि मेरी आत्मा को बुरी तरह से जला रही है, मेरा हृदय मानों नष्ट हो रहा है और मेरी वाणी लड़खड़ा रही है, मैं अपने आपको महान् पाप का नेवन करनेवाला मानता हूँ, इसलिये मैं सम्पूर्ण प्राणियों के लिये यन्त्रु स्वरूप ! बिना किसी कारण या स्वार्थ के वाग्यमयमाव धारण करनेवाले भगवन् ! आपही मेरे इस दुःख की शान्ति का उपाय शोधें। अग्निशर्मा तपस्वी ने विचार किया—अहो ! इस महाराज का बड़प्पन (नम्रता) कितना प्रशंसनीय है ? मैंने पारणा नहीं किया है, इसका इसका कितना रज है ? गुहजनों की सेवा के प्रति इसका कितना अनुराग है, इसलिये जब तक मैं इसके घर पर पारणा नहीं करूँगा तब तक इसे चैन नहीं पड़ेगा अर्थात् इसका चित्त स्वस्थ नहीं होगा, ऐसा हृदय में विचार करके तपस्वी ने कहा—महाराज ! आप बुरा इतना दुःख करते हैं। फिर भी इस दुःख की शान्ति का उपाय यही है कि यदि यह तपस्या निर्विघ्न समाप्त हो जायेगी तो पारणे के दिन तुम्हारे घर पर ही पारणा करूँगा तुम्हारी यह प्रार्थना मुझे स्वीकार है। इसलिये अब आप किसी प्रकार का सन्ताप न करें। तपस्वी के ये शान्तिशरे वचन सुनकर राजा ने दोनों घुटने जमीन पर रखकर तथा करतल जोड़ कर तपस्वी को प्रणाम किया तथा निवेदन किया—भगवन् ! आपने मेरे इस दुःख की शान्ति का सुन्दर उपाय बतलाया है। सत्य है, तपस्वी लोग निर्मल ज्ञानरूपी भयनोंवाले ही होते हैं, वे क्या नहीं जानते हैं ? सब कुछ जानते हैं। वस्तुतः आपने मुझे कृतार्थ कर दिया है, आपकी यह वृत्ता वास्तव में बिना प्रयोजन-स्वार्थ के वृत्ता करने जैसी ही है। अब आप भले ही तपोवन में पधारिये, इस नये (राजा) अपराधरूपी कलक में दूषित हुआ मैं, आपके कुरुपति के दर्शन करने कादिष्ट नहीं रहा हूँ—ऐसा कह करके राजा ने अग्निशर्मा तपस को प्रणाम किया तथा नगर में लौट आया।

‘अब मैं मानभग राजा के ऊपर चापमग करने नहीं जाऊँगा,’ ऐसा निचार करके उमने यज्ञ या निचार छोड़ दिया। दूसर अग्निशर्मा तपस भी तपोवन में गये, जाकर अपने कुत्सपति को सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया। कुत्सपति ने तपस्वी की यज्ञी प्रशंगा की तथा बड़ा वि-  
 बल्य। तुमने बहुत अच्छा किया। पञ्चाङ्ग अग्निशर्मा ने प्रसंगे माम की तपस्या धारण कर ली। राजा गुणगेन प्रतिदिन तपस्वी की बहुत सेवा किया करता था, ऐसा करने हुए राजा को गंगार में उदामीनता हो आई, और दम प्रकार में एक माम का गमय स्थानी हो गया। राजा के अनेक मनोरथों में परिपूर्ण ऐसा पारणे का दिन भी आ पहुँचा। उसी दिन राजा गुणगेन की रानी वसन्त मेना ने एक पुत्ररत्न को जन्म दिया था। अश्वत्थ प्रसन्न के वज्र जियाता भुगकमल मिल उठा है, ऐसी द्वारपालन ने आकर राजा में निवेदन किया—महाराज ! महारानी वसन्तमेना ने आपके उत्कर्ष के एक मात्र निमित्त तथा प्रजा-  
 जनों के भाग्य से गुणपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया है। प्रतिहारिन के द्वारा इस प्रकार के गुणद समाचार को सुनकर राजा ने सुयण का कटक (कड़ा) केमूर, कर्णाभूषण आदि अनेकों प्रकार के आभूषण दिये तथा उसे प्रसन्न किया और इस प्रकार से आज्ञा दी—वसुधारे ! (प्रतिहारिन) मेरी आज्ञा से राज्य भवन में जितने प्रतिहारी हैं, सबको इस प्रकार का आदेश दो कि—“कालघटनामक घण्टा बजाकर मेरे राज्य के सब वन्धनों-निषेधाज्ञाओं को समाप्त करे, पुत्र जन्म की घोषणा के साथ पुत्र जन्मोत्सव के अनुरूप ही दान भी दिलावे, जितिशत्रु आदि जो प्रमुख राजा लोग हैं, उन्हें पुत्र जन्मोत्सव के समाचार पहुँचावे, नगरनिवासियों को भी पुत्र जन्म की सूचना निवेदन करे, और इस प्रकार से असामयिक उत्सव की सब प्रकार की तैयारी नगर में करावे।” राजाशा सुनकर प्रतिहारी ने सभी प्रतिहारियों को राजा का आदेश पहुँचा दिया और प्रतिहारियों ने भी राजा की आज्ञा का उसी प्रकार से पालन किया। यथा—

दसों दिशाओं में उग्रध्वनि करनेवाले वाद्यों को बजाया कर दिशाओं को गुञ्जित करवा दिया तथा एक हाथ ऊँचा करके सुन्दर नृत्य करनेवाली वेश्याओं के नृत्यों का प्रबन्ध करवाया। अन्तःपुर में

राहनेवाली सभी स्त्रियों ने प्रमत्तता बना राजा के उत्तरीय वस्त्र का अपहरण कर लिया तथा गीन्दर्य माधनी, अलंकारों आदि से भजित स्त्रियों ने सम्पूर्ण राजमहल गुनोभित हो गया। (परम्पर विनोद करने की दृष्टि से) किसी स्त्री ने किसी एक स्त्री की पीठ पर मुष्टि-प्रहार किया, जिसमें ढर कर चिल्ला रही है, स्त्रियाँ जहाँ, उन्मादवन जहाँ वेस्माएँ कचुवियों का नचा रहो हैं, करताल देकर सुन्दर मृदंग तथा झालरी आदि वाद्यों का मधुर निर्घोष जहाँ मुनाई दे रहा है, दान प्राप्त करने में सन्तुष्ट बन्दी वृन्द (भाटादि) जहाँ राजा का जयजयकार का शब्द कर रहे हैं, छोटी तथा बौनी घेटिकाएँ-दासियाँ इकट्ठी होकर जहाँ राजा काँ हँसा रही हैं, तथा अनेक प्रकार के पेय पदार्थ जहाँ पीये जा रहे हैं, इस प्रकार का सुन्दर एवं मनोहारी वर्धापनक (उत्सव) उनके द्वारा राजा की आज्ञा से) किया गया। २२-२६

इस प्रकार वसन्तपुर नामक नगर में महोत्सव प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार में रानी वसन्तसेना के गर्भ से जो सुपुत्र जन्मा है, उसके आनन्द में सारा राज्य परिवार मग्न हो गया, स्वयं राजा भी इसी आनन्द में इतना डूब गया कि पारणे के निमित्त में आये हुए अग्निशर्मा नामक तपस्वी की ओर किसी ने देखा तक नहीं। आदरसूचक वचनों से भी किसी ने उसका मान-सम्मान नहीं किया और अशुभ कर्मोंदय से, आर्त्तध्यान से दुःखित मनवाला होकर महल से शीघ्र ही निकल कर चला गया। तपोवन जाते समय उसने सोचा-अहो! इस राजा के साथ बाल्यकाल से ही इस प्रकार का वैरानुबन्ध चला आ रहा है, ऋषि के साथ जैसा दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिये, वैसे इसके इस व्यवहार को तो देखो! जिससे मेरे समक्ष मनोनुकूल तथा प्रिय बातें कह कर, यह सर्वथा विपरीत आचरण करता है। ऐसा विचार करते करते वह जा रहा था, इसी बीच अज्ञान के कारण से तथा परमार्थ मार्ग का यथार्थ बोध न होने से कपाय-भावना ने उसे घर लिया, उसकी परलोकमग्नन्धी इच्छा (थड़ा) नष्ट हो गई, धर्म श्रद्धा विलीन हो गई, और सम्पूर्ण दुःखरूपी वृक्ष की मूल-जड़ के समान द्वेष भावना जागृत हो गई, और शरीर को पीड़ा उत्पन्न करनेवाली तीव्र क्षुधा का अनुभव होने लगा। वह भूख से अतीव पीड़ित व दृश हो गया। पदचाल-

सुधारूपी परीपह में पतित, घोर अज्ञानी तथा मूढ़ हृदय उम  
अग्निगर्भा नपम्बी ने यह घोर निदान-मरुत्प-मन में धारण किया कि-  
"यदि उनम प्रकार में किये गये मेरे इस दीर्घ कान्तिक तब वा कोई  
फल हो तो इस राजा का वध करने के लिये मेरा वाग्यधार जन्म हो।  
जो व्यक्ति अपने प्रेमियों के साथ प्रेम का व्यवहार नहीं करता तथा  
शत्रुओं के साथ अप्रिय व्यवहार नहीं करता, ऐसा व्यक्ति अपनी माता  
के गर्भ में जन्म धारण करके क्या अपनी माता को कष्ट नहीं पहुँचाता?"  
यह राजा महाराजापति है तथा वाग्यकाल में ही मेरा शत्रु है, अब बिना  
किमी अपराध के भी मैं इसका वध करूँ-इस प्रकार का मरुत्प  
हृदय में धारण करके, तथा इसका पुनः प्रतिव्रमण न करके वह बहुत  
दुष्ट विचारों के साथ क्रोधरूपी अग्नि में जलता हुआ तपोवन में आ  
पहुँचा। २३-२१

जिम समय यह तपोवन में आया था, उस समय उसके हृदय में  
अनेक प्रकार के मरुत्प विकल्पों का तथा सरास विन्ताओं का जाल सा  
छा गया था और उसी कारण से उसका क्रोधानल बढ़ता जा रहा था,  
अब कुलपति तथा अन्य तपस्वियों की उपेक्षा करके वह तपोवन में  
जहाँ आसुरधेनी थी, वहीं चला गया उसे किमी ने भी देखा नहीं-  
आसुरधेनी के नीचे चारों तरफ से एक मरीचों आकारवाली जो गिला  
थी, उर्मी विनाल गिला के ऊपर वह बैठ गया। पदवाताय के कारण  
में फिर उमने विचार करना प्रारम्भ किया कि अहो ! इस राजा का  
मेरे साथ कैसा शत्रुता का भाव है ? मरुत्पस्वियों के बीच उमने ऐसा  
कैसा उपशम किया है, वह क्या बपटी है, पारणे के मरुत्प में मेरी  
विशेष प्रशंसा की जो प्रतिज्ञा है, उसे जानना हुआ भी वाग्यधार मुने  
निमंत्रण देना है तथा पारणा नहीं कराके मेरा इस प्रकार से अपमान  
करना है और मुझे दुर्गी करना है। वह राजा कितना मूर्ख है,  
इसी कष्टप्रद तथा दुःख अश्रयों को प्राप्त हो गया है, फिर भी मुझे  
दुर्गी करना है। अनायास, दुर्गदो, तथा दुर्गों में अपमानित होनेवाले  
प्रतीकों को समस्त की भाँति नष्ट करने या ठगने की जो भावना है  
वह उमने वह राजा के मान-माय की पुति के लिये सोमागद नहीं है  
लेकिन उमने वह राजा के मान-माय की पुति के लिये सोमागद नहीं है

परलोक की माधना करनेवाले तपस्वियों को टगना तो कभी उचित नहीं है। अथवा मैं ऐसा सोचना हूँ कि मैंने मध्य कुछ छोड़ दिया है, केवल आहार का त्याग नहीं किया है, इमलिये मेरी यह दुर्गति हो रही है, इमलिये मेरे लिये श्रेष्ठ है कि अपमान के मूल कारण भून आहार का ही त्याग कर दूँ। ऐसा विचार करके यावज्जीवन के लिये महान् उपवास व्रत स्वीकार कर लिया। इतने में सम्पूर्ण प्रवृत्तियों को जिमने छोड़ दिया है, अग्रिम भावनाओं में त्रिमका मन दूषित हो रहा है, और तपस्या में त्रिमका शरीर सर्वथा क्षीण हो गया है, ऐसे उग्र अग्निशर्मा की तपोवन के अन्य तापसों ने देख लिया और कहा—भगवन् ! आपका शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया है तथा आप पारण के लिये गये थे, वहाँ पुण्यमालाओं तथा चन्दन आदि में आपका सम्कार नहीं हुआ, ऐसा लगता है ! क्या अभी भी आपका पारण नहीं हुआ ? अग्निशर्मा ने प्रत्युत्तर दिया—पारण नहीं हुआ। तपस्वियों ने पूछा—आपका पारण क्यों नहीं हुआ ? क्या आप राजा गुणसेन के घर पर नहीं गये ? अग्निशर्मा ने कहा—‘गया तो था’। तपस्वियों ने पूछा—फिर आपका पारण क्यों नहीं हुआ ? अग्निशर्मा बोला—मैंने राजा या किसी प्रकार कोई अपराध नहीं किया है, फिर भी यह मेरे साथ बँटसाव रखता है, उसने मेरा तिरस्कार किया है, पहिण्डे मुझे पता नहीं था, लेकिन अब मुझे उसके बैरानुबन्ध का पता चला। वह ऊपर में दीवता तो विनीत है, किन्तु भिष्यारूप में दिनय करनेवाले उसका मेरे प्रति जो बैरानुबन्ध है वह दूर नहीं होता है, जिससे बारम्बार मुझे उपहास करने की दृष्टि से धाम्निजित करता है, लेकिन दृष्ट्यवहार करके कष्टपूर्ण तरीकों से वह मेरा अपमान करता है। आज भी ऐसा ही हुआ, आज मेरे पारण का दिन है, यह जानते हुए भी उसने अकस्मात् आमोद प्रमोद शुरू करवा दिया। पञ्चान्न राजा के आवास में प्रवेश करके भी जब किसी ने मेरा मान-सम्मान नहीं किया तब मैं राजा के सारे परिवार के अभिप्राय को गोध्र समझ गया और तत्काल चला आया। [यह सुनकर तापसों ने कहा—भगवन् ! तपस्वियों के साथ वात्सल्य रखनेवाला राजा गुणसेन ऐसा नहीं हो सकता है अथवा प्रत्येक पुरुष का अभिप्राय धिक्का होता है, अतः क्या नहीं हो सकता है ? आप किसी प्रकार के (गोध्र) कपाय भाव का मेहन न करें, ऐसा कहकर तपस्वी के दुःख में उद्धिग्न तापसों

ऐसे हैं कि वे आप जैसे भुक्ति-मार्ग को धारण करनेवाले, दानु तथा मित्र में समान भाव रखनेवाले, तथा संसाररूपी समुद्र से तारने के लिये जहाज के समान, तपस्वियों को आहार भी न दें। अग्निशर्मा तापम ने जवाब दिया—सुम्हारा कथन सत्य है, राजा गुणमेन को छोड़कर यहाँ ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है। सोमदेव बोला—भगवन् ! राजा गुणमेन ने ऐसा क्या किया ? मुन्ते हैं कि वह तो बड़ा धर्म-परायण राजा है। अग्निशर्मा ने कहा—“जो अपने समस्त प्रदेश को जीन करके भी पिना कारण हठात्—तपस्विजनों को मारता है, इससे बढ़कर धर्म-भौर कौन हो सकता है”। सोमदेव ने विचार किया कि—वास्तव में इस समय यह तपस्वी अति कुपित है, बड़े बड़े कुण के धाम के बने हुए भागन ऊपर बैठा हुआ है और राजा के ऊपर निर्वेद भाव आ जाते हैं ही इसने अतृप्त-रूप तपस्या स्वीकार कर ली है, ऐसा मालूम पड़ता है तब स्पष्टीकरण पूछने पर हमारे स्वामी की, कानों से न मुन्ते लाकर ऐसी निन्दा भी करता है, इसलिये मैं अन्य किसी तपस्वी से यथार्थ वृत्तान्त जानकर अपने स्वामी को कहूँ—ऐसा मन में निरपेक्ष करके सोमदेव अग्निशर्मा तापम को प्रणाम करके वहाँ से चला गया तथा एक तपस्वी—जो कि अपने हाथ में धर्म, पुण्य आदि पूजन सामग्री लेकर स्नान करने की इच्छा से गङ्गा की तरफ उतर रहा था,—को पूछा कि भगवन् ! अग्निशर्मा तापम ने राजा के मन्त्रालय में क्या ममता है ? उस तापम ने भी क्षाण-वद्यूनि तथा उशमीन नेत्रों से किन्तार-पुर्वक मन्त्रों वृत्तान्त तथा उस अग्निशर्मा तापम के किया कलाओं का बयान दिया। यह सब जानकर सोमदेव गया तथा जो कुछ शान्तिया था, राजा के पास जाकर निवेदन कर दिया। सोमदेव ने मन्त्रों वृत्तान्त ज्ञान के पञ्चम राजा का मानमिह दृष्ट गतिजोय बड़ गया तथा दुःख के भाव को मन्त्र न करने में असमर्थ वह अपने मन्त्रों अन्तर्गत प्रत्यक्ष गतिज आदि मन्त्रों पदों ही अग्निशर्मा को विराम दिवाने के लिये स्वयं स्नान की तरह स्वाना हुआ। जिस प्रकार में राजा के अन्तर्गत मन्त्र वद्यूनि में विराट् मन्त्रों के साथ राजा है, उसी प्रकार वह राजा भी वद्यूनि के समान गतिज के साथ उस गङ्गा के तटों के विद्वत् विद्वत् राजा वद्यूनि। उसी बीच राजा के प्राणमन का मन्त्र विद्वत् विद्वत् राजा है एवं विद्वत् मन्त्रों के अन्तर्गत प्रत्यक्ष

मुद्रा में अग्निशर्मा तापस को 'राजा का आगमन हुआ है', ऐसा निवेदन किया। यह सुनकर, क्रोधरूपी अग्नि से जिसका शरीर जल रहा है, ऐसे अग्निशर्मा ने कुलपति को बुलाया तथा कुलपति के यथोचित आदर सत्कार की मर्यादा का भंग करके एकदम कहना शुरू किया कि हे गुरुदेव ! बिनाकारण शत्रु भाव रखनेवाले, इस दुष्ट राजा का मैं मुख भी देखना नहीं चाहता हूँ, इसलिये राजा को जो कुछ भी कहना हो, आप ही कह दीजिये तथा तपोवन के बाहिर से ही विसर्जित कर दीजिये। कुलपति ने विचार किया—कि इस समय कपायों का इस पर जोरदार प्रभाव है, इसलिये यही उचित है कि राजा कपाय-भाव से दूषित चित्तवाले, हम अग्निशर्मा को राजा के दर्शन से दूर रखा जाय, यह सोचकर कुलपति राजा की तरफ थोड़ी दूर गया और म्लानमुखवाले राजा को सपरिवार देखा। राजा ने सपरिवार कुलपति को प्रणाम किया और कुलपति ने सबको आनीर्वचन कहकर अभिनन्दन किया और कहा कि—महाराज ! आइये, सामने इस चम्पक वृक्ष-राशि के नीचे बैठें। राजा बोला—'जैसी आप श्रीमान् की आज्ञा।' दोनों चम्पकवीथिका में गये, फिर कुलपति निर्मल सिला के ऊपर कुश का आसन लगाकर बैठ गये और राजा अपने परिवारसहित जमीन पर ही बैठ गया। पश्चात् कुलपति ने कहा—महाराज ! इस समय, इतनी दूर रात्रियों तथा अग्न्य परिवारसहित पैदल ही आने का अनुचित कष्ट आपने क्यों किया ? राजा ने निवेदन किया—भगवन् ! हम लोग सदा अनुचित ही करते हैं अथवा मेरे ममान पुरुषों में अधम पुरुष के लिये यही उचित भी है, क्योंकि हम अपने प्रमाद के कारण से महान् तपस्विनों को बष्ट पहुँचाते हैं तथा उनके धार्मिक कार्यों में अन्तराय पहुँचाते हैं, इसलिये जिसके हृदय में शान्ति तथा सद्भाव नहीं है, ऐसा मैं आपके समक्ष बपट-मुक्त रहूँ, इसमें क्या लाभ ? भगवन् ! कृपा कर बतलाइये कि वह अग्निशर्मा तापस कहाँ हैं ? मैं उन्हें प्रणाम करूँ तथा उनके दर्शन के द्वारा पापकर्म का सेवन करनेवाले अपने आत्मा को मुक्त बनाऊँ। कुलपति ने प्रत्युत्तर दिया—महाराज ! इतना अधिक मन्तार करने की आवश्यकता नहीं है, अग्निशर्मा ने आपके ऊपर निर्वेद भाव रग करके अनगन स्वीकार नहीं किया है नेत्रिन यह तो हम तपस्विनों का नियम ही है कि "अन्तिम समय में अनगन के द्वारा देह का परित्याग करना।



राजा ने कहा—भगवन् ! विशेष बार्ताव्याप करने में क्या लाभ ! चलिए, उन ताम्बूरी अग्निशर्मा के दर्शन करें । कुलपति ने कहा—महाराज ! इस समय उमका दर्शन करना ठीक नहीं, उस समय वह ध्यान में लगा हुआ है, इसलिये उसके अभिप्रेत-दृष्ट कार्य में विघ्न उपस्थित करने में क्या लाभ ? आप इस समय अपनी नगरी में जाइये, फिर वही पर उनके दर्शन कर लेंगे । कुलपति की यह आज्ञा सुनकर अत्यन्त दुःखी चित्त में राजा उठ खड़ा हुआ तथा बोला—“जैसी आपकी आज्ञा, मैं दर्शनार्थ फिर आऊँगा” । राजा कुलपति को प्रणाम करके नगरी की ओर चल दिया, इतने में एक धान्तापस-कुमार अत्यन्त अनुकम्पापूर्वक राजा के पीछे पीछे थोड़ी दूर तक दौड़ा आया और अग्निशर्मा का अभिप्राय-समाचार राजा को निवेदन किया, पदचातू राजा ने मोचा—वापिस आने से क्या लाभ ? वापिस जाने से केवल कुलपति को परेशान करना है इसलिये अब मुझे इस नगर में रहना भी अच्छा नहीं है, अन्यथा इस महाप्रभावशाली ताम्बूरी के न सुनने लायक अमंगल समाचारों को सुनना पड़ेगा, इस प्रकार विचार करता हुआ राजा वसन्तपुर को पहुँच गया । वहाँ पहुँचकर उसने ज्योतिषियों की बुलाया और पूछा कि ‘क्षितिप्रतिष्ठित नगर’ को जाने के लिये हमारे लिये कौनसा दिन धेष्ठ है ? नित्य ज्योतिष विद्या में सलाम्त रहनेवाले उन ज्योतिषियों ने निवेदन किया—‘महाराज ! कल ही प्रस्थान करना मंगलकारी है’ । राजा ने परिजनों को आज्ञा दी कि “तुम सब कल ही वसन्तपुर जाने के लिये तैयार हो जाओ” । दूसरे दिन बड़ी सजधज के साथ राजा क्षितिप्रतिष्ठित नगर जाने के लिये निकला और सतत चलते चलते केवल एक महीने के अल्प समय में ही वह वसन्तपुर पहुँच गया । वहाँ राजा का ‘सर्वतोभद्र’ नाम का महल था—जिसके ऊपर चित्र विचित्र रंगोवाली ध्वजाएँ फहरा रही थीं, जिसकी अट्टालिकाएँ अनेक प्रकार से सजाई गई थीं, जहाँ महल तक का मार्ग राज-मार्ग अनेक प्रकार के पुष्पों से सजाया गया था, जहाँ सारे श्वेत-प्रासाद के ऊपर अनेक प्रकार की मालाएँ मुनीभिन हो रही थीं, और भी अनेक प्रकार से जिम महल को सजाया गया था—ऐसे उस सर्वतोभद्र नामक महल में राजा गुणसेन पहुँच गया ।



आर्गास मान हो गायन करना चाहता ? ममार में अन्य गायन करने वाला कोई भी व्यक्ति उठना मान है। यह भी हमें दे दे कि मैं जिस समय में गरी उठता हुआ हूँ गरी मरती जाऊँगा ? तब यह पुनः भी ममार में निश्चित नहीं है । अर्थात् तब उम्र के समय और प्रान्त हुआ नहीं कहा जावेगा ? ३३-३५

महाराज ! और भी सुनिये-

महान् समुद्र के मध्य जगत्तु दुर्लभ निवासस्थान होने के समान मनुष्यान् भी ममार में दुर्लभ है, तीसरे पान के जोर में पुनः के अथवा पर रहनेवाले जन्तुधनु के समान जान भी क्षान्तिक है, कुछ माँ के भीषण फल-प्रहार के समान कामभोग भी भगवान् फल देनेवाले हैं, लक्ष्मी भी गरदक्षुगु के बादला के समान, नक्षत्रों की मरी के कदाचित् के समान, हाथी के कान के समान, रिज्जरी के समान नवम् है । जब धुन कर्मों का तथा तपस्या एवं सयम का आनरण नहीं करता है तो समझ फल ही तरक का नियंत्रण में जाना है । विशेष क्या ?

अब, रोग, जोर तथा दृष्टिमान् व विप्रागर्णी अग्नि जहाँ उठ रही है, ऐसे नाट्य मीमांसा के समान क्षान्तिक व दुर्लभ ममार में जोन बुद्धिमान् व्याप्त विद्वान् कर गच्छा ? प्रत्येक मध्य-प्राणी को सदा माधवत, नित्य, भुव तथा धेष्ट मुनियों के द्वारा उपदिष्ट ऐसे पुराने सुतराने मोक्षमार्ग में ही सदा पुण्यार्थ व प्रयत्न करना चाहिये । ३८-३९

इस प्रकार में हे महाराज ! यह ममार ही मेरे निवेद (वेदांग) का मुख्य कारण है । फिर भी ममार में विरक्त होने का जो निमित्त कारण हुआ है, वह भी मैं आपको बता देता हूँ- सुनिये ।

इसी विजयनामक क्षेत्र में गान्धार नाम का एक देश था, वहाँ गान्धारपुरनामक एक नगर था, मैं उसी नगर का निवासी था और वही रहता था । वहाँ मेरा सोमवधु पुरोहित का पुत्र व विभावधु नाम का एक मित्र था, जो मानो मेरे द्वारे हृदय के समान था । प्रसंगतः वह विभावधु रोग में पीड़ित शरीरवाला होता हुआ देवताओं तथा दानवों को विजित कर लेता है, ऐसी मृत्यु के द्वारा मार दिया गया । मित्र की मृत्यु से मैं विप्रागर्णी अग्नि में जलता रहा, उसी समय सयमपूर्वक

जीवन यात्रा करनेवाले व चातुर्मास करने के निमित्त से वहाँ चार साधु हमारे नगर के बहुत समीप एक पर्वत की बहुत धनी गुफा में स्थित हुए। मेरे अपने विश्वस्त पुरुषों ने यह समझकर कि "साधु लोग मुझे बलिप्रिय हैं" मुझे साधुओं के आने की सूचना दी। सूचना प्राप्त करके मैं शीघ्र उन्हें वन्दना-नमस्कार करने गया। वहाँ जाकर मैंने स्वाध्याय में तल्लीन उन सबको देखा, मेरा मुख कमल प्रसन्न हो गया तथा मैंने उन्हें वन्दना की, उन्होंने 'धर्मलाम' के द्वारा मेरा स्वागत किया, पश्चात् मैंने उनकी संयम-यात्रा की सुख शान्ति पूछी और उन्होंने मुझे पर्याप्त सद्गुण दे दिया। पश्चात् उन मुनिबरो की थोड़े समय सेवा सुधूपा करके मैं अपने नगर में चला गया। वे साधु मुनिराज सारे वर्षावास अर्थात् चातुर्मास पर्यंत एक एक मास का उपवास किया करते थे, ऐसी बात जानकर मेरी उन पर दृढ़ श्रद्धा हो गई। इस प्रकार जैसे जैसे मेरी उनके ऊपर श्रद्धा बढ़ती गई, वैसे वैसे मैं उनकी सविधेय सेवा करता रहा और ऐसा करते हुए चार मास का समय व्यतीत हो गया। चातुर्मास की अन्तिम रात्रि में मुझे ऐसा विचार उत्पन्न हुआ कि कल वे चारों महातपस्वी यहाँ से त्रिहार कर जायेंगे, इसलिये मुझे उनके दर्शन व सेवा करनी चाहिये ऐसा विचार करके मैं रात्रि का अर्धप्रहर का समय बाकी था, तभी उन महातपस्वियों के दर्शनायें नगर से निकल पड़ा। मैंने थोड़ा सा मार्ग पार किया था कि पृथ्वी कम्पित हुई, गान्धार पर्वत गर्जा, सुन्दर मन्द-ध्वनि प्रवाहित हुआ, नभो-मण्डल प्रकाशमान हो गया और सब तरफ जय जयकार का शब्द प्रसारित हो गया। यह सब देखकर मेरा हृदय और भी बढ़ गया, मैं जल्दी जल्दी चलने लगा तो देखता हूँ कि गान्धार पर्वत की गुफा के समीप तृण, घास आदि सब प्रकार की अस्वच्छता साफ कर दी गई है, पृथ्वी ताल एक सरीखा बना दिया गया है, सुगन्ध युक्त जल-वृष्टि की जा रही है, देवताओं का समुदाय आकाश मार्ग से उतर रहा है तथा उन साधु महात्माओं की इस प्रकार से स्तुति कर रहा है कि—“हे प्रभो ! आपने ही यथायं मनुष्यत्व प्राप्त किया है, रागादि दोष नष्ट कर दिये हैं, कर्म-रूपी मेना को पराजित कर दी है, संसाररूपी समुद्र को आप निर गये हैं, और आपने शान्त मोक्षरूपी लक्ष्मी प्राप्त कर ली है”।



कुण्डी के समीप, उस घोड़ी के गधे के खुर के प्रहार से डर कर इस समय बड़ी कष्टना जनक अवस्था का अनुभव कर रहा है। वही कुत्ता पूर्व जन्म में, पुष्कराध के भरत क्षेत्र में, कुमुमपुरनामक नगर में, जब कुमुमपुरनामक सेठ के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए थे, तुम्हारी अत्यन्त प्रिय परनी के रूप में था। उसी पूर्व जन्म-जन्म सम्बन्ध व स्नेह के कारण मैं उनके वियोगरूपी अग्नि में जलनेवाला तुम्हारा चित्त शान्ति का अनुभव नहीं करता। केवलियों के पास से अपने मित्र की यह स्थिति सुनकर मुझे अत्यन्त दुःखानुभव हुआ और उसके स्नेह से मोहोत्पन्नचित्त होकर मैंने उस रस्सी के पास से उसे छुड़ाने के लिये उस पुष्पदन्त घोड़ी के घर पर अपने आदमी भेजे और उनको कह दिया कि उसे गोध्र ही घोड़ी के कठोर बन्धन-पाग से छुड़ा कर, भोजन तथा पानी ग्रहण कराके यहाँ लेकर आ जाओ। मैंने वे पुरुष वहाँ गये, तथा मेरी आज्ञानुसार सब काम करके उस कुत्ते को लेकर आ गये। मैंने उस कुत्ते को अत्यन्त निकट में देखा कि उसके शरीर के बालों ऊपर सैकड़ों पिन्गु (छोटे कीड़े) लगे हुए हैं, सैकड़ों कीड़ों के समुदाय ने उसे स्थान स्थान पर काटकर अनेक घाव कर दिये हैं, वह बहुत दुखता हो गया है, मांस लेते हुए अपनी लम्बी व भयकर जीभ को मेरी तरफ हिला रहा है, उसकी मुन्दर व द्रव्य दंत पक्ति चमक रही है, और वह बहुत मन्द गति से चल पा रहा है, उसकी यह स्थिति देख-कर मुझे अत्यन्त दुःख हुआ और मैंने सोचा कि जरे ! इस गमार का आवाग अति दायण है। गमार में जीव के प्रेममय कामों के इस प्रकार के परिणाम होने हैं। इसी वीथ के मेरे अपने आदमी भी आ गये और बोले कि "स्वामिन् ! यही वह कुत्ता है"। वह कुत्ता मुझे देखकर अपनी लम्बी पूँठ को हिला रहा था, उसकी आँखें अधभ्रुवित थीं, ऊँची गरदन करके और ऊँचा मुँह करके वह इस प्रकार साक्षात् कि उसकी उस परिस्थिति का कथन भी नहीं किया जा सकता। उसने इस प्रकार की स्थिति में विस्मयानुभूति किया, जब मैंने बेजोरी धनवान् की पूजा-भजन ! यह क्या है ? ये बोलें-यह भक्ति के समान होनेवाले पूर्व भव के सम्बन्ध में उत्पन्न या प्रेम का परिणाम है। मैंने पूजा-भजन ! क्या वह मुझे परिचित है ? धनवान् कोर-विशेषण से मरी, जिसका सम्मान करने में परिणत है। गमार का सम्मान ही है।

प्रकार का है कि पूर्व जन्म के अभ्यास में युक्त भावना बिना किसी प्रकार के उपयोग के भी थोड़े समय तक बनी रहती है। मैंने पूछा-भगवन् ! यह किम कर्म का फल है। भगवान् ने उत्तर दिया कि जाति मद के अभिमान से उत्पन्न कर्म का ही यह फल है। मैंने पूछा-भगवन् ! क्या इसने किसी प्रकार का मान किया था ? भगवान् बोले-मुनो, इसी नगर में जब किमी समय 'काम महोत्सव' मनाया जा रहा था, विविध प्रकार की बेइयाऐं नृत्य करती निकल रही थीं, नगर की गाना बजाना करने व नाचनेवाली टोलियों में, तरुण व्यक्तियों के समूह में धिरो तथा अनेक जनों से प्रशंसित, पास में से जाती हुई एक घोड़ियों की टोली को वसन्तक्रीड़ा का अनुभव करते हुए इसने पूर्व भव में देखा। उस घोड़ियों की मंडली को देखकर अज्ञान के दीप में तया जाति व कुलादि के गर्व से इसने ऐमा कह कर घोड़ी मंडली का तिरस्कार किया कि "नीच (हलकी) जातिवालों की यह मंडली हमारी मंडली के पाम से कैसे जाती है"। यह ममझकर कि पुण्यदत्त घोड़ी इस चत्तरी (मंडली) का मुखिया है, उसे इस तरह में बसकर बांध दिया कि जिससे उसके सारे शरीर को पीड़ा हो और फिर बांधकर जेल में पहुँचा दिया। इसी बीच कुलसम्बन्धी अभिमान के परिणामों की बहुलता से इसने पर भव का आपुष्य बांध लिया। इसके पदचात् जब काम-महोत्सव समाप्त हो गया तब नगर के लोगों ने पुण्यदत्त को बन्धन से छुड़वाया। यह उसी जाति मद के परिणामस्वरूप यहाँ उत्पन्न हुआ है। यह सब पूर्व भव का यूनान् मुनकर मैंने मोचा-अही ! अल्प मुग बहुत बड़े दुःख का फल देनेवाला होता है, इसलिये इस प्रकार के समार आवास को धिक्कार है, इसलिये मैं इन केवली भगवान् ने यह भी पूछ लूँ कि इस निदान से मुक्ति पाने का क्या उपाय है ? यह भी कि यह भय्य है अथवा अभय्य है ? मिट्टिगामी है, अमिट्टिगामी है अथवा इसको गम्यस्त्व की प्राप्ति हुई भी है या नहीं ? ये सब जाने मोचकर के मैंने पूछा-भगवन् ! मुझे उपरोक्त सभी प्रश्नों के वृपया उत्तर दें। केवली भगवान् बोले-मुनिने, इस निदान का अन्त इस प्रकार से होगा-

इस कुले के भवगम्बन्धी आयु को पूरा कराके यहाँ में दूसरा जन्म घारण करके इसी पुण्यदत्त घोड़ी के घर की प्रभूता 'घोटपटिका'।

नाम की गर्भा के गर्भ में गर्भ के रूप में उत्पन्न होगा, वहाँ से मृत्यु को प्राप्त करके पुण्यदत्त को अप्रिय, अत्यन्त क्लिष्ट शरीरवाला, विशेष भार उठाने में शक्ति हो गया है शरीर जिमका, अपने जीवन-काल को पूर्ण करने के पदचात् मरकर पुण्यदत्त के साथ रहनेवाले मातृदत्तनामक बाण्डाल के घर पर 'अनधिका' नाम की उसकी पत्नी की कुक्षि में नपुंसक के रूप में उत्पन्न होगा। वहाँ से निकलकर तथा कुटपत्ता एक भाग्यहीनता के कलक में दूषित हुआ वह (नपुंसकता के कारण से) विषय सग में सर्वथा अज्ञात, थोड़ा समय नपुंसक रूप से जीवित रह कर किमी सिंह के द्वारा मारा जाकर शरीर को त्यागकर उसी बाण्डाल स्त्री की कुक्षि में स्त्री के रूप में उत्पन्न होगा। फिर वहाँ में आयुष्य पूर्ण करके प्रथम वार्यावस्था में ही सर्प के द्वारा काटा जाकर पुण्यदत्त की गर्भ दासी (प्रभूति करने करनेवाली) या गर्भ दासी, जिमका नाम दत्तिका होगा—के गर्भ में फिर नपुंसक के रूप में उत्पन्न होगा। वहाँ में फिर निकल करके जन्मान्ध, बीना व कुबड़ा हो करके और सर्वत्र विरस्कृत करके थोड़े समय तक अपने उपरांत प्रकार के नपुंसक पर्याय को ममाप्त करके, जब नगर में आग लगेगी, उस अग्नि के द्वारा भस्मी-भूत होकरके मृत्यु को प्राप्त होगा और उसी उपरोक्त दत्तिकानामक गृहदासी की कुक्षि में स्त्री के रूप में उत्पन्न होगा। स्त्री के रूप में उत्पन्न हुआ यह—पीठ सर्प—पीठ के सहारे चलनेवाली स्त्री—होगा। वह पीठ-सर्प स्त्री, इसी नगर में एक मदोदत्त हृदिनी के द्वारा राजमार्ग में जाती हुई, मार दी जायेगी और इसी पुण्यदत्त की 'कालाञ्जिनिका' नामक आर्या की कुक्षि में फिर स्त्री के रूप में उत्पन्न होगी—फिर वह स्त्री अपनी यौवनावस्था को प्राप्त करेगी और फिर पुण्यदत्त अपनी उस लड़की को किसी अत्यन्त दरिद्री तथा परिस्थिति से अभिभूत ऐसे पुण्य-रक्षित नामक व्यक्ति के साथ पारणा देगा। शादी कर लेने के बाद वह स्त्री गर्भवती होगी और प्रभूति के समय के निकट होने पर अत्यन्त वेदना से पीड़ित होकर मर जायेगी और फिर अपनी इसी माता के गर्भ में पुत्र के रूप में उत्पन्न होगी। पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ वह बालक, वक्त्र में ही गान्धार नामक नदी के किनारे खेलता हुआ पुण्यदत्त के 'किरात' नामक शत्रु के द्वारा, "यह मेरे शत्रु का पुत्र है" ऐसा समझ कर उसकी गर्दन बहुत बड़ी शिला-सल से बांध दी जायेगी और फिर



सम्यक्त्व या सम्यक्दृष्टि के प्राप्त हो जाने के बाद पहिले जो कर्मों की स्थिति शेष रह गई है, उनमें से भी दो पत्न्योपम से लेकर नौपत्न्योपम तक की स्थिति के क्षीण हो जाने पर यथायथं, शुभतर परिणामों में गभित अर्थात् पहिले से भी ज्यादा शुभ परिणाम युक्त देश विरति अर्थात् श्रावक अवस्था को जीव प्राप्त कर लेता है। वह इस प्रकार है—

स्थूल प्राणातिपात ( जीर्वाहिसा ) से निवृत्ति, स्थूल मूषावाद से निवृत्ति, स्थूल अदत्तादान से निवृत्ति, स्थूल मंथन (अग्रहाचयं) से निवृत्ति अर्थात् परस्त्रीगमन से निवृत्ति या स्वस्त्री संतोष और अपरिमित परिग्रह से निवृत्ति—ये पाँच श्रावक के मूल व्रत होते हैं। इस प्रकार से वह जीव देशविरति परिणाम से युक्त होकर तथा अनुव्रत रूप धर्म को प्राप्त कर भावपूर्वक अपरिपतित परिणामवाला अर्थात् अपने शुभ परिणामों से न गिरनेवाला होकर निम्न अतिचारों का सेवन नहीं करता है, यथा—प्रथम अहिंसा व्रत के ५ अतिचार—वध, बध, छविच्छेद, अति भारारोपण, तथा भक्त पान का व्यवच्छेद।

द्वितीय मरय व्रत के ५ अतिचार—सहसाम्यास्यान, रहस्याम्यास्यान, स्वस्त्री मंत्र भेद, मूषोपदेश व कूटलेख करण।

तृतीय अस्तेय व्रत के ५ अतिचार—स्तेनाहत, तस्कर प्रयोग विहर्ष-राग्यातिक्रम, कूटतोल कूटमान, और तत्प्रतिरूपकव्यवहार।

चतुर्थ ब्रह्मचर्य व्रत के ५ अतिचार—इत्वरिक परिगृहीतागमन अपरिगृहीतागमन, अनगन्नीडा परविवाहकरण तथा कामभोग की तीव्रामितापा।

पाँचवे अपरिग्रह व्रत के ५ अतिचार—क्षेत्रवस्तु प्रमाणातिक्रमण, हिरण्यमुक्कणं प्रमाणातिक्रमण, धन-धान्य प्रमाणातिक्रमण, द्विपद चतुष्पद प्रमाणातिक्रमण, कुप्यप्रमाणातिक्रमण। ये पाँच अनुव्रतों के कुल २५ अतिचारों के द्वासी प्रकार के कार्य जो समारम्भी सागर में परिभ्रमण कराने के लिये निमित्त रूप होने हैं, उन दोष (अतिचार) रूप कर्मों को यों के कारण से सम्यक्त्वी तथा धनमम्पन्न पुरुष कभी आचरण करना है। इनके अनिश्चित बहूव्री पुरुष निम्न प्रकार के उत्तर

(अन्य) गुणों को भी पायता है, स्वीकार करता है। वे श्रावक के उत्तर गुण ये हैं—

उर्ध्व, अधो तथा निरुद्धी दिशाओं की मर्यादा करना यह पहिला गुणव्रत तथा भोगोपभोग की वस्तुओं की मर्यादा (परिमाण) करना यह दूसरा गुणव्रत, उपभोग परिभोग के लिये कठोर कर्मों का अर्थात् १५ कर्मदानों का त्याग और आनन्दध्यान व रौद्रध्यान का सेवन न करना और प्रमाद का आचरण, हिंसा के साधन अन्य व्यक्ति को न देना, पाप-कर्मोद्देश आदि अनर्घदण्डों से अर्थात् निरर्थक प्रवृत्तियों से श्रावक विरत होता है। ये तीनों गुणव्रत हैं, इसी प्रकार श्रावक सावद्य योगी का विषय तथा निरवद्य या निर्दोष योगी के आचरणरूप 'सामायिक' व्रत का सेवन करने के साथ वह अन्य शिक्षाव्रतों को भी धारण करता है। देवावगामिक—दूसरा शिक्षाव्रत है, इसमें प्रतिदिन जो शिक्षाओं की मर्यादा की जाती है, उसमें पहिले से भी प्रतिदिन कम कम मर्यादा करके अभिग्रह धारण करता है। इसके पश्चात् आहार का त्याग, शरीर-साकार का त्याग, ग्रहचर्य का पालन और सम्पूर्ण सावद्य क्रियाओं को त्यागरूप पौषधोपवास व्रत को श्रावक स्वीकार करता है, यह तीसरा शिक्षाव्रत है। न्यायोपाजित और कल्पनीय—अर्थात् व्रती साधु के खाने श्रावक अन्न-पानी तथा अन्य संयमोपकारी पदार्थ देश, काल, थड़ा, सम्मान तथा अनन्य भक्ति के साथ अपनी आत्मा के ऊपर ही अनुग्रह करने की भावना में संयमी साधुओं को निर्दोष दान देता है, इस प्रकार के स्वरूपवाले चौथे शिक्षाव्रत को श्रावक धारण करता है। इस व्रत का नाम अतिथि सविभाग व्रत है।

इस प्रकार उपरोक्त शुभ परिणामों से युक्त, गुणव्रत तथा शिक्षाव्रतों को भावपूर्वक धारण करनेवाला, और निरंतर शुभ आत्म-परिणामों व धर्म-भाव में वृद्धि करनेवाला तथा शुभ आत्म-परिणामों से कभी व्युत्त न होनेवाला श्रावक निम्नलिखित अलिचारों (दोषों) का सेवन न करे—

उर्ध्व, अधो व निरुद्धी दिशा के परिमाण का उल्लंघन न करना, एक दिशा की मर्यादा घटा कर दूसरी दिशा की मर्यादा बढ़ावे, दिशाओं के परिमाण को विस्मृति कर जाय। सचित्त, सचित्त-मिश्रित आहार

ओषधि का भक्षण, सुन्धीषधि का भक्षण, अंगार कर्म, वन कर्म, अर्थात् जंगल के वृक्ष काटना तथा बेचना, बैल गाड़ी व रथ आदि बनाने बेचना, बैल घोड़ा आदि किराये पर देना, मान मोझे या पत्थर फोड़ने का धन्धा करना, हाथी आदि पशुओं के दान्तों का व्यापार करना, लाल का व्यापार करना, मदिरा आदि रंगों का व्यापार करना, विरंगी वस्तुओं का व्यापार करना, दाम-दागी तथा जीविन पशुओं के बागों का व्यापार करना, पाणी, कौन्डू आदि यंत्रों के मिल-मिश्रणों को पीलने का व्यापार करना, बैल आदि को नपुमान बनाने का व्यापार करना, जंगल में आग लगाना, सालाव, झील तथा मरौतरादि गुप्ताने का व्यापार करना, वैद्याओं के बोपण का कार्य करना अथवा कुत्ते, बिल्ली आदि हिमक प्राणियों को पालना, इन प्रकार के पूर्वोक्त १५ कर्मोदानों का कठोर कामों का, त्याग करता है ।

उपरोक्त व्रतस्थ श्रावक कामोत्तेजक चेष्टाओं का, भांड की तरह विकृत चेष्टाओं का, निरर्थक बात करने का, हिमक माधनों को एकत्रित करने का तथा उपभोग परिभोग सामग्री अधिक बढ़ाने का भी त्याग करता है । मन, वचन व काया के दुष्प्रयोगों का, सामायिक की विस्मृति का, और अव्यवस्थित रूप से सामायिक करने का भी त्याग करता है ।

दमवे देगावगासिक व्रत में नियमित सीमा से बाहर की वस्तु मँगाना या भिजवाना, शब्द-संकेत से काम कराना, आंग्र आदि के इशारे से काम कराना, ककड़-गत्थर फेंककर दूसरे को संकेत करना—इन अतिचारों के सेवन का भी वह त्याग करता है । ग्यारहवें व्रत के पाँच अतिचार निम्न प्रकार से हैं—बिना देखे-भाले अथवा अच्छी तरह से देखे बिना शय्या का उपभोग करना, बिना पूजे अथवा अच्छी तरह पूजे बिना शय्यादि का उपयोग करना, बिना देखे अथवा अच्छी तरह न देखकर लघुशंका या शीघ्र के स्थान का उपयोग करना, बिना पूजे अथवा अच्छी तरह पूजे बिना मल-मूत्र का विसर्जन करना और उपवास युक्त पीपध का सम्पक् प्रकार से पालन करना—इस प्रकार से पीपधोपवास व्रत के अनिचारों का भी त्याग करता है ।

अनिय गविभागनामक बारहवें व्रत के निम्नलिखित पाँच अतिचार हैं—साधु महात्मा को देने लायक आहारादि को सचित्त वस्तु से









की तरफ लटकाए हुए (भोड़े हुए) लम्बे पंछवाला था, व्यवस्थित रूप से जपाओं को स्थापित करके बँठी हुई आकृतिवाला था और सर्वांग सुन्दर मनोहर था। इस प्रकार के उस बालक को उदर में प्रविष्ट होते देखकर सुखपूर्वक जागृत हुई रानी ने विधिपूर्वक पति से निवेदन किया—पति ने जवाब दिया—“जिसके चरण कमल युगल में अनेको सामन्त नमस्कार करेते, ऐसा ‘महाराज’ शब्द का निवासस्थान पुत्र तेरे उत्पन्न होगा”। पति के श्रीमुख से ये शब्द सुनकर वह आनन्दपूर्वक रहने लगी। यथोचित काल प्राप्त होने पर महान् पुरुषवाले, गर्भ के प्रभाव से उसे दोहला उत्पन्न हुआ। वह दोहला इस प्रकार था—“मैं सभी प्राणियों को अभयदान दूँ, दीन, अनाथ तथा कृपण व्यक्तियों की सपत्ति का दान दूँ, साधु-मुनिराजों को संयमोपकारी दान दूँ तथा सभी जिना-त्यों की पूजा करूँ” इस दोहले को उसने अपने पति से निवेदन किया। राजा अत्यधिक प्रसन्न हुआ तथा दोहला पूर्ण किया। दोहले को यथा-विधि संपादित करने से जनपदों (देशों) में तथा लोक में महान् हर्ष हुआ। कहा भी है—

“जिस प्रकार बाल चन्द्रमा का उदय संसार की प्रकाशित करता है, उसी प्रकार से आश्वशाली पुरुषों की सभी अवस्थाएँ परोपकार के लिये होती हैं”। २

तत्पश्चात् यथा सुख धर्म-कार्यों में तत्पर और परोपकार के कार्यों का सम्पादन करनेवाली थी अतः सफल जन्मा उस श्रीकान्ता रानी ने गर्भ का नवमास तथा साढ़े सात रात्रि का समय सुखपूर्वक व्यतीत किया। श्रीकान्ता देवी ने प्रशस्त तिथि, प्रशस्त करण तथा प्रशस्त मुहूर्त का संयोग होने पर मुकोमल हाथ-पैरवाले पुत्र को सब प्रजाजनों के मनोरथों के साथ जन्म दिया। सुभकरिकानामक दासी ने राजा को पुत्र जन्म का समाचार निवेदन किया, राजा ये समाचार सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और दासी को अनेक प्रकार के पारितोषिक दिये। कैदियाँ को मुक्तिदान दिया तथा अन्य इस प्रसंग के अनुरूप कार्य किये। पुत्र जन्म से नगर में महान् आनन्द हो गया। नगर के सभी मार्ग सजाये गये और सुगन्धयुक्त केसर के जल का छिड़काव करके मार्गों की उड़ती हुई धूलि शान्त करवाई। नगर के मार्गों के बीच गेंजारा करने का



है, इसलिये सज्जन जनों के संबंध-वृक्ष के बीज के समान उसका स्वागत किया जाय। आप सिंहकुमार को आदरपूर्वक यहाँ बुलाइये तथा आन-नादि देकर उन्हें आसन पर बैठाकर अलंकृत कीजिये तथा स्वहस्त से कालोचित वसन्त पुष्पाभरणों के साथ ताम्बूल पत्र दीजिये। कुमुमावली ने कहा—सखि ! “अत्यन्त लज्जा तथा भय के कारण से मैं इस कार्य को करने में समर्थ नहीं हूँ, अतः तुम्हीं इस समयोचित कार्य को सम्पादित करो”।

इसी बीच राजकुमार सिंह उस प्रदेश में आ पहुँचे, तब आमन को सुसज्जित करके, प्रियकरा कुमार से बोली—“रति-रहित कामदेव का स्वागत करती हूँ, आप श्रीमान् यहाँ बिराजिये”। दासी के इन वचनों को सुनकर प्रसन्नता के साथ थोड़ा हँसता हुआ कुमार बोला—“इतने समय तक तो मैं रति-विरहित था, लेकिन अब नहीं” ऐसा बोलकर, कुमार आसन पर बैठ गया। प्रियकरा नामक दासी ने माथरी लता के पुष्पों की माला के पुष्पों की माला के साथ सुवर्णमय पत्र में ताम्बूल लाकर रखा, जिमने कुमार ने ग्रहण किया। इसी बीच कुमुमावली की माता के द्वारा बुलाने के निमित्त से भेजा गया ममरायणनामक कचुकी-नग्याओं के अन्तर्गुर का वरिष्ठ सेवक, आ गया। उमने आश्री नगर में कुमार को देवती हुई कुमुमावली को देना तथा शिचार दिया कि “मदि भाग्य अनुकूल हो तो रति के लिये कामदेव आ गया है” तत्पश्चात् कुछ गभीर आकर सिंहकुमार का अभिनन्दन करके समरायण बोला—बन्ने, कुमुमावलि ! देवी भुक्तावली ने आज्ञा दी है कि—“तुम्हें थोड़ा करने हुए काफी समय हो गया है, तुम ज्यादा थोड़ा करती हुई घर आओगी, अब जन्दी ही आ जाओ”। कचुकी की यह बात सुनकर “जैसी माता की आज्ञा” ऐसा कहकर प्रेमदृष्टि में कुमार की ओर देखती हुई वह श्रीशोचान से बाहर निकल गई तथा कुमार का ही एक मात्र विमल करनी हुई अपने घर चली आई।

तत्पश्चात् वह भुक्तावली देवी को प्रणाम करके ‘दन्तकर्मिणी’ नामक मन्द में ऊपर चढ़ी गई और सिंहकुमार का ही स्मरण करती हुई काम-व्रत्य दीपे निशाम छोड़ती हुई, दरवाजा ऊपर बंद गई और अपने मन्त्र के मन्त्री बर्ग को भी सम्मानपूर्वक अभिहित किया।

इसके पदवात् कामदेव के वाणों से विद्ध वह कुसुमावली, अपने गरीरमन्त्रघ्नी सब व्यापारों की तरफ से जो निवृत्त हो गई है, ऐसी तथा निरन्तर निःश्वास छोड़ती हुई शय्या का सेवन करने लगी। चित्र-कलासम्बन्धी किसी कार्य को नहीं करती थी और न किसी प्रकार का भगण (मेहन्दी) शरीर पर लगा कर किसी प्रन्दार का शृंगार ही करती थी। किसी प्रकार के आहार की इच्छा नहीं करती थी, न अपने खुद के भवन में आनन्द का ही अनुभव करती थी। अपने चिर परिवर्तित होते तथा मेनका के समुदाय को भी पाठ कराती नहीं थी और अपने भवन-स्थित सरोवरों में रहनेवाले सुन्दर व चतुर हंसों को भी क्रीड़ा नहीं कराती थी। मकानों की चान्दनी पर चढ़कर इधर उधर घूमती नहीं थी, और न घर-बावड़ियों में स्नान ही करती थी। वह अपनी बीणा की सालसभाल नहीं लेती थी तथा वृक्षों के पत्तों को छेद छेद करके, उनमें विविध प्रकार की आकृतियाँ भी बनाती नहीं थी। उसने यँद से खेलना भी बन्द कर दिया है तथा आभूषणों की सजावट की तरफ भी वह बहुत ख्याल नहीं रखती थी और मूष भ्रष्ट-हरिणी की भाँति अपनी सखी सहेलियों से अलग, एकान्त में, एकमात्र उसी सिंह-कुमार का ही स्मरण करती थी। कुमार का स्मरण करती हुई कभी वह अपनी आँखें बन्द करती थी तो कभी, लम्बा-दीर्घ निःश्वास छोड़ती थी और कभी देह जग्य चेष्टाओं को रोककर बोलना भी बन्द कर देती थी, इस प्रकार करते हुए उसका मुख-कमल म्लान हो गया था।

इसी समय उसकी घात्री-माता ने अपनी पुत्री मदनलेखा को जो कुसुमावली के लिये दूसरे हृदय के समान प्रिय थी, आज्ञा दी—४-१०

कि—“क्रीडामुन्दर उद्यान में जाकर क्रीड़ा करने में कुसुमावली अत्यधिक थक गई है, अतः उसने अपनी सखी-सहेलियों को भी जल्दी विदा कर दिया है, इसलिए तुम जाओ और अत्यन्त अल्प जल से सिंचित पत्रा (तालवृत्) तथा कपूरयुक्त ताम्बूलपत्र ले जाकर उसे दो।” माता की आज्ञा सुनते ही, माता के आदेशानुसार तालवृत् (पत्रा) तथा कपूर-युक्त पान लेकर मणिमय नूपुर की मधुर ध्वनि करती हुई, मदनलेखा कुसुमावली के पास आई। उसने मुन्दर-शय्या में सोई हुई और किन्ना-तुर स्थिति में बगों का पार अति बड़बड़ाई से सहन करती हुई कुसुमावली

के सुमुख सिंहकुमार है।" उनको देगकर मैं आश्चर्य चरित हो गई हूँ।

कुमुमावली के विकार भावना युक्त कारण को जानकर मदनलेखा ने सोचा—'स्वामिनी का अनुराग योग्य स्थान पर ही हुआ है। कमलार (मरोवर) को छोड़कर लक्ष्मी अन्यत्र वाग नहीं करती है, रति रामदेव को छोड़कर और कहीं भी गति नहीं कर सकती है, इसी प्रकार सिंहकुमार को भी इसके मित्राच कोई अन्य कन्या उचित नहीं है। फिर वह प्रकट रूप से बोली—स्वामिनी, सिंहकुमार वस्तुतः अपने गुणों से सुन्दर हैं और माना मैं जब तुम्हें बुलाने के लिये भेजा था, उस समय जहाँ सुबुद्धि मंत्री को राजा के माथ मंत्रणा करने हुए मैंने सुना है, यदि वह बात उसी प्रकार हो, तो रति के माथ कामदेव के सयोग के समान ही यह सुन्दर सयोग होगा।

कुमुमावली बोली—तुमने क्या सुना है? मदनलेखा ने कहा—मैंने इस प्रकार से सुना है, आर्य सुबुद्धि कह रहे थे—महाराज! पुरपदन के पुत्र सिंहकुमार के लिये कुमुमावली की मांग का बड़ा आग्रह है। मुझे इस विषय में भारपूर्वक कहा गया है कि तुम निमी भी तरह से ऐसा करो, जिसमें समान गुणवाले सिंहकुमार का लग्न कुमुमावली के माथ में हो जाय, और राजन्! कुमार को छोड़कर अन्य कोई भी कुमुमावली के लिये योग्य वर नहीं है।"

इसी बीच लज्जा तथा हर्ष मिश्रित स्थिति में कुमुमावली एक अनियंत्रणीय स्थिति को प्राप्त हुई फिर भी कृत्रिम शोध करती हुई चन्द्रमा के समान मुग्धवाली चन्दन के समान नीतल व मधुर बदन बोली—मदनलेखा! तू इस प्रकार का असबद्ध प्रत्याप करती है? और इस प्रकार मे निरर्थक प्रत्याप करती है? मदनलेखा बोली—सति, इसमें अगम्बद्ध जैसी क्या बात है? क्या मानमरोवर निवामिनी राजहनी श्रेष्ठ हम के लिये अयोग्य होती है?

मंत्री की उपरोक्त बात सुनकर राजा बोले—सुबुद्धि! महाराज का तो मेरे प्राणों पर भी अधिकार है। सुबुद्धि बोली, यह गल्प है। कुमुमावली तथा मदनलेखा जब इस प्रकार मे मंत्रणा पर रही थीं, तब मैं 'पल्लविका' नामक मालिन-नीकरानी ने आकर कुमुमावली से

हिन्दी अनुवाद (द्वितीय भव)

निवेदन किया—स्वामिनि ! माताजी ने आज्ञा दी है कि 'आप दन्तवलभी नामक प्रासाद में जायें' क्योंकि महाराज ने कहला भेजा है कि आज महल के बगीचे को विशेष सोमा संपन्न हो, ऐसा सज्जित करना है, कारण कि महाराजकुमार सिंहकुमार वहाँ पधारनेवाले हैं। मालन दासी के ये वचन सुनकर 'जैसी माताजी की आज्ञा' कहती हुई वह दन्तवलभी नामक उद्यान में चली गई। इधर भवनोद्यान भी सुसज्जित कर दिया गया। तत्पश्चात् मादर निमन्त्रित करके, जिनको कुसुमावली के प्रति उत्कट अभिलाषा थी, ऐसे सिंहकुमार को लाया गया और भोजनोपरान्त अन्य अनेक आदर सत्कार की औपचारिकताएँ हो जाने के पश्चात् सिंहकुमार भवनोद्यान में प्रविष्ट हुआ।

उद्यान में उसने गृहसारिका-मैना-के शब्द से मुखरित ब्राह्मलता-मण्डप को, नये वरराजा के समान लाल कोपलरूपी वस्त्रों से सुशोभित अशोक वृक्षों के समूह को चतुर व मधुर कठध्वनिवाले हस्तों से चलायमान कमलोवाली भावङ्गियों के नलिनीवन खण्ड को, भ्रमरो व कोयलों से गुंजित आम्रश्रेणी को, पुष्परस के पान से हर्षोन्मत्त भ्रमण करते हुए भ्रमर समूह को, माधवी लता-मण्डप को, नागलता के समूह से परिवृत्त सुपारी के वृक्षों को, मुग्ध से महकते हुए दिशामण्डल जहाँ है, केसर के गुच्छे जहाँ यत्र तत्र दिखाई दे रहे हैं, मन्द मन्द पवन जहाँ चल रहा है, जिसे देखते ही आँखें शीतल हो जाती हैं, ऐसा कदलीगूह देखा और पश्चात् माधवीलता मण्डप में बैठ गया।

इस बीच मदनलेखा ने कुसुमावली से कहा—स्वामिनि ! महानु-भावाँ का परिचय सुजन-भाव से-सहज-पूर्व के मन्मथों के कारण होता है। उस मन्मथ को स्थायी बनाने के लिये पहिले बुलाना, यथोचित वार्तालाप, पुष्प-पान का आदान-प्रदान आदि होने चाहिये, जिससे मन्मथ भजवृत्त बने। इसलिये तुम सर्वप्रथम कुमार की कुशल पूछा करो, बाद में अपूर्व प्रेम के माथ अपने खुद के हाथ से तैयार प्रियपु मंजरी का कर्णभूषण बनाकर, कोमल नागरवेल (पान) का पान तैयार करके नये (फूल विशेष) फलादि, ऐसी वस्तुएँ जिनसे तुम्हारे कुमार को भेजो। यह

स्तनों का स्पर्श करता हुआ, काम भावना के कारण से नीची भाग का स्पर्श कर रहा था, ऐसा मुन्दर वह हार था ।

उमके कंठ में स्वच्छ मोतियों का हार ( कंठा ) धारण कराया तथा वेमर से रंगे हुए कानों में रत्नमय चक्रवर्ताएँ पहिनाई । मुन्दर संध्याभूषी लक्ष्मी, जैसे घबल कुटिल चन्द्रलेखा में मुगोमित होती है, वैसे ही उमका तेजस्वी मुग कान्तिमान बन गया । अत्यन्त कानि व धने, धन तथा मुलायम व चमकते हुए केशों में मुगोमित उमके मिर पर पवित्र धूडामणि धारण करवाया और 'मुझे पहिले देखेंगे', इस प्रकार की ईर्ष्या करनेवाले रत्न समान कान्तियाले चून्डी-चन्द को उमके सम्पूर्ण शरीर में धारण करवा दिया । १५-३८

इस प्रकार से इधर कुसुमावली का सर्वांग शृंगार किया गया, उतने समय में शृंगार करने में अत्यन्त निपुण वारांगनाओं ने मिह-कुमार का पूर्ण शृंगार करके उसे तैयार कर दिया और यह बात पुनरुक्त को भी निवेदिन कर दी । इस बीच शकुलाया ( समय सूचक-एक पुराना माप ) ग्रहण कर ज्योतिष-शास्त्र के रहस्य व ज्ञान को जाननेवाले ज्योतिषियों ने कहा कि 'पाणिग्रहण के नजदीक का मुहूर्त प्रगल्भ (श्रेष्ठ) है ।'

तत्पश्चात् राजा की आज्ञा में कुटुम्बीजनों ने परिवृत्त वह मिह-कुमार आनन्दपूर्वक विवाह मण्डप में आया । जिस समय वह विवाह मण्डप के द्विगे खाना हुआ उग समय मंगलमय वाद्यंत्रों से दिसामण्डल गुंजित हो रहा था, मुन्दर नृत्य करने में कुशल अन्तःपुर की मुन्दरियों में नगर का राज-मार्ग भारा भरा हुआ था, पवन में हिलती हुई ध्वजार्य, मानों नाच रही हो, जिनर्यों में लगी हुई हैं, ऐसे मुन्दर र्यों में राज-परिवार के लोग पीछे पीछे चल रहे हैं, इस प्रकार में मुन्दर व मुम-रिजन शर्षी पर आण्ड हुआ वह मिहकुमार, मृगाक गेल तथा अमर-मेनादि कुमार जिनकी मेरा कर रहे हैं, वगल तथा शरद् फलु में युक्त कामदेव के समान, भक्तों के गवाशों में नगर की मुन्दरियों अत्यन्त उन्मुक्तता तथा अभिरागा में जिसे अवशोसन कर रही हैं, विवाह मण्डप आ पहुँचा ।

दी अनुवाद (द्वितीय भव)

जब वह द्वार में प्रवेश करने लगा तब द्वार खड़ी, उज्ज्वल वस्त्रों  
 धारण करनेवाली तथा उमका सत्कार करने योग्य सामग्री में मुग-  
 जत वृद्ध स्त्रियों ने उसे रोका तथा अपना 'आचारिमक'—एक प्रकार  
 दस्तूर मांगा। हृष के कारण से विकमित व प्रमत्त नेत्रवाले उम  
 कुमार ने, मांगा था, उससे भी ज्यादा दस्तूर दिया और पश्चात् उम  
 श्रेष्ठ हाथी से वह नीचे उतरा। हाथी में उतर जाने पर मुन्दरियो ने  
 रिवाज के अनुसार रत्नकाचीयुक्त सुवर्ण मूसल से उसकी 'भृकुटि भग'  
 की। बाद में गायवाले जन समूह की बाहर ही रोक कर स्त्रियाँ सिंह-  
 कुमार को अन्दर ले गईं।

जहाँ, गरद ऋतु के बादलों से आच्छादित चन्द्रमण्डलवाली पूर्णिमा  
 की रात्रि के ममान इक्षत व निर्मल वस्त्रों को धारण करनेवाली व गौर-  
 मुखवाली थी, वहाँ जाने पर पोरबना, नजर उतरना आदि अपराध  
 निवारण के लिये किये जानेवाले 'कौतुक' करके सखियों ने 'मुख की  
 गोभा को देखने के पूर्व के नेग दस्तूर की माँग की तो वह थोड़ा सा  
 हँसा और बोला कि—३९-४०

'यह तो मेरी ही काम है', ऐसा कह कर उनका दस्तूर उन्हें  
 दिया। कुसुमावली ने अपनी मुखच्छवि-प्रकट की, अर्थात् लज्जा-मकोच  
 सकोच छोड़कर घूँघट हटाया, तब उसने कुसुमावली को देखा, मामों  
 भगोक वृक्ष के पल्लव से अलंकृत, ईषद् विकमित कमल के समान, वह भय  
 तथा हर्ष के मिश्रभावाँ में युक्त हो, और मनोहर में भी मनोहर किंस  
 अत्यन्त दिव्य, विलास-मुख का अनुभव कर रही है, और अत्यन्त प्रमत्त है

इसके पश्चात् मंगल गीतों के उद्घोष के साथ पाणि-ग्रहण वि-  
 प्रारम्भ हुई। दर-पक्ष तथा कन्या-पक्ष, जो परस्पर अनुरागवद्ध थे, ऐ-  
 दोनों पक्षों के हृदय में आनन्द का मबार हो रहा था। बाद में, वि-  
 काल से एक दूसरे के वियोग को महन करने में अमर्ष, क्रूर तथा।  
 के नल-चन्द्र की कालिवाले दोनों हाथ इकट्ठे किये। पहिले अनु-  
 मय व बोमल हृदयवाले मिहकुमार ने पमीने में गीते हुए हाथ  
 कुसुमावली के हाथ का ग्रहण किया। पश्चात् वह उम मुन्दर र्या-  
 (कदा न) श्रेष्ठ तथा महान् चानुरल (चेंवरी) में लाई गई, जेन  
 देवांगना देव विमान में लाई जाती हो।

उम चवरी का स्नान निम्न प्रकार का था—

पञ्चमग मणियों में जटित गुणार्णव स्नानों में वह बनाई गई थी, उनके ऊपर रेशमी वस्त्र का चदरा—एक गुणोभित वस्त्र विशेष प्राण-दिन किया हुआ था। उम चन्द्रके में मोतियों के गुच्छों की अबूझाई झालरे, लटक रही थी। मोतियों की झालरों में जो मरकत मणियाँ थी, उममें इवें चवरी भी हरे रंग के दिगार्ई दे रहे थे। इवें चवरी में जो मुवर्ण दण्डियाँ थी, उमकी प्रभा में बीच बीच में लगाये गये, काच के टुकड़े भी पीले रंग के दिगार्ई पड़ रहे थे। उन मुवर्ण वणशले काच में वर-पक्ष की स्त्रियों के मुणों के प्रनिधिम्ब मुगोभित हो रहे थे। प्रसन्न मुखी वर पक्ष की स्त्रियों को देखकर वधू-पक्ष की सुन्दरियों को भी आनन्दानुभव हो रहा था, और चहुँमुखी इस आनन्द के कारण से प्रकट रूप से रोमाच का अनुभव करनेवाला बंदी-चारण ममुदाय भी चवरी भाग तक आ पहुँचा था, उस चवरी के पर्यन्त अन्तिम भाग में रंग-विरंगे सारामडल की रचना की गई थी और तारक मण्डल से गुणोभित तारण के अगले भाग में सुन्दर-स्वच्छ चन्द्र-रेखा के आकार की स्थापना की गई थी, और चन्द्र-रेखा से विस्तीर्ण मण्डल-रूप आकाश मण्डल प्रकाशित हो रहा था—ऐसी उस चवरी में सिंहकुमार-कुसुमावली के साथ प्रविष्ट हुआ, जैसे दिवसरूपी लक्ष्मी से युक्त देदीप्यमान सूर्य उदयाचल पर्वत में प्रवेश करता है, विकसित कमल के समान मुसवाली कुसुमावली के साथ मणि-रत्न के आभूषणों की किरणों से देदीप्यमान शरीर की कान्तिवाले सूर्य के समान सिंहकुमार ने उस चवरी (चांदनी) में प्रवेश किया। उस समय नीचे की तरफ मुँह की हुई, उस कुसुमावली के नेत्रों से चवरी स्थित-वेदी के धुँएँ के कारण से थोड़े से आँसू निकल कर पैरों पर पड़े, मानो वे ऐसा कह रहे थे कि “तुम अपने पति के मुग का दर्शन करो” मिर ऊँचा करो। ४१-५२

इसी बीच वरातियों का स्वागत-सत्कार प्रारम्भ हो गया। अत्यन्त गुणन्धित वास चूर्ण, गुंजार करते हुए धमरों में युवत पुष्प मालाएँ, गुणन्धित रेशमी वस्त्र, कर्पूरयुक्त ताम्बूल पत्र, मूली वस्त्र, चीनी थैल वस्त्र, कड़े, हार, कुडल, कधेनी, आदि आभूषणों का तथा तुर्की, बाल्हीर, जेन, बज्रर आदि अनेक जाति के घोड़ों का तथा भद्र तथा मन्दवर्ग

जैसे जाति के हाथियों का दान किया गया।

इसी समय में दूसरी तरफ घर बंधू भी, पाहड़ तथा मीलों राज से निश्चित अग्नि की प्रदक्षिणा शुरू करते हैं। प्रथम प्रदक्षिणा में बन्ध्या के हथित पिता ने शुद्ध सोना-बिना पड़ा हुआ-एक लाख भार प्रमाण दान में दिया, दूसरी प्रदक्षिणा में हार, कुण्डन, कटिंगूत्र-कन्दोरा आदि विविध प्रकार के आभरण दिये और तीसरी प्रदक्षिणा में चान्दी के घाल, रुन्धोलादि वर्णन दिये और चौथी प्रदक्षिणा में अत्यन्त पुलकित पिता ने अनेक प्रकार के मृत्त्वान वस्त्र-भाड़ियाँ आदि दी। ५३-५६

पुरुषदत्त राजा ने भी अपने वैभव के अनुसार अत्यन्त प्रसन्नता तथा आदर में जोतो का सरकार किया और निर्मल कान्तिवाले कीमती रत्न और मोतियों के आभूषण पुत्रबधू को प्रदान किये।

इस प्रकार से विवाहोत्सव हो जाने के बाद कुसुमावली तथा सिंह-कुमार का पारस्परिक प्रेम बढ़ता चला गया और काय-कर्म से प्रसन्ननीय श्रम का अनुभव करते हुए अनेक लाख वर्ष व्यतीत हो गये। एक बार सिंहकुमार अश्व क्रीड़ा करने के लिये गया था, वही नागदेवनामक बगीचे में निरवद्य रथान में (अत्यन्त प्रामुक) अनेक श्रमणों में परिवृत्त, क्षमा, मार्दव, आर्जव, भुक्ति (निर्लोभता) तप, संयम, गत्य, आर्किचन्य तथा ब्रह्मवर्ष, ऐसे साधु के योग्य दस गुणों के भंडार, प्रथम जीवन वय में स्थित, रूपादि गुणों से युक्त, सम्पूर्ण द्वादशांगी का अर्थ तथा मूल पाठ अपने शिष्यों को पढ़ाते हुए धर्मचोपनामक आचार्य को उसने देखा। धर्मचोप आचार्य को देखकर उसके हृदय में मुनिके प्रति अतीव बहुमान, भक्ति जागृत हुई।

सिंहकुमार ने विचार किया कि ये मुनिराज धन्य हैं, कि "ये संसार से विरक्त तथा संसार के सम्पूर्ण सम्बन्धों के त्यागी हैं, सदा परोपकार-रत होकर अपनी सयम-यात्रा को पवित्रतापूर्वक चला रहे हैं। मैं इनके समीप जाकर पृच्छूँ कि सुन्दर कामयोगी का सेवन करने योग्य इस युवावस्था में इन्हें वैराग्य क्यों कर हो गया? और इस संसार को दुःख से परिपूर्ण इन्होंने क्यों माना? पश्चात् (यह विचार करके) दूर से ही उस जातिवान् घोड़े से उतरकर वह उनके समीप गया और उन्हें



माता नरक में एक पत्थर की चाकूती नारदी के का में उतर चुका ।

इस मौनमें रह कर आसुत ममता तो वे घर में नहीं थे वरु होकर इसी विषय (माता से) मुमुक्षुनामक जंगल में मुमुक्षु नामक पत्थर पर तभी के जंगल में उतर चुका गया पुरातन को प्राप्त हो गया । इस बीच मन्दिर का भीतर स्थापना गरिष्ठ भूमि का आसुत ममता करने उद्योग मुमुक्षु पत्थर पर एक गोले के रूप में उतर चुका । पौरुषात्म्य का प्राप्त में स्थापना, मन्दिर उम गये पर मुनी भित्त ममतामक पत्थर के जंगल में कई स्थापित के समुदाय में परिवर्त होकर पूजा करता था और अनेक प्रसार की नीचाई करता था । मुझे यही देना, मेरे माय के पूर्वक्रममन्त्र-री के प्रमाण में तथा उन्मत्त कर्मोद्भूत के प्रमाण में उम गोले का मेरे ऊपर धैर्य-भाव उन्मत्त हुआ तथा धैर्य-भाव के कारण उमने गोला-द्वय हावी को इस मन्त्री में भोग भोगने से कैसे बलिष्ठ किया जाय ? उमने इस सम्बन्ध में अनेक उपाय खोजने प्रारम्भ कर दिये ।

एक बार कोई लीलावतिनामक विद्याधर, किमी मृगाकमेननामक अन्य विद्याधर की बहुत चन्द्रकेता का अपहरण करके उमके मम में उम स्थान में (मुमुक्षु पर्वत पर) आया और उमने उम तोंते में कहा कि "मैं इसी पर्वत के कुंज में रहता हूँ, मही एक विद्याधर आयेगा, तुम मेरे सम्बन्ध में उसे कुछ भी नहीं कहना" । जब वह चला जाये तब मुझे सूचना दे देना । यदि तुम इस कार्य में मेरी सहायता करोगे तो मैं भी इसके बदले में तुम्हारा कुछ उपकार-सहायता करूँगा । यदि तू इसी प्रकार से मेरी मदद करेगा तो मैं समझूँगा कि बहुत अच्छा विद्या-ऐसा कहकर वह पर्वत की बहुत गुफाओं में जाकर छिप गया ।

वह तोता भी उसी प्रदेश में नारग वृक्ष की शाखाओं पर बनावे गए भोगने में रहता था, इनमें में मृगाकमेननामक विद्याधर आया तथा वापिस चला गया । इस बीच हृग्निनी-परिवार में परिवर्त में वही आया, मुझे वही देखकर तोंते ने विचार लिया कि निरकालीन इच्छा को पूर्ण करने का सुन्दर अस्मर प्राप्त हुआ है । पश्चात् मायावी तोंते अपनी पत्नी के साथ विचार विमर्श करके (मुझे मुनाई दे, इस प्रकार

हिन्दी अनुवाद (द्वितीय भाग)

से उसे) कहा—मुन्दरि ! भगवान् वसिष्ठऋषि के पास मैंने ऐसा सुना था कि इस सुमुमारे पर्वत के ऊपर 'सर्वकामित' नामक कोई स्थान (पतन) है, जो व्यक्ति, जिस वस्तु की इच्छा करके गिरता है, वह उसी वस्तु उस इच्छित वस्तु को प्राप्त कर लेता है। तत्पश्चात् मैंने पूछा—भवन् वह स्थान कहाँ है ? उन्होंने कहा—इस श्रेष्ठ साल वृक्ष के बायें हिस्से में ही वह स्थान है।

तब इस तिर्यक भाव से (पक्षीरूप जन्म से) क्या लाभ ? चलो, विद्याधर बनने का चिन्तन करके वहीं हम दोनों गिर पड़ें। इस बात को सोते की पत्नी ने स्वीकार किया तथा तदनुसार दोनों उस स्थान पर गये, उपरोक्त चिन्तन (अभिलाषा) किया और पश्चात् पर्वत निकुञ्ज में गिर पड़े। ये सब त्रियाएँ करते करते वे लीलारतिनामक विद्याधर के पास में भी गए तथा मृगाक्षेप के आने तथा वापिस चले जाने के समाचार भी उसे कह दिए। उनके इस कथन से लीलारति चन्द्रलेखा के साथ गगन मार्ग को अलंकृत करता हुआ आकाश में उड़ पड़ा। उन दोनों को उड़ते हुए हमने (हाथी तथा हथिनी) भी देखा और इस प्रकार चिन्ता (विचार) उत्पन्न हुई कि अहो ! सर्वकामित पतन का कितना माहात्म्य है कि एक शुक्लदम्पति ने विद्याधर बनने का केवल विचार किया और विचार करते ही इग गिरि निकुञ्ज में वे दोनों गिरे और तक्षण विद्याधर भियुन (विद्याधर तथा विद्याधरनी) बन गए। इसलिए हमें भी इस तिर्यक भाव में (हाथी तथा हथिनी रूप जन्म से) क्या लाभ ? तो हम भी क्यों न देवता बनने या चिन्तन करते इन गिरि निकुञ्ज में गिर पड़ें ?

इस प्रकार से विचार करके, देवता बनने की अभिलाषा हृदय में धारण करके हम दोनों 'सर्वकामित पतन' से नीचे गिर पड़े। इस बीच ये शुक्ल-दम्पति वहाँ से उड़कर चले गये, जिनका हमें कोई समाचार नहीं रहा। उस गिरि निकुञ्ज में हम इस प्रकार से पड़े कि देग एक एक भग्न चूर हो गया और अन्त्यन्त बरष्ट का अनुभव करना हुआ मैं अशम निजंग के द्वारा वनों की सपाट बगुमलेगन्नामक पत्तन देवताओं के भीमनगर ने कुछ कम (देगमून) पत्तनोत्तम की आयुताम देवता हुआ। मैं वहाँ अनेक प्रकार के उदार वनों की सब भोग रहा



हिन्दो अनुवाद (द्वितीय भव)

तो उन्पन्न हुआ तथा यह सोचकर कि यह सम्पत्ति रखने लायक नहीं है, फिर भी अनिच्छा में भी अपने मित्र की विनोद दक्षता इस सम्बन्ध में जानकर साईं हुई सम्पत्ति सुरक्षित रख दी। इधर नगर में यह समाचार फैल गया कि चन्दन सार्यवाह का घर लुट गया है, इस जनश्रुति को सुनकर मेरी आशंका प्रबल हो गई कि यह सम्पत्ति चन्दन सार्यवाह की ही होनी चाहिए। यह सोचकर मैं यज्ञदत्त के पास में गया और उमने पूछा कि तुमने जो धन मेरे पास रक्खा है, वह कहाँ से आया है?

उमने प्रत्युत्तर दिया कि अन्यथा मत समझो, पिताजी के डर से मैंने तुम्हारे पास में रखा है, और वका जैसा कोई कारण नहीं है। यह सुनकर मेरी वका निर्मूल हो गई। इस बीच चन्दन सार्यवाह ने राजा में निवेदन किया कि राजन् ! मेरे घर पर चोरी हो गई है। राजा ने पूछा कि क्या चुराया गया है? चन्दन सार्यवाह ने जो निवेदन किया, वह सब राजा ने निश्चय लिया। पश्चात् राजा ने अपने सेवकों को बुलाकर आज्ञा दी कि—जाओ, तथा दुन्दुभि बजाकर शहर में इस यात्र का घोषणा कर दो कि—“चन्दन सार्यवाह का घर चोर दिया गया है, और इस प्रकार की सम्पत्ति चुरा ली गई है, इसलिये जिस किसी के घर भण्डन या ध्यापारादि द्वारा चुराई गई सम्पत्ति या उमका कोई हिस्सा धाया होवे तो वह बड़ी आज्ञा करनेवाले राजा के समीप आकर राजा में निवेदन कर दे, यदि किसी के पास में यह सम्पत्ति मिल गई और उमने पूर्ण उमने राजा में निवेदन नहीं किया तो राजा उमकी सम्पूर्ण सम्पत्ति का हरण कर लेगे तथा उमने पारिवारिक दण्ड—( जै ) भी दोगे और किसी प्रकार से क्षमा-प्रदान नहीं करेगे।

राजा की आज्ञा के अनुसार घोषणा कर दी गई। संज्ञा कर लिये जाने के बाद पाँच दिन यज्ञदेव ने राजा में निवेदन किया—महाशत्रु ! यद्यपि अपने मित्र के किसी दोष का प्रकाशन करना उचित तो नहीं है, किन्तु यज्ञदेव तथा इन्द्रजीत महाराजों के निवेदन के कारण करनेवाले तथा ऐसे बुराई में अपना भी अहित करनेवाले, ऐसे किसी के साथ क्या प्रवृत्ति? जानने हुए राजा के क्या प्रजा के अहित की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, इसलिये यज्ञदेव के निवेदन पर भी वे कानूनी के निवेदन करना हूँ।

पति को स्नान की जानकारी भी नहीं दी। जिससे गर्भ वृद्धि हो रहा है, ऐसी उमने गर्भ ने दोन के कारण से वह गर्भ का आर-सत्कार भी नहीं करती थी फिर भी गर्भ उमने ऊपर निम्न स्नेह करने लग गया।

कुटुम्बी जनों ने रानी से कहा कि महारानी ! यह उचित नहीं है कि राजा आपके प्रति अत्यधिक स्नेहाशील हैं, और आप उनका आर-सत्कार नहीं करती हैं। रानी ने कहा—मे क्या करने ? निमित्त ही यह इस गर्भ का दुःखान होना चाहिये, भगवता, मैं आर्यपुत्र (राजा) का अनुमान-सत्कार क्यों नहीं करूँ ?

अन्य दिगी समय में उसे दोलना ( गर्भ की आन्तरिक दुःख ) उत्पन्न हुआ कि 'मे इस राजा की आँतें राजें'। उमने विचार किया कि अवश्य ही मेरा यह गर्भ पापकारी है, ऐसे गर्भ ने क्या लाभ ? स्त्री-स्वभाव से तथा पति-स्नेह के कारण से उमने गर्भ को गिराने का विचार किया और विचार करके, बूकि यह बहुत बड़ा कार्य है, अतः परिवार के मुख्य व्यक्तियों के साथ विचार-विमर्श किया और उनकी सम्मति मिल जाने पर गर्भपान करने की गुप्त योजना प्रारंभ कर दी। प्रगाढ़ कर्म-दोष के प्रभाव से गर्भ नहीं गिरा। परन्तु अनेक प्रकार की औषधियों के सेवन से तथा दोहने की पुति न हो सने के कारण से यह अत्यन्त दुर्बल हो गई।

उसे इतनी कुरा होती देखकर राजा ने पूछा—सुन्दरि ! तुम्हारे कौन से मनोरथ पूर्ण नहीं होते ? अथवा तुम्हारी आज्ञा का किसी ने उल्लंघन किया है अथवा मैंने तुम्हारी इच्छा के विपरीत किसी प्रकार का आचरण किया है, जिससे अल्प जलवाली कुमुदिनी के समान तुम इस प्रकार से क्षीण होती जा रही हो ? पति के इस प्रकार के हार्दिक स्नेह को प्राप्त करके कुमुमावली ने कहा—आर्यपुत्र ! मुझे इस प्रकार से निर्वेद-उद्विग्नता हो गई है, जिससे मैं सोचती हूँ कि "मैं आत्महत्या कर डालूँ।"

राजा ने पूछा—हे सुन्दरि ! तुम आत्महत्या क्यों करना चाहती हो ? कुमुमावली ने उत्तर दिया—राजन् ! मेरे भाग्य को ही इसका कारण पूछिये, ऐसा कहते कहते उसका कंठ गद्गद् हो गया और वह

रह गई। राजा ने विचार किया कि इस समय यह अत्यन्त दुःखी है। इस प्रसंग की वार्ता को विशेष करने से क्या लाभ? 'मैं इसका भान अन्य बात की तरफ आकर्षित करूँ' ऐसा विचार करके राजा ने तब प्रसंग के वार्तालाप को बन्द करके अन्य प्रसंग प्रारम्भ कर दिया। पञ्चानु भद्रनेत्रादि उसके सखी जनों को बुलाकर राजा बहुमानपूर्वक उनसे कहने लगा कि तुम लोग इनने बुद्धिमान् हो तथा रानी के दुःख का कारण जानते हुए भी कृष्णपक्ष के चन्द्रमा की ज्योतिष्मा के समान सींग होनी हुई रानी की इतनी उपेक्षा करती हो, क्या यह तुम्हारे लिये ठीक है? रानी को यह उदासीनता कितनी असाध्य वस्तु में सम्बन्धित भी नहीं है, क्योंकि रानी मुझे इस सभार में सर्वाधिक प्रिय तथा मेरे लिये एकमात्र मारभूत है। संसार में ऐसी कौनसी वस्तु है, जो मेरे प्राण धारा चले हुए भी रानी के लिये मुल्म न हो? मदननेत्रा बोली—महाराज! आकाश कथन सर्वथा भ्रम है। हमारी स्त्री-मुल्म अज्ञानता ही एकमात्र वहाँ के अपराध का कारण है। हमलिये महाराज! यदि रानी के निर्दोष का कारण कहने लायक नहीं है, तथापि कहने के लिये अन्य कोई पारा भी नहीं है, हमलिये में आत्मे निवेदन करती हूँ।

राजा ने प्रत्युत्तर दिया कि रानी का निर्दोष यदि उपाय प्राप्त हो तो तुम स्वयं ही उसका निवारण कर लो, अन्यथा मुझे कहो। हमलिये बोली कि रानी के दुःख का सामाजिक कारण क्या है? मदननेत्रा ने धर्मभोगी स्थिति में गर्भ में निरंतर रोदड़ उन्नति के दीपमुख कारण मर्त्य तथा गर्भगत के उपायों का जो अकल्पित विचार मिला, वही सब का समुचित वर्णन राजा को कर सुनाया।

राजा ने विचार कि इस रानी का मेरे ऊपर प्रभावशाली प्रेम है, जिससे मुझ-जगत् की भी निवेदित सम्पत्ति न देखी हुई मेरे ऊपर ऐसा प्रभाव पड़ा है। अब यदि उनके दोहरे (गर्भ की दुःख) की स्थिति में भी मैं नहीं जा सकूँ तो मैंने जो विचार प्रकाश का कारण है उसे हमलिये के द्वारा मैं मुझ-जगत् को ही ऐसा बतला कर राजा के लक्ष्य-निर्देशों को निर्दिष्ट विचार मिला कि अब मैं कदाचित् इस की वृत्ति भी करूँ, तबका प्रभाव देखकर ही मुझ-जगत् प्रभाव पड़ा।

राजा ने विचार कि इस रानी का मेरे ऊपर प्रभावशाली प्रेम है, जिससे मुझ-जगत् की भी निवेदित सम्पत्ति न देखी हुई मेरे ऊपर ऐसा प्रभाव पड़ा है। अब यदि उनके दोहरे (गर्भ की दुःख) की स्थिति में भी मैं नहीं जा सकूँ तो मैंने जो विचार प्रकाश का कारण है उसे हमलिये के द्वारा मैं मुझ-जगत् को ही ऐसा बतला कर राजा के लक्ष्य-निर्देशों को निर्दिष्ट विचार मिला कि अब मैं कदाचित् इस की वृत्ति भी करूँ, तबका प्रभाव देखकर ही मुझ-जगत् प्रभाव पड़ा।

वृत्तान्त राजा ने उसे कह मुनाथा । महामंत्री ने विचार किया कि रानी का मोचा दूसरा उपाय उचित ही है अथवा सम्मान करने में तो रानी के शरीर को पीड़ा होगी । उस विषय में उचित उपाय बन गया । राजा श्रेयस्कर होगा ऐसा सोचकर उसने निश्चय किया कि राजा को मूसा रखा जाकर कृत्रिम आगे पेट के बाहिर बाँधकर तथा नेत्रपट लगाकर और आँखों पर मजबूत पट्टी बाँधकर रानी के देखते हुए ही आँखें निगल कर दी जाय तो ठीक हो और जन्म होने के पश्चात् गर्भ का बच्चा होगा इसका विचार बाद में करेंगे ।

सारा विचार करके महामंत्री ने अपना निश्चय राजा में निवेदन किया, राजा को मंत्री की यह युक्ति बहुत पसन्द आई । तत्पश्चात् मन्त्रिणागर ने रानी में कहा—स्वामिनि ! मैं राजा की जानों को इस प्रकार में निकालूँगा, जिसमें राजा की मृत्यु न हो ( और इच्छा पूरी हो जाय ) । गर्भ स्वभाव में ही दुष्ट था इसलिए रानी ने मंत्री की बात स्वीकार कर ली । मंत्री का मोचा दूसरा उपाय किया गया और दोहड़ पूर्ण हो गया । इसके पश्चात् सोऽगम्य रानी को राजा के दर्शन कराये जिसमें वह समाश्वस्त हुई ।

तत्पश्चात् मंत्री ने रानी में निवेदन किया कि हे स्वामिनि ! प्रसूति समय में ( प्रसूति हो जाने पर ) बालक का जन्म होने के समान राजा को परितो मन बहलाना लेकिन मंत्री प्रथम सूचना देगा । इसके पश्चात् समर्पावन जा कुछ करना होंगा वह मैं कर लूँगा । रानी ने मंत्री के इस यत्न को स्वीकार कर लिया ।

अब किसी समय भू दिवस के चरम प्रहर में (अपराह्न में) रानी प्रसूता हुई और उसी समय मन्त्रिणागर ( महामंत्री ) को बुलवाया । महामंत्री बोला—हे स्वामिनि ! यह गर्भ राजा के लिये अनिष्ट कारण जान पड़ता है, ऐसे गर्भ में क्या भाव ? इसका पालन, पोषण तथा संरक्षण अवश्य किया जाना चाहिये, और राजा में ऐसा निवेदन कर दें कि 'निम्न मर गया है' । रानी ने कहा कि यही जल है । मैंने जैसा मन में विचार किया था, वही हो मंत्री महोदय ने सोचा है ।

तत्पश्चात् मन्त्रिणागरात्मक दार्ढ्य के साथ निम्न को बाहर भेज द्यु पोरी हो दूर गई होंगी कि राजा ने उसे देना दिया और

दी अनुवाद (द्वितीय भाग)

क्या कि तुम्हारे हाथ में यह क्या है ? तब भय के मारे कम्पित होनी हुई माधिका बोली—“देव ! कुछ भी नहीं है।” इतने में हाथ में रहा हुआ नवजान-गिणु को देखकर क्रोधित होकर राजा बोला—ऐ पापिनी ! यह क्या किया ? तत्पश्चात् स्त्री स्वभाव की भीरुता के कारण माधिका ने सम्पूर्ण वृत्तान्त राजा को कह दिया।

मारा वृत्तान्त जान लेने के पश्चात् राजा ने बालक को ले लिया और विचार किया कि अब यदि यह बच्चा इसके पास में रहेगा तो शोचन नहीं रह पायेगा, इसलिये इसे पालन-पोषण तथा सर्वजन के श्रेष्ठ अन्य किसी धात्री को दे दूँ। पश्चात् वह अन्य धात्रियों को तौप दिया गया और उन्हें चेतावनी दी कि इस बालक की रक्षा करने में यदि तुम लोगों ने किसी भी प्रकार का प्रमाद (गफ़ज़त) किया तो तुम मेरे हाथों द्वारा नष्ट हो जाओगी। राजा ने, (बालक को दे दिये जाने के कारण से) महारानी तथा मंत्री मतिसागर को भी उपालम्भ दिया और बुमुमावली तथा मंत्री के मन के अनुकूल (उनके चित्त की आशात न पहुँचाते हुए) बनकर गुप्त रूप में सामान्यसा पुत्र जन्मोत्सव मना लिया। इस प्रकार करते हुए थोड़ा समय व्यतीत हो गया। बालक का नाम 'आनन्द' रखा गया। यह धनी शनै बड़ा हुआ और अपने अनेक बन्धुओं का ज्ञान ग्रहण किया। वह धान्यक पूर्व कर्मों के दोष से राजा के प्रति नियम वित्त (द्वेषपूर्ण विचार रखनेवाला था) बाला था, फिर भी राजा ने उसे युवराज-पद प्रदान किया।

अन्य विभी समग्र, सीमान्तवर्ती, जंगली किले की भूमि तथा मेना-सम्बन्धी सर्व के कारण गविष्ठ दुर्मेतिनामक सामन्त राजा उपरोक्त सिंह राजा को तपाया करता था। यह बात जब सिंह को ज्ञान हुई तब उसने अपनी सेना भेजकर उस पर पडाई कर दी लेकिन दुर्मेति के पास भूमि तथा मेना विशेष होने के कारण ने सिंह की सेना पराजित हो गई। अपनी सेना के पराजित के समाचार जानकर राजा ने सिंह द्वारा तथा जोशबेन के हस्त युद्ध के लिये तत्पर हुआ और तीन हफ्तों पर अपना पराजित होने का दुःख भोगा।

इसी समय गिणु नदी के किनारे को पार करने हुए सेंट नदी पर विराजित हुए राजा सिंह ने, नदी के जल के अति लदीन ही 'को !



जिम प्रकार से किया। उसे दृष्ट्वा अज्ञान को उचित मान परमात्मा मानता है, उसी प्रकार से समझना भी उचित हो प्राप्त सभी प्राप्ति का योगदान समझ पर मान कर देना है। वही अज्ञा, रोग, व्याधि। तथा अन्य जिसे प्रकार के बाधक कारण नहीं है ऐसे देव आदि में भी मृत्यु-जान स्वच्छन्द रीति से तथा मुक्तपूर्वक विकरण करता है तो फिर व्याधि, जरा, रोग तथा मोह में मग्न बना हम मनुष्य प्राण में मनुष्य नियंत्रण पर के लिए भी जोरित है, यह मृत्यु का प्रसाद है, ईश्वर है क्या? अर्थात् पुण्या द्वारा जोरित जेमे-अपमग्न का तुम स्थान का दो, मृत्यु की दाह में योग्य हुआ इन्द्र भी यादगि निराशने में मग्न नहीं है। है क्या? मरे हुए को मार करतू अपने कुल को कलङ्कित मन कर। मने अपनी बाणी में जिम आहार का त्याग कर दिया है, उसे मैं अब कैसे पहचान कर सकता हूँ?

राजा के मुँह में इस प्रकार से निर्भीक वचनों को सुनकर क्रोधान्ति से प्रवृत्ति तथा लाज नेत्रोंवाला आनन्दकुमार "अभी भी किम प्रकार से बोलता है" इस प्रकार में बोला तथा अपने हाथ में रही तलवार में राजा के गिर में प्रहार कर दिया। उस समय तत्त्व के ज्ञाता राजा ने "नमो जिनेभ्यः" का चिन्तन किया और विमुक्त भाव में सोचा कि "मह एकमात्र पूर्ववृत्त कर्मों का ही दोष है" तथा संगार के मनी जीव पूर्ववृत्त कर्मों के फल को प्राप्त करते हैं, अपराधों तथा गुणों के सम्बन्ध में अन्य सोच तो निमित्त मात्र होने है। राजा इस प्रकार में चिन्तन कर रहा था तब फिर उस पापकर्म आनन्द ने निर्मल चित्तवाले महात्मा अपने पिता सिंह राजा को कालुष्य भाव से मार गिराया।

मृत्यु को प्राप्त होने के पश्चात् वह राजा सनत्कुमारनामक देवलोक में, लीलारामनामक विमान में पाँच सागरोंपम के आयुष्यवाला उत्तम कान्तिवाला देव हुआ तथा आनन्दकुमार भी बहुत समय तक राज्य करके, मृत्यु को प्राप्त होकर रत्नप्रभानामक नरकभूमि में उत्कृष्ट आयुवाला महाघोर नारकीरुष से उत्पन्न हुआ। ९४-११८

धर्म से याकिनी महत्तरा के पुत्र परमगुणानुरागी, परमसत्यप्रिय परम कारुणिक भगवान् हरिभद्रमूर्ति द्वारा विरचित समरादित्य कथा (ममरादित्य कहा) के अन्तर्गत यह द्वितीय भव समाप्त हुआ।

## तृतीय भव

सिंह राजा तथा आनन्दकुमार, पिता-पुत्र का सम्बन्ध द्वितीय भव में कहा जा चुका है, अब उन दोनों का शिखिकुमार आलनी, पुत्र तथा माता के रूप में जो सम्बन्ध हुआ है, उसका कथन इस प्रकरण में करेंगे—१

इसी जम्बूद्वीप के पश्चिम विदेह क्षेत्र में अनेक लोगों का निवास-भूत, कौशाम्ब नाम का नगर है। इस कौशाम्ब नगर में व्याघ्रिणी की वेदना का कभी अनुभव नहीं होता था, यह नगर परचक्र के भय से अपात् अन्य राजाओं के युद्ध या आक्रमणादि भयों से रहित था और देवताओं की नगरी के समान अत्यन्त रमणीय था।

कौशाम्ब नगर की स्त्रियाँ सरल-स्वभाववाली, स्थिर स्नेह के अनुबन्ध से युक्त, कामदेव की राजधानी की स्त्रियों के समान मुन्दर तथा घर्म के साक्षात् फल के समान थी और यहाँ के पुरुष प्रियवादी, सत्यवादी, किसी भी अपरिचित से आदर के साथ प्रथम बोल्नेवाले तथा सदा घर्म-तत्पर दिखाई देने थे।

उस नगर का राजा अजितसेन था। उसने अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की थी, और कई एक अभिमानी राजाओं का अभिमान चुर कर देने से उनके रत्नजटित मुकुटों से युक्त मस्तक उसके चरणों में झुक जाने से उसके पैर भी मानी रंगे हुए थे, ऐसा प्रतापी वह अजितसेन राजा था। उस राजा के मंत्री का नाम इन्द्रशर्मा था, वह ब्राह्मण था, सारे राज्य की समग्र दृष्टि से सदा चिन्ता करता था तथा वह राजा को इतना प्रिय था कि राजा उसे अपने से जरा भी मित्र नहीं मानता था। मंत्री की पत्नी का नाम शुभंकरा था।

इधर वह आनन्दकुमार जो नरक में गया था, अपना नरक का आयुष्य पूर्ण करके और कुछ कम चार सागरोपमकाल संसार की विविध रतिमयी में परिभ्रमण करके इन्द्रशर्मा की शुभंकरानामक पत्नी की दृष्टि में पुनरीकृत में उत्पन्न हुआ। जन्म हो जाने के पश्चात् उचित स्वर

उमका माम 'जालिनी' रखा गया। यह जालिनी नमन, मोहन के प्राप्त हुई, तब अजितमेन के अन्य मंत्री बुद्धिमागर के पुत्र ब्रह्मदत्त ने साथ उसका सम्बन्ध हुआ तथा पदचान् पाणिग्रहण भी हो गया। उन दोनों ने काफी लम्बे समय तक समार के भोगों को सुगमपूर्वक उपभोग किया। इस प्रकार में काफी समय व्यतीत हो गया।

उधर यह मित्रदेव का जीव भी मन्तरकुमारनामक देवलोके में व्युत्त होकर ( अपना आयुष्य पूर्ण करके, ) कर्म की अक्रियता महानता कारण उसी जालिनी की कुक्षि में पुनरुत्पन्न हो गया। जालिनी उसी रात्रि में एक स्वप्न देखा। उसने स्वप्न में देखा कि 'एक सुवर्ण-मय पूर्ण कालन ने मेरे उदर में प्रवेश किया है,' इससे उत्तका सन्तोष प्रकट न हो, उससे पूर्व तो वह बाहर भी निकल गया तथा बाहर निकल कर फूट गया। इस प्रकार के स्वप्न को देखकर वह पबराती हुई-सी जागृत हुई। उसे थोड़ासा दुःख मिश्रित सुख-रस का अनुभव हुआ, लेकिन उसे अपने पति ब्रह्मदत्त को स्वप्न आने की बात नहीं कही। अब यह गर्भ शनैः शनैः वृद्धिगत होता चला गया। उसके शरीर तथा मन दोनों को गर्भ के कारण में पीडा होने लगी और उसने विचार किया कि "यह गर्भ पापमय है, अतः मैं इसे गिरा दूँ या नष्ट कर दूँ।"

इस प्रकार का विचार करने के पदवात् गर्भ की नष्ट करने के अनेक उपाय किये लेकिन कर्म के विनाश से गर्भ नष्ट नहीं हुआ। इस सारी घटना की जानकारी ब्रह्मदत्त को हो गई और उसने अपने विद्वत्त परिजनों को वही नियुक्त किया तथा उन्हें सूचना दी कि प्रभूति के समय में गर्भ की यदि किसी प्रकार का कष्ट हो तो उसकी पूरी समालोचना और भ्रामिनी को सन्तोष हो जाय ऐसा कोई अच्छा बहाना करके अथवा उसे न मालूम पड़ने देने हुए मुझे मारी स्थिति कह देना।

इसके पदवान् जालिनी को दोहद उत्पन्न हुआ कि मैं सभी प्राणिमों की जाननिन्दन करके, देवमन्दिरों में पटापूजाएँ मग्नादित कराऊँ, धर्म तत्पर महातपस्वियों को पूजा करके तथा किसी प्रकार से कल्याणकारी परलोकमार्ग या धर्म करके। उसके पति ब्रह्मदत्त ने इस दोहद को पूर्ण कराया और जालिनी भी इस गर्भ के प्रभाव में लोगों के नियम-मनोरम-आदरणीय हो गई।



प्रयत्नपूर्वक-विवेक बुद्धि से त्याग कर देना चाहिये । इन कपायों के सेवन से ही कर्म-बुद्धि, उमके पश्चात् संसार-बुद्धि अर्थात् पुनः पुनः जन्म धारण और फिर दुःखों का अनुभव होता है । इसलिये संसार के प्रति छद्मेग का भाव रखकर महान् पाप स्वरूप इन कपायों का त्याग कर देना चाहिये । २-३ कहा भी है-

जो व्यक्ति राग-द्वेष रहित होता है, उसे किसी भी प्रकार के कटु-फलों का परिणाम नहीं भोगना पड़ता है, इसमें क्या आश्चर्य ? परन्तु कपाय-भावों के रहते हुए भी जो उनके आधीन नहीं होता, बल्कि उनको अपने वश में कर लेता है, वह भी उसी के समान है, ऐसा समझना चाहिये । ४

इधर जालिनी के हृदय में तीव्र कपायों का उदय होने से वह अपने पति ब्रह्मदत्त पर अत्यन्त कुपित थी और सभी कर्तव्य कामों का उसने परित्याग कर दिया तथा अपने पति से कहा कि या तो इसके साथ प्रेम रखो या मेरे साथ । जहाँ तक इसका परित्याग नहीं करते, मैं प्राण निर्वाह करने के योग्य आहार तो दूर-गणी भी ग्रहण नहीं करूँगी ।

माता के द्वारा कहा गया यह कथन शिशिकुमार ने सुन लिया इसलिये उसे बड़ा दुःख हो गया तथा वह घर से निकल पड़ा और उसने विचार किया कि "देखो, मेरे पापों का परिणाम कैसा तुच्छ है कि जन्म देनेवाली माता भी मेरे साथ इस प्रकार का व्यवहार करती है । और माता के इस विपरीत व्यवहार से मेरे कारण से पिताजी को भी दुःख होता है इसलिये अब घर में रहना मेरे लिये उचित नहीं है, ऐसा विचार करके पिता की आज्ञा लिये बिना ही वह नगर से बाहर निकल गया ।

वह धूमता हुआ अशोकवननामक उद्यान में गया, वहाँ उसने अशोक वृक्ष के नीचे, अपने शिष्यों के परिवार में परिवृत्त विजयमिह नामक एक तैजस्वी आचार्य के दर्शन किये । ये आचार्य एक प्रकार का सयम पालन करने में तत्पर, दो प्रकार के अशुभ ध्यान के त्यागी, तीन प्रकार की हिंसा में रहित, चारों कपायों का भजन करनेवाले पाँचों इन्द्रियों को निग्रह करने में अति कुशल, षट् जौवनिकाय के लिये कर्मल,



है। जीव अकेला ही जन्म धारण करता है तथा अकेला ही मरता है और परलोक में भी अकेला ही जाता है। संसार में प्रत्येक प्राणी अपने किये हुए कर्मों का फल खुद ही भोगता है तो फिर यहाँ कौन किसका स्वजन है और कौन किसका परजन (पराया) है। कभी कभी तो गन्ध भी मरकर पिता बन जाता है और इस जन्म का अपना पुत्र भी गन्ध हो जाता है। इस प्रकार के अचल स्वभाववाले तथा परिवर्तनशील संसार में किसी को स्वजन मानकर उस पर आश्रित या मोह रखना अज्ञानता का फल है। ५-९

सुनो—मेरे माथ में जो कुछ घटित हुआ है, वह इस प्रकार है—

इसी विजय में लक्ष्मीतिलकनामक नगर है। वहाँ सागरदत्त नाम का सार्यकाह रहता है और उसकी पत्नी का नाम श्रीमती है। मैं उन दोनों पति-पत्नी का पुत्र हूँ। जब मैं बच्चा था, तब उस नगर के पास में स्थित लक्ष्मी पर्वत नाम के पर्वत पर गया। उस पर्वत के एक कोने में चिकने पत्तों के समूह से युक्त नारियल का पेड़ था जो पृथ्वी के अन्दर काफी गहरा था, उसे मैंने देखा। उस वृक्ष को देखकर मुझे बड़ा फौनुक हुआ और मैंने सोचा कि अहो! आश्चर्य! इतने वृक्षों में से केवल मही एक वृक्ष है जो इस पर्वत के इस कोने से (विभाग से) नीचे उतर कर इसका मूल पृथ्वी में इतना गहरा प्रविष्ट हो गया है? अवश्य इसमें कोई न कोई रहस्य होना चाहिये।

इतने ही में मुझे अचानक असामयिक आनन्दानुभव हुआ। एका-एक मधुर पवन बहने लग गया। पशुगणों ने भी अपना पारस्परिक स्वाभाविक वैरभाव छोड़ दिया और उस लक्ष्मी पर्वत पर संसार की सम्पूर्ण शोभा प्रसारित हो गई। उद्यानों में सभी श्रुतियों में समय-समय पर विकसित होनेवाले सुमन एरुगाय विकसित हो गये। हमारी तरफ पक्षीगण भी अत्यन्त प्रसन्न होने दिखाई दिये। भ्रमर-पतित अत्यन्त मनोहर, रम्य तथा उत्तम शब्द में गुञ्जार करने लगे। जिसकी उष्णता अमल न हो, ऐसा सूर्य उस पर्वत के सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करने के लिए प्रवृत्त हो गया अर्थात् उदित हो गया। यह सब दृश्य देखकर मैंने विचार किया कि सारे संसार के लिए आश्चर्यकारी यह क्या घमकार है?

इसी समय मैंने पश्चिम दिशा में से नीचे उतरा। इस दिशा में  
अजित नाथ तीर्थंकर का धर्मचक्र देखा। वह धर्मचक्र मंडल के ममान तेजस्वी, उत्तम जाति के दिग्गजों के चरणों से मण्डित, जय-जयकार के गलों में झूल रहा था, जिसके इर्द-गिर्द देवता लोग मंगल गान करते हुए घूम रहे थे, और देवसमुदाय से घिरा हुआ तथा मंदारवृक्ष के नीचे बसा था। तत्पश्चात् बहुमूल्य गुण-रत्नों में सज्जित साधु और उनके पीछे की ओर देवताओं के मोगरों के फूलों के समान उज्ज्वल छत्र से आकाश इस प्रकार से व्याप्त हो गया कि सब को बनावे दे रहा हो।

तत्पश्चात् सुसोभित दिव्य मण्डप में मैंने देखा कि वहाँ पर  
इन्द्र खेंबर डोल रहे हैं, देवता, अमर, कालागुरु, श्रेष्ठ लोभान तथा  
रहे हैं, कालागुरु, श्रेष्ठ लोभान तथा रही है, परम सौम्य, सुवर्णमय  
रही है, परम सौम्य, सुवर्णमय दिला हुआ जो भव-समुद्र को पार कर चुके हैं  
नाथ के मैंने दर्शन किए। उनके हुआ, मिथ्यात्वरूपी अन्धकार  
यदने लग गई।

मैंने हृदय में विचार किया कि साक्षात् त्रिलोक चिन्तामणि  
पधारते ही देवताओं ने दिग्गजों की। वह समवसारण मणि  
तीन प्रकारों से परिवेष्टित लटक रहे थे, रत्नमय  
उसके ऊपर की तरफ मधुर गुजार करते हुए रहा था, ऊँचे श्वेत छत्र  
दिव्य बंधन मणिरत्नों से युक्त ध्वज-चक्र से



द्वय में उत्पन्न हुआ और सपें के विष के प्रभाव से तुम भी मरकर, इसी विजय में कृतंगलानामक नगरी में शिवदेव कुलपुत्र की यशोधरानामक पत्नी की कुक्षि में पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए। गर्भकाल समाप्त होने पर तुम्हारा जन्म हुआ तथा तुम्हारा नाम इन्द्रदेव रखा गया। बाद में तुम युवावस्था को प्राप्त हुए।

इधर सिंह के जीव ने पूर्वं जन्म के अभ्यासवाली भावना से एवं शीघ्र सज्ञा (परम्परा) से उस धन को ग्रहण किया। इस प्रकार से काफी समय व्यतीत हो गया।

अन्य किसी समय अपने स्वामी वीरदेव राजा के द्वारा तुम लक्ष्मी निलय के स्वामी मान भंग के पास में भेजे गये। मार्ग में आते हुए कतिपय पुरुषों के परिवारों के साथ काल-क्रम में तुम इस स्थान पर आ गये। तुम नीम के वृक्ष के नीचे बैठ गये। इसी बीच पर्यंत की गुफास्थित सिंह ने तुमको देख लिया। पश्चात् लोभ संज्ञा के कारण विपरीत चित्तवृत्ति के कारण से सिंह ने तुमको मार डाला तथा तुमने सिंह को मार दिया। तुम दोनों मृत्यु को प्राप्त करके इसी विजय में श्रीस्थलनामक पट्टण (नगर या स्थान विशेष) में यशदासनामक चाण्डाल की मातृयशानामक पत्नी के गर्भ में जुड़वा (युगल) भाइयों के रूप में उत्पन्न हुए तथा गर्भ काल की समाप्ति पर तुम दोनों का जन्म हुआ। दोनों के नाम—एक का कालसेन तथा दूसरे का चण्डसेन इस प्रकार से रखे गये। दोनों समयानुसार जीवन को प्राप्त हुए।

तत्पश्चात् दोनों अन्य किसी समय लक्ष्मी पर्यंत पर शिकार के लिये गये और एक सूअर का शिकार कर लिया अर्थात् उसे मार दिया। उस सूअर ने निघान प्रदेश के समीप ही प्राणों का त्याग किया था, अतः वहीं अग्नि प्रज्वलित करके तुम दोनों उसका मांस पका कर खाने लग गये। इनमें अपनी कटार को तीव्री करके निष्प्रयोजन हो पृथ्वी को सोदते हुए चण्डसेन ने उग जमीन में गढ़े हुए धन के खजाने का एक कोना देखा लिया। यद्यपि चण्डसेन धन को दायिम छिपाने की चेष्टा करने लगा लेकिन उसे ऎसा करते हुए तुमने देखा लिया। इस-लिये धन के लोभ में उसने तुम्हारा प्राणान्त कर दिया और तुम मर कर बालुका प्रणानामक नरकभूमि में पाँच जन्मों के आयुवाले

रकी रूप में उत्पन्न हुए। उधर वह चन्द्रमेघ भी धन के लोभ से उस धन को न छोड़ता हुआ कई वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी उस धन। किंचित् भी उपभोग किये बिना अन्य किसी चाण्डाल दुश्मन के हाथ भार दिया गया और मर कर तमः प्रभानामक नारक भूमि में सरह सागरोपम की आयुवाले नारकी के रूप में उत्पन्न हुआ।

तत्पश्चात् तुम नारकी का आयुष्य पूर्ण करके तथा नरक भूमि से शक्ति करके इसी विजय में श्रीमतीनामक किसी छोटी बस्ती में शालिनामक गृहस्थ की बन्दिनीनामक पत्नी की कुक्षि में पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए। कालक्रम से तुम्हारा जन्म हुआ और वहाँ तुम्हारा नाम बालमुन्दर रखा गया। क्रमशः तुम यौवन भाव को प्राप्त हुए।

युवावस्था प्राप्त होने पर शीलदेवनामक मुनिराज के समीप तुमने जो पहिले कभी प्राप्त नहीं किया था, ऐसा जिनेश्वर प्रभु द्वारा प्रणीत धर्म प्राप्त किया अर्थात् उसका ध्वषण किया और धावक धर्म स्वीकार किया। धावक धर्म का परिपालन करके यथा विधि अर्थात् समाधि भावपूर्वक देहत्याग किया और क्षान्तकनामक देवलोक में सरह सागरोपम से कुछ न्यून आयुष्यवाले देवता के रूप में उत्पन्न हुए।

उस देवलोक में दिव्य देवलोकसम्बन्धी भोगों का उपभोग करके आयुष्य समाप्त होने पर वहाँ से च्यव कर फिर इसी विजय में हस्तिनापुरनामक नगर में सुहस्तिनामक नगर सेठ की कान्तिमतिनामक भार्या की कुक्षि में तुम पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए। उधर चन्द्रसेन भी तमः प्रभानामक नारक भूमि से निकलकर हस्तिनापुर नगर में ही तुम्हारे पिता की गृहदासी, जिसका नाम सोमिला या—उमकी कुक्षि में पुत्ररूप से उत्पन्न हुआ। कालक्रम से दोनों का जन्म हुआ। जन्म होने के पश्चात् तुम्हारा नाम समुद्रदत्त तथा दासी पुत्र का नाम मंगलक रखा गया।

समयानुसार तुम दोनों यौवन को प्राप्त हुए। इस बीच अनंगदेव नामक आचार्य वहाँ पधारे और तुमने उनसे जिनेश्वर-प्रणीत धर्म का ध्वषण किया तथा देसविरति (धावक धर्म) का स्वीकार भी कर लिया। पश्चात् लक्ष्मीनिलयदासी अचल सार्यवाह नाम के धावक की सपुत्री, जिनमति के साथ तुम्हारा विवाह हो गया।

किसी समय दासी-पुत्र मांगलिक के साथ तुम निनमति को लाने के निमित्त से लक्ष्मीनिलय को गये। कुछ स्थानों पर रुकते हुए तुम उस स्थान पर आ पहुँचे, जहाँ पर वह धन का भंडार गड़ा हुआ था। वह स्थान वृक्षां, लताओं तथा पत्रादि से सघन था तथा वहाँ की भूमि भी गीली थी, अतः तुम थोड़े समय के लिये विश्राम करने के लिये वहाँ रुक गये। वहाँ तुमने पामाड़ वृक्ष का पादक-मूल-पृथ्वी से बाहर निकलते देखा। उसे देखकर तुमने विस्मय से मंगलक को कहा—अरे मंगलक! इस स्थान में कहीं न कहीं कुछ धन अवश्य होना चाहिये। मंगलक बोला—यदि तुम कहो तो—‘पत्ता लगावें’।

पश्चात् तुमने कहा—रहने दो, मैंने तो भोजक में यों ही कह दिया था, मुझे धन-प्राप्ति का लोभ नहीं है। मंगलक ने उत्तर दिया—तैरे से क्यादा इस बात की उत्तुक्ता तो मुझे है, इसलिये देखें तो सही कि वास्तव में है क्या? यद्यपि मंगलक का यह कार्य तुमको रुचिकर नहीं लग रहा था, फिर भी वह तीक्ष्ण लकड़ी से, जो मजबूत थी, खोदने में व्यस्त हो गया। उसने भूमि को थोड़ी ही खोदी थी कि उसे उस भूमि के छोटे से एकान्त प्रदेश में एक कलश-कण्ठ अर्थात् गले में पहिने की कठियों से भरा हुआ षड़ा दिखाई दिया।

तत्पश्चात् पूर्वकृत कर्म लोभ के कारण से मंगलक ने विचार किया कि “यहाँ तो बहुत मूल्यवान् धन-भण्डार है। इस खजाने को तो स्वामी के पुत्र को धोखा देने से ही प्राप्त किया जा सकता है”। इतने में तुमने भी उस कलश-कण्ठ को देख लिया और मंगलक को कहा—ऐ मित्र मंगलक! इस निकम्मे काम को जाने दो, आओ, अपन तो नगर में चले। तुम्हारी बात को सुनकर यद्यपि धन प्राप्त हो जाने से वह प्रसन्न था, फिर भी उस खोदे हुए खड्डे को पूर कर तुम्हारे साथ जाने के लिये वह तैयार हो गया।

रास्ते में जाते हुए तुमने मंगलक को कहा—मित्र! तुम इस अधिकरणभूत-हिमाजन्म वृत्तान्त को किसी के समक्ष कल्पा मन। वह धोखा-हूँ स्वामि पुत्र! मैं किसी को भी नहीं कहूँगा। लेकिन उसने मन में विचार किया कि ऐसा प्रतीत होता है कि मुझे ज्ञान हुए दिव्य विद्या यह भवेला ही इस निश्चय को दृष्टि लेना है, इसीलिये

इसने मुझे उपरोक्त बात कही है, लेकिन मैं भी इसके द्वारा कैसे ज्ञा जाऊँ ?

मंगलक ने विचार किया कि श्रेष्ठ पुत्र इसी ग्रहण व करे, इसके लिये ही मैं किसी न किसी उपाय से इसे मार डालूँ तो ठीक रहे। ऐसा विचार करने-करते दोनों ही नगर में पहुँच गये। नगर के अन्दर कोई बगोचा था, उसके समीप ही तुम रुक गये तथा तुमने मंगलक को अपने पास में बुलाकर कहा—भाई मंगलक ! तू नगर में जा तथा समुराल के कुछ समाचार प्राप्त करके मुझे कह दे, ताकि बाद में अपने दोनों नगर में प्रवेश करें। स्वामी पुत्र की आज्ञा से मंगलक नगर के लिये रवाना हुआ और जाते जाते विचार करने लगा कि यदि वह नगर में प्रवेश करेगा तो निश्चित रूप से खजाना निकाल लेगा, इसलिये ऐसी कोई युक्ति करूँ, जिससे वह यहाँ प्रवेश न कर सके। मेरे साथ जाते हुए तो यह सुनपूर्वक मारा जा सकेगा, इसलिये उसे समुराल के समाचार इस प्रकार से जाकर कहूँ—जैसे कि—“तेरी पत्नी ने स्त्री-स्वभाव से कुल-परम्परा के विरुद्ध आचरण किया है तथा अन्य किसी पुद्गल के साथ सुखोपभोग कर रही है, इसलिये उसके इस प्रकार के आचरण से तुम्हारा सारा स्वसुर-परिवार अत्यन्त दुःखी हो रहा है और उन्होंने हमारे आने का समाचार भी सुन लिया है, इसलिये तेरे समुरालवाले सबिगोप लज्जित हैं, अतः अब यहाँ प्रवेश करना हमारा उचित नहीं है।”

उपरोक्त विचार मन में पक्का करके उसने नगर में प्रवेश किया तथा थोड़ा समय इधर उधर बिताकर कपट-अन्य वदन्तीनता तथा दुःख का भाव मुँह पर धारण करता हुआ वह तुम्हारे समीप आया। जैसा उसने मन में विचार किया था, वैसा ही आकर तुमको वह दिया। उसके मुख से ऐसे समाचार सुनकर तुम अत्यन्त विरग्न हो गए और तुमने विचार किया कि “इस प्रकार के स्त्री-स्वभाव को धिक्कार है, जो इस प्रकार के भ्रष्ट धारण-कुल में उत्पन्न होकर के भी त्रिनेश्वर भगवान द्वारा प्रणित धर्म का सार जानती हुई भी इस गोर तथा परलोच के विरुद्ध-निन्दास्पद कार्य का आचरण करती है”। अबका मोह शय को मान्य हुए व्यक्ति के लिये कुछ भी करना बर्तन नहीं है। अब भी मुझे गृहस्थाश्रम के धारण करने से क्या लाभ है ? इसलिये

हम तो भय तीर्थंकर भावित साधु धर्म को ग्रहण कर लेंगे। स्नेह वगैरे का इसी प्रकार से अन्त होता है। आदि

आगे तुमने विचार किया कि अब मुझे घर जाने से भी क्या लाभ है, यही से जहाँ आचार्य अनंगदेव हैं, यहाँ चला जाऊँ और वह मंगलक भी यहीं से घर घर चला जाय। इस प्रकार का कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत करके से क्या लाभ है? यह सम्पूर्ण विचार जैसा तुमने मन में चिन्तन किया था, मंगलक को कह सुनाया। मंगलक ने उपरोक्त निश्चय सुनकर सोचा—अरे! यह तो कष्टपूर्ण आचरण से मुझे छानने के लिये तैयार हो गया है, मैं भी इसके द्वारा आसानी से कैसे टगा जाऊँ? कमसे कम इसे इतना तो पहुँच कि भाई—जब तक तुम निर्दिष्ट स्थान पर नहीं पहुँच जाओ, तब तक मैं तुम्हें बीच में कैसे छोड़ दूँ? इस प्रकार से कहने पर यह मेरी बात मान लेगा, फिर इसके साथ मैं कुछ दिन व्यतीत करके इसको अवसर पाकर के मार डालूँगा। इस प्रकार का विचार मन में करके उसने तुमको कहा—और तुमने वापिस प्रत्युत्तर दिया कि मित्र मंगलक! यदि ऐसा ऐसा ही आग्रह है तो तू कहे वैसा ही करे।

हम लोग साथ में रहते हुए किसी साधु से ऐसा पूछ लेंगे कि आचार्य अनंगदेव कहाँ विराजमान हैं, ऐसा तुमने सबसे कहा।

आचार्य पूर्व जन्म का वृत्तान्त बतलाते हुए कह रहे हैं कि—उपरोक्त विचार करके तुम लोग गन्तव्य मार्ग से विपरीत मार्ग की ओर चल दिये। इस प्रकार से कई दिन व्यतीत हो गये। अन्य किसी समय, अति विषम अरण्य के मध्य भाग में 'महा साहस हो रहा है' ऐसा विचार करके जब सूर्य आकाशरूपी सरीवर में डूब गया है, ऐसा समझकर अत्यन्त शुद्ध हृदयवाले, लोभ दोष के कारण से वापिस न फिरनेवाले मंगलक ने, अत्यन्त विश्वस्त हृदयवाले तुम्हारी पीठ में छुरी का पार किया।

इसी समय अनेक साधु मुनिराजों से परिवृत्त आचार्य अनंगदेव सहसा उर्सी वन-प्रदेश में पधार गये और सबसे आगे चलनेवाले मुनियों ने तुमको देख लिया। साधुओं की सामने से आते देखकर भय के कारण से मंगलक छुरी को छोड़कर भाग गया। तुमने कहा कि हा!

यह क्या हो गया ? क्या वहीं से घोर आग है ?  
घोर नजर वाली तो तुमने देखा कि अबमान् घट्ट-घट्ट  
हुआ मंगलक भागता जाता रहा है, उसे देखते ही  
लिया कि अन्य कोई घोर दिताई नहीं देता है, यह भी  
जो भाग रहा है, वो यह सब क्या है ?

इतना विचार करते ही धून से भरी हुई छुरी  
तुमने उस छुरी को हाथ में ली तथा तत्काल पहिचान की।  
विचार किया कि क्या यह भव मंगलक की कगमाल है ?  
इस प्रकार का जगन्मय कार्य करे, ऐसा कोई पात्र  
देखें, मैं मंगलक को बुलाऊँ, वही इस सम्पूर्ण  
विचार करके तुमने मंगलक को बुलाया, जो  
हो, वैसे वैसे वह ज्यादा जोर से भगने लगा।  
इस बात का पक्का निश्चय हो गया कि  
उसीने किया है। हाथ ! अफसोस है कि  
और यदि उसीने किया है तो इसने यह कार्य  
गहराई से विचार करते हुए तुम्हें उस  
का स्मरण हो आया। उसका स्मरण  
बसोभूत होनेवाले पुरुषों के लिये वास्तविक  
नहीं होता है, इसलिये लगता है कि  
सम्बन्ध में जो कुछ कहा था, वह  
चाहिये। यदि कल्पित न हो तो  
के प्रवचन के सार को सुन्दर  
प्रकार के अनाचार का, जो  
हो, कैसे सेवन कर सकती है ?

इतने में वे सभी साधु  
तुमको पहिचान दिया, तुमने  
ने 'धर्मलाभ' के शब्दों में  
लोगों ने तुम्हें पूछा कि  
इसका क्या कारण है ?  
सुनाया। वस्तुतः मुक्त

तो  
। मैं  
उत्पन्न  
मी समय  
राष्ट्रवर्धन  
उसी धनवाले  
के संस्कार के  
चातु लोभ के  
जाना भी  
जाना

इतने में आचार्य अनंगदेव ने भी तुम्हारे देन लिया, तुमने भी उनको यन्त्रना-नमस्कार लिया और उन्होंने 'धर्मनाम' के सन्नों में तुम्हारा अभिनन्दन किया।

आचार्यदेव ने समानार पूछे और तुमने गय समानार कह दिये। पश्चात् गुरुदेव ने तुम्हको अनेक प्रकार से आश्चर्यत किया। पश्चात् तुम साधुओं के गच्छ के माथ निकले और थानेदारनामा एक छोटे गाँव में पहुँचे। वहाँ आचार्य अनंगदेव अपने शिष्य-परिवार के साथ एक माम तक रुके और इधर दाने, दाने तुम्हारा झुरी का घाय भी ठीक हो गया और जिनमतिसम्बन्धी यथार्थ समाचार भी तुम्हें ज्ञात हो गये।

जिनमतिसम्बन्धी वास्तविक समाचार सुनकर तुम्हें विचार आया कि अहो ! मगत्य की उमने की विद्या कौसी है, अहो ! मोह की ऐसी विचित्रता ? और संसार इतना निरूपयोगी तथा त्याज्य है ? इसलिये यद्यपि जिनमति अत्यन्त शीलवती (पतिव्रता) है, फिर भी अब मुझे गृहस्थाश्रम से क्या प्रयोजन ? अब तो दोनों लोको के लिये लाभ-दायक, ऐसे इष्ट कार्य (धर्म) की साधना करना ही मेरे लिये श्रेयस्कर है। उसने भी जिन-प्रणीत धर्म का सार अच्छी तरह से समझ रखा है, अतः वह भी मेरे कार्य का अनुसरण ही करेगी और मेरे अनुरूप विचार वाली ही है।

ऐसा करने पर वह बेचारी जिनमति भी इस दुःखपूर्ण संसार-सागर से पार लग जायेगी। अब अदीक्षित अवस्था में उसके दर्शन करने से भी क्या लाभ ? क्यों कि चारित्र्य प्राप्ति में अनेकों विघ्न आते हैं। (यदि जिनमति को पहिले ज्ञात हो गया तो शायद दीक्षा न लेने देवे) वास्तव में संयम ही वास्तविक सुख का देनेवाला है, ऐसा विचार करके तुमने अनंगदेव आचार्य के समीप ही दीक्षा धारण कर ली।

दीक्षा धारण किये को काफी समय व्यतीत हो गया। तुम्हारे दीक्षा धारण करने का वृत्तान्त जिनमति को भी कहो गे प्राप्त हो गया और पश्चात् उसे भी वैराग्य भाव जागृत हो गया। उसने विचार किया कि-पनिदेव (आर्यपुत्र) ने अच्छा किया, यस्तुतः यह संसार अनेक कष्टों से परिपूर्ण है और संयोगों का ही होता है

एवं विषय भोगों का परिणाम महान् भयंकर होता है और इस मनुष्य भव में जिनमन की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है तथा धर्म ही उभयलोक में सुभावह है। इस प्रकार का वैराग्यपूर्ण विचार करने के पश्चात् उसने अपने माता पिता को समझाया और उनसे दीक्षा की आज्ञा प्राप्त की, तथा उस स्थान को खोजते खोजते आ पहुँची जहाँ तुम थे।

उसने आते ही तुमको देखा, तुम्हें मोक्षपुरी के लिये तैयार ऐसी अवस्था में देखकर वह मोली-आर्यपुत्र ! आपने बहुत अच्छा किया। आपने मोहस्त्री लता को मृष्ट कर दिया और महान् पुरुषों के मार्ग का अवलम्बन लिया एवं आपने अपने साथ साथ मेरा भी इस ससार से उद्धार कर दिया। इस प्रकार से अपने पति के कार्यों का अभिनन्दन करके उसने भी अनन्तदेव गुरु के समीप ही दीक्षा धारण कर ली।

इस प्रकार से तुम दोनों को संयम पाण्डते हुए काफी समय व्यतीत हो गया और विशुद्ध सधम का पालन करके काल-क्रम से तुम मृत्यु की प्राप्ति करके पञ्चीस सागरोपम की आयुवाले ग्रैवेपक देवता के रूप में उत्पन्न हुए और उधर वह मंगलक भी जाकर उस निधानवर्ती धन की ग्रहण करके, मोटी मोटी शिलाओं से उसे आच्छादित करके, उस पर अत्यन्त ममत्व का भाव रखता हुआ वही रहने लगा तथा मांसाहार करते हुए अत्यन्त कष्टपूर्वक जीविका चलाता था। वह सोपायु जीवित रहकर और कालक्रम से मृत्यु प्राप्त करके बावीस सागरोपम के आयु-वाली तम-प्रभानामक नरक भूमि में नारक के रूप में उत्पन्न हुआ।

तत्पश्चात् अत्यन्त कष्टपूर्वक तम प्रभा नरक भूमि के आयु को पूर्ण करके वह मंगलक, इसी विनय में राष्ट्रवर्धनकनामक गाँव में बैल्लिनकनामक चाण्डाल के घर में बकरे (बोकड़ा) के रूप में उत्पन्न हुआ। वह बकरा काफी बड़ा (जवान) हो गया। अन्य किसी समय अनेक बकरों के साथ में उस बड़े बकरों को भी वह चाण्डाल राष्ट्रवर्धन से जयस्थल की तरफ ले जा रहा था और जाने जाते उसी धनवाले स्थान पर पहुँच गया। उस स्थान को देखकर पूर्व जन्म के संस्कार के कारण से उसे जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। तत्पश्चात् श्लेष्म के कारण से आकर्षित वह बकरा उस स्थान से अन्यत्र कहीं जाना भी नहीं चाहता था। चाण्डाल बार बार उसे अन्य स्थान पर ले जाना चाहता



धा, लेकिन वह यागिनी नहीं आ जाता था। नागागण उमने इस घन-  
हार से अत्यन्त क्रोधित हुआ तथा उमने उमे मार डाला। वह मरकर  
उमी निधान के गभीर चूहे के रंग में उपाग्र हुआ। उम चूहे ने ओम  
राजा से—अनुपयोगपूर्वक, उम घन पर ममता भार रखना शुरू किया  
और इस ममत्व भाव की काफी समय तक बनाये रखा।

अन्य किसी समय सोमवर्णनामक द्यूताचार्य-जुआरियों का राजा  
पूमता हुआ उम स्थान पर आ पहुँचा और क्षालयूष के गभीर बँड  
गया। सोमचण्ड को यहाँ बँड हुआ देखकर अज्ञान तथा मोम के कारण  
से मानों क्रोधित हो रहा हो, इस प्रकार से उसके सामने चूहे ने प्रद-  
क्षिणा करना शुरू कर दिया, यह देखकर सोमचण्ड ने चूहे को मार  
डाला। भर कर यह उसी जुआरी की बिना नाक-कानवाली दुर्गुलिका  
नामक पत्नी की कुक्षि में पुत्ररूप से उत्पन्न हुआ। गर्भकाल समाप्त  
होने पर उसका जन्म हुआ और यहाँ उसका नाम हृद्रचण्ड रखा गया।  
दानैः दानैः हृद्रचण्ड, अनेक व्यक्तियों के लिये क्लेशदायक विष यूष की  
भाँति यौवन को प्राप्त हुआ और असमंजस-विषय व्यवहार करने लगा।

अन्यदा कदाचित् किसी के घर पर संध लगाता हुआ वह पकड़ा  
गया। लोग उसे समरभागुरनामक राजा के पास ले गये। राजा ने  
उसे मार डालने की आज्ञा दी। राजाशा का पालन करनेवाले—कोतवाल  
आदि लोगों ने उसे शूली पर चढ़ा कर चीर डाला। वह हृद्रचण्ड वहाँ  
से मृत्यु को प्राप्त करके शर्कराप्रभानामक नरकभूमि में कुछ कम तीन  
सागरोपम की आयुवाले नारक के रूप में उत्पन्न हुआ। वहाँ उपरोक्त  
आयु को भोगकर मृत्यु को प्राप्त होकर वहाँ से उद्वर्तन करके इसी  
विजय में और इसी लक्ष्मीनिलयनामक नगर में असोकदत्त श्रेष्ठ की  
शुभंकरानामक पत्नी की कुक्षि में स्त्रीरूप में उत्पन्न हुआ। यथाकाल  
उसका जन्म हुआ तथा उसका नाम श्रीदेवी रखा गया। वह श्रीदेवी  
यथा समय यौवन को प्राप्त हुई तब उसका विवाह सागरदत्त सार्यवाह  
के पुत्र समुद्रदत्त के साथ कर दिया गया। वे दोनों पतिपत्नी सुखपूर्वक  
सांसारिक सुखों का उपभोग करने लगे।

इसी समय तुम ग्रैवेयक देवलोक में से च्यव करके श्रीदेवी की  
कुक्षि में पुत्ररूप से उत्पन्न हुए। कालक्रम से तुम्हारा जन्म हुआ और

## हिन्दी अनुवाद (तृतीय भव)

तुम्हारा नाम सागरदत्त रखा गया। तुम युवावस्था को प्राप्त हुए। पञ्चान् देवार्मानामक आचार्य से प्रतिबोध प्राप्त किया और ईश्वर-सन्देशनामक थाकक की नन्दिनीनामक पुत्री के साथ तुम्हारी शादी कर दी गई। अनेक प्रकार के सुखों का अनुभव करते हुए तुम्हारे पुत्र हुआ।

अब किसी समय तुम पुत्र-जन्मोत्सव के निमित्त से सपरिवार इसी निधानवाले स्थान की किसी घाटिका में आये। पुत्र की नाल (पुत्रध्वज) को गाड़ने के लिये तुम एक खड्डा खोद रहे थे, इतने में उस निधान-कलश के छोर के एक भाग को तुमने देख लिया। उस समय तो पुत्र की नाल को तुमने अग्न्यन स्थापित कर दिया और उस स्थान को उस समय यों ही एक समान कर दिया और भोजनादि करके नगर में प्रवेश किया। तुमने विचार किया कि इस सम्बन्ध में अब क्या करना चाहिये, मैं अपनी माता से प्रथम परामर्श कर लूँ ?

ऐसा विचार करके सारी घटना तुमने माता को कह सुनाई और पूछा कि क्या करना उचित है ? माता बोली—पहिले मुझे वह स्थान बतला दे, फिर उसे देखकर जो कुछ करना उचित होगा, मैं बतला दूँगी। तुमने माता की आज्ञानुसार वह स्थान माता को बतला दिया। भ्रजान तथा लोभ-वृत्ति के कारण मैं उसने विचार किया कि मैं इस पुत्र को ही मार डालूँ बाद में मैं अकेली ही इसे ग्रहण कर लूँगी। ऐसा मन में विचार करके उमने तुमको कहा—पुत्र ! यह धन बहुत ज्यादा है, यदि हम इसे निकाल कर घर पर ले जायेंगे और राजा को विदित हो जायेगा तो वही वह नायक इसके साथ अपना धन भी अपहरण न कर ले, इसलिये इसे अभी ग्रहण करने से कोई लाभ नहीं। कोई मौका देख कर इसे ले जायेंगे। माता के इस उत्तर को सुनकर तुमने कहा—‘जैसी माता की आज्ञा’।

ऐसा कह कर तुम दोनों माता-पुत्र नगर में चले गये। इनके बाद तुम्हारे कई मारे दिन सुखपूर्वक व्यतीत हुए लेकिन तुम्हारी माता के पूर्व जन्म के पुंस्कार तथा लोभ-वृत्ति के कारण मैं, वह तुमको मारने का उपाय सोचने में ही मग्न चिन्ताग्रस्त रहती थी, इस कारण मैं उमारा समय दुःखपूर्वक व्यतीत हो हुआ। धीरे धीरे उमने तुमको मारने का उपाय इस प्रकार से सोचा कि जब यह पौषपुत्र उदयान करे,

तब पाशना करने समय भोजन में इसे विष दे दूँ क्योंकि उपवास करने में हलके शरीरवाले को विष का असर जल्दी होता है, ऐसा सोचकर उसने तुमको विष बे दिया और विष तुम्हारे शरीर में व्याप्त हो गया।

यह सब हा-ठ तुम्हारी पत्नी नन्दिनी ने देख लिया और जोर से शोर किया। उसके शोर करने पर तुम्हारी माता उससे ज्यादा जोर से रुदन तथा विलाप करने लगी। यह सब सुनकर लोगों की भीड़ वहाँ जमा हो गई तत्पश्चात् एक सिद्ध पुत्र ने अर्थात् जिसे मन्त्र-विद्या सिद्ध थी, उसने विष को दूर करने की मन्त्र-शक्ति से, यह मेरा 'साधर्मिक'-सहधर्मि है, ऐसा विचार करके तुम्हें जीवित कर दिया, अर्थात् तुम्हारी जीवन-रक्षा की।

यह स्थिति देखकर तुम्हें ऐसा विचार उत्पन्न हुआ कि यह समार अनेक उपद्रवों का उत्पत्ति स्थान तथा यहाँ मनुष्यों का जीवन बड़ा कष्टमय है, इसलिये अब ज्यादा समय गृहवाम में रहने से क्या लाभ? कहीं प्रमाद के कारण से फिर कभी इस प्रकार से प्राणों का नाश न हो जाय, इस आशका से तुमने दीक्षा लेने का विचार किया और ऐसा विचार किया और ऐसा विचार करके देवदामा गृह के समीप तुमने दीक्षा स्वीकार कर ली। विशुद्ध रीति से समय का गान्धन करके, आयुष्य पूर्ण करके तीम मागरोपम की आयुवाले योग्यक देवता के रूप में तुम उत्पन्न हुए और तुम्हारी यह माता उस धन के गान में आहूट होकर वहाँ अपने हाथ में शिखरिका में पीठिया (चबूतरा) बनाकर पुत्र का वध करने का परिणाम में उत्पन्न नरकाम का वध कर उस धन का उपभोग किया बिना ही मरकर धूम प्रदानामक नरक भूमि में पन्द्रह मागरोपम की आयुवाले नास्तिक के रूप में उत्पन्न हुई। वहाँ में निकलकर अनेक नियम यानिया में परिधमण करके पूर्ण जन्म के अभ्यागवाले लाभ दाप के कारण में वहाँ पर नाशिल के शास्त्र के रूप में उत्पन्न हुई। तुम योग्यक देवलोक का आयुष्य पूर्ण करके मागरोपम में की श्रीमनीनामक पत्नी की कुक्षि में पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए हो। इस समय तुम होना की यह स्थिति है और यहाँ इस विषय का पूर्ण वृत्तान्त है।

आचार्य के श्रियुग से उत्तरोत्तर गण्युगे वृत्तान्त गुणार मुने

## हिन्दी अनुवाद (पृतीय भाग)

वैराग्य भाव उत्पन्न हो गया और गमारूपी जेतमाने से मेरा मन विरक्त हो गया। आचार्य भगवान के समक्ष उम राजा के पास से उस द्रव्य को लेकर और पुण्य कार्यों में उमका व्यय करने की आज्ञा प्राप्त की, राजा ने वैसी आज्ञा दे दी। तत्पश्चात् उम धन को निधान स्थान में निकाल कर गनी दु गी प्राणियों को प्रदान करके विजयधर्म गणघर के गनीष में दे दीक्षा ग्रहण कर ली।

नितिबुमार ने कहा—भगवन् ! जैसा आप कहते हैं, वही सत्य है। वास्तव में गमार ऐसा ही है। आप धन्य हैं, जो इस प्रकार से आपने दीक्षा ग्रहण कर ली है। अब मैं आपसे पूछना चाहती हूँ कि भगवान दानादि भेदवाला जो धर्म फरमाया है, वह कितने प्रकार का है ? आचार्य भगवान बोले—गुनो—

विविध प्रकार की भावनाओं से युक्त धर्म चार प्रकार का है—दान, दाल, तप तथा भावना। देवता लोग तथा नरेन्द्र भी जिनको नमस्कार करते हैं, ऐसे जिनेश्वरों ने उपरोक्त धर्म कहा है। दान तीन प्रकार का होता है—ज्ञानदान, अमयदान, तथा धर्म में उपकार करनेवाले तथा धर्म में सहायक पदार्थ का दान। इन तीनों में से प्रथम ज्ञानदान का कथन संक्षेप से करता हूँ।

ज्ञानदान—जिस दान के देने से जीव बन्ध तथा मोक्ष का ज्ञात बनता है और मोक्ष के स्वरूपी सम्पत्ति के लिए जो बीजभूत—मूल कारण होता है, वह ज्ञानदान कहलाता है। उस ज्ञानदान के देने से समग्र पुण्य तथा पाप के स्वरूप को, पाप से निवृत्ति तथा पुण्य में प्रवृत्ति करने को सम्यक् प्रकार से जानकर पुण्य में प्रवृत्त होता हुआ शीघ्र ही मनुष्यलोक तथा देवलोक के सुखों को प्राप्त कर लेता है और मरक तथा तिर्यंच योनिसम्बन्धी दुखों से मुक्त हो जाता है।

तिर्यंच योनी, मनुष्य योनी, असुर तथा सुरों का जो सुख होता है, वह सब प्रयत्नपूर्वक ज्ञान-दान देने से प्राप्त होता है। इसके सिवाय विशाल-मोक्ष का सुख भी परम्परा से ज्ञान-दान से प्राप्त किया जा सकता है। हे सुन्दर ! जिस निर्मल ज्ञान से ऐसा मोक्ष का सुख प्राप्त किया जा सकता है एवं इस लोक में तथा परलोक में जिस ज्ञान का दान देने से जीव सुख प्राप्त करता है, वह श्रेष्ठ दान है।

जो सर्वत्र भावित ऐसे उत्तम ज्ञान का स्पष्ट दान करता है, वह सभी जीवों को इस लोभमयन्धी तथा परलोभमयन्धी सभी भुक्तों का दान करता है, ऐसा समझना चाहिये । ज्ञान-दान करने से जोर अनुक्रम से यीतराग तथा बाद में सर्वत्र हो जाता है, इसी प्रकार मनुष्यों, अमुरों तथा देवों के द्वारा पूजित होकर यह क्रम से मित्रों को भी प्राप्त करता है । हे मुन्दर ! इस प्रकार मे मंशेप में ज्ञान-दान का स्वरूप कहा गया है, जो दान दाता के लिये तथा ग्रहण करने के लिये एकान्त रूप में हितकारक जानना चाहिये ।

अभयदान-पृथ्वी, पानी, अग्नि, पवन तथा वनस्पति कामिक जीवों की चेष्टन्द्रिय, तेष्टन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय जीवों की मन, पचन तथा काया के योग से हिता न करना अभयदान कहलाता है, ऐसे श्रेष्ठ अभयदान का आचरण साधु जन कर सकते हैं । संसार के सभी प्राणी दुःख से परिपूर्ण होते हुए भी जीवित रहना चाहते हैं, इसलिये जीवदया में कुशल व्यक्ति को, उन प्राणियों को जो प्रिय हो, वही करना चाहिये । जैसे कोई राजा के समक्ष अकस्मात् मरण का प्रसंग उपस्थित हो जावे तो यह जीवित रहने के लिये अपने राज्य का भी त्याग करके जीवित रहना पसन्द करता है, क्योंकि उसे जीवन ही इष्ट है, इसलिये बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिये कि अभयदान की आवश्यकता हो उस प्राणी को प्राण-दान दे, परलोक में सुख की इच्छा रखनेवाले प्राणी को अभयदान ही देना चाहिए ।

अभयदान देने से जीव जन्मान्तर में दीर्घायु, स्वरूपवान् तथा नीरोग होता है तथा सकल लोक के द्वारा प्रशंसित होता है । हे धावक ! दुर्जय अष्ट कर्मों का निदलन करनेवाले, देवताओं तथा नरेश्वरों के द्वारा वन्दित जिनेश्वरों ने अभयदान का उपरोक्त स्वरूप बतलाया है ।

धर्मोपग्रहदान-पाँच महाव्रतधारी, रात्रि भोजन के त्यागो ऐसे संतमी पुरुषों को नवकोटि विमुक्त तथा समय-धर्म के अनुरूप (अविद्वत्) द्रव्य का जो दान दिया जाता है वह दान धर्मोपग्रह अर्थात् धर्म-पालन करने में सहायक दान कहलाता है ।

बुद्धिमान् व्यक्ति माधु को समुचित, अन्न-आहार, वस्त्र,



इस प्रकार का उत्तम नील धर्म जिन्होंने दुर्जय राग-द्वेष के ऊपर विनम्र प्राप्त कर ली है, ऐसे श्रेष्ठ गुण स्वरूप जिनेश्वरों ने, हे श्रावक ! प्रतिपादित किया है ।

तपोधर्म—अब तपोधर्म का कथन किया जाता है, वह आभ्यन्तर तथा बाह्य के भेद से दो प्रकार का है तथा सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करने के उद्देश्य से किया जाता है, जिसका विस्तृत स्वरूप निम्न प्रकार है—  
बाह्यतप छः प्रकार का होता है—अनशन, ऊनोदरिका, मृत्ति संश्लेष, रस त्याग, कायबलेन व संलीनता । इसी प्रकार से आभ्यन्तर तप भी छः प्रकार का होता है—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान तथा उत्सर्ग ।

उपरोक्त तप की आराधना करके जीव ऐहलौकिक तथा पारलौकिक विशाल सुखों को प्राप्त करते हैं तथा सांसारिक दुखों का क्षय करते हैं । इस प्रकार से तपोधर्म का संक्षेप से कथन किया गया ।

भावना धर्म—हे श्रावक ! तपोमय धर्म के वर्णन के पश्चात् अब भावना-धर्म का स्वरूप सुनो, जो निम्न प्रकार है—

सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य के प्रति सम्यक् श्रद्धारूप भावना धारण करना, वैराग्य भाव में स्थित होना, तीर्थंकरों की भक्ति करना, संसार से घृणा करना, काम-वासनाओं से विरक्ति रखना, तीर्थंकरमापित धर्म की नित्य प्रभावना करना, मोक्ष के सुख में राग रखना, अनायतनों का वर्जन करना, अपने आत्मा की सदा निन्दा करना, कहीं किंचिन्मात्र भी स्वरचना हुई हो तो गुह साक्षी से उसकी गद्दी व पदचाप्ताप करना भावनाधर्म कहलाता है । भयंकर संसाररूपी अरण्य को जलाने के लिये दावानल के समान उपरोक्त भावना-धर्म का अनन्त ज्ञानी जिनेश्वरों ने निरूपण किया है ।

हे सुन्दर ! इस प्रकार से जिनेश्वरों द्वारा उपदिष्ट उपरोक्त चार प्रकार के धर्म का स्पर्श करके—आराधना करके अनन्त जीव दासवत् सुखवाले मोक्ष को प्राप्त हुए हैं । १०-७०

१ अनायतन—वेद्या, जूआरी, अरसनी, चोर तथा मनुष्य आदि के रहने के स्थान तथा पतित साधुओं के रहने के स्थान को अनायतन कहते हैं ।  
बन्त, मनुष्य तथा वास्थि व आपार से सम्पन्न ।  
इलाता है ।

इस प्रकार मे दान, शील, तप तथा भावनामय जैन धर्म का पवित्र ज्ञान प्राप्त करके विश्विकुमार की सम्मकरव प्रकट हो गया और वह बोला—भगवन् ! धर्म का स्वरूप, जैसा आपने कहा, वैसा ही है, इसमें किसी प्रकार का कोई सन्देह नहीं है, लेकिन दान-भय धर्म को छोड़कर शेष धर्मों का आपरण गृहस्थ के द्वारा पूर्ण रीति से किया जाना समभव नहीं है, इसलिये हे प्रभो ! कृपा करके कहिये कि किस प्रकार का पुण्य, महापुण्यों के द्वारा भक्ति, सम्पूर्ण दुःखहारी अग्नि को प्राप्त करने के लिये नीतल जल के समान, निःशुद्धी पथ के मार्ग संगम करने के एकमात्र कारणभूत धर्मधर्म के लिये योग्य कहा जा सकता है ?

आचार्यदेव ने कहा—धर्मधर्म के लिये योग्य वह होता है जो आचार्यदेव में उत्पन्न हुआ हो, विनिष्ट जाति या कुलवाला हो, जिसने ब्रह्म की मत्त की शीघ्रप्राप्त कर दिया हो, अत्यन्त निर्मल बुद्धिवाला हो, इसके साथ साथ जिसने संसार के स्वरूप की सारी चीजें समझ लिये हो, जैसे कि—“मनुष्यत्व प्राप्त करना दुर्लभ है, संसार में जन्म प्राप्त करना ही मृत्यु का निमित्त है, सामाजिक सम्पत्तिही अस्मिन्-संसार है, काम-धर्म एकमात्र दुःखों के कारण है, जहाँ सुयोग है, वही वियोग है, प्रीति-गमय प्राप्ति की मृत्यु की प्राप्ति होती रहती है (आसी-विमल)”, वगैरह का फल अज्ञान बड़ी होता है” । इस प्रकार मे संसार के स्वरूप की ज्ञान लेने के पदार्थ जिसे वैराग्य भाव उत्पन्न हो जावे, जिसे ब्रह्म की पाने (धीन) कर लिये हों, जो जन्म जन्मवाला हो, बुद्धिमान हो, विद्वान् हो, विनीत हो, धर्मधर्म प्राप्त करने के लक्ष्य में ही जाय, सारी आदि सामाजिक चीजों के लिये संसार का त्याग हो किसी में हो ऐसे स्वरूप गृही समझ हो, सुखर अन्तर्भाव हो, धर्मधर्म हो, धर्मधर्म हो, धर्मधर्म हो, धर्मधर्म के लिये योग्य हो सकता है ।

वह पुनः विश्विकुमार बोला—भगवन् ! धर्मधर्म की शक्ति के लिये योग्य कौन सा धर्म है ? के कारण हुआ है । इस धर्म धर्म धर्म के लिये योग्य कौन सा धर्म है । यह धर्म धर्म के लिये योग्य है ।



आचार्य भगवान ने विचार किया कि—यह महा मायशाली मूढ़ प्रश्नों को करने में अत्यन्त विचक्षण है, अत्यन्त प्रधानरूपवाला है, चातुर्यपूर्ण वाक्कला में भी निपुण दिखलाई देता है, इसलिये अवश्य ही यह किसी बड़े कुल में उत्पन्न हुआ तथा जन्म में ही विरक्त भाव में युक्त होना चाहिए। ऐसा मालूम होता है कि इसे ग्रहण करने का यह उचित समय है, इसलिए इसे ग्रहण कर लेना चाहिए। ऐसा विचार कर आचार्य भगवान बोले—हं महाश्रावक ! उपरोक्त गुणों के सिवाय अन्य भी कुछ गुण हैं, जिनसे हीन (रहित) व्यक्ति श्रमणत्व के लिए अर्पित नहीं हो सकता है। यो तो स्वभाव से निर्गुण (असार) इस संसार में श्रमन्व ही एकमात्र सार है लेकिन यह श्रमणत्व अत्यन्त दुष्कर है।

द्रव्य श्रमणत्व में प्रतिक्षण धनु तथा मित्र के समभाज धारण करना, प्रागतिपात का त्याग करना, अप्रमत्त भाव से मन्थ भाषण करना, दन्त साफ करने की 'छांवरणी' जैसी सलाई भी बिना दिए ग्रहण न करना, मन, वचन तथा काया में ब्रह्मचर्य का पालन करना, बन्ध, पात्र तथा धार्मिक उपकरणों के साथ भी नियममन्त्र भाव रखना, चारों प्रकार के आहार का ( अघन, पान, खादिम तथा स्वादिम ) रात्रि में खाने का त्याग करना, उद्गम, उत्पादना आदि एषणा समिति में विगुड आहार का ग्रहण करना, मयोजनादि भाण्डों पाँच दोरों में रहित तथा प्रमाणोपेन आहार नियमित समय पर करना, पाँच समिति तथा तीन मुष्टियों का दूटना में पालन करना, ईर्ष्यामिनिपूर्वक बरह भारनाशों की भाराधना करना, अनशन, प्रायश्चित्त तथा विनयादि बाल तथा आध्य-सर तपों का जो विधान शास्त्रों में है, उक्तता मचन करना, माणिक प्रतिमादि अनेक प्रतिमाओं का यथानिधि धारण करना, अनेक प्रकार के द्रव्यों का बड़ीय अभिग्रह धारण करना, जीवतपयेन स्नान नहीं करना, भूमि पर सोना, बेजटोव करना, शरीर मन्दिर की दृष्टि में निरपेक्ष रहना, महा सर्वदा आचार्य का मुख की आज्ञा का पालन करना, धात्रा, तिलामादि अनेक प्रकार के परीयहों की मयभोज में मन्थ करना, देवनादि-वन्द्य स्थि उपगणों पर भी विविध प्रणम करना, मयवी जीवत के निर्दिष्ट के लिए कोई वस्तु मिटे या न भी मिटे तो भी उसे धारण करना, (आदि अनेक प्रकार का साधु धर्म है.) विनये क्या ?

## हिन्दी अनुवाद (तृतीय भव)

अत्यन्त कष्टपूर्वक जो धारणा किया जा सकता है, ऐसे शील को जिन महापुरुषों ने वीरतापूर्वक धारण किया है, उस शील के अठारह हजार (शीलांगो) अंगों का भार अविश्रान्त रूप से धारण करने के समान यह ध्रमणत्व है। यह ध्रमणत्व दोनों हाथों से महासमुद्र को निरने के समान, बिना स्वादवाली बालुका के घास खाने के समान, तीक्ष्ण धारवाली तलवार पर चलने के समान, भयकर जलती हुई अग्नि-मिश्रा का पान करने के समान, सूक्ष्म पवन से कुशूल (धंसी) को भरने के समान, गंगा के तीव्र प्रवाह के विपरीत चलने के समान, तराजू में भेद पर्वत को तोलने के समान, एकाकी (अकेले) हो चतुरगिणी सेना पर विजय प्राप्त करने के समान, विपरीत दिशाओं में भ्रमण करती हुई पुतली को आठ चक्रों के बीच से याग से बिछ करने के समान तथा अपूर्व त्रिभुवन पताका ऊपर विजय प्राप्त करने के समान यह ध्रमणत्व है। इस प्रकार से उपरोक्त उपमाओं से साम्य रखता हुआ यह ध्रमणत्व अत्यन्त दुष्कर है।

ध्रमणधर्म का अनेक उपमाओं में युक्त उपरोक्त विषाद विवेचन सुनकर प्रसन्न मुखकमलवाले शिखि कुमार ने कहा—भगवन् आपका कथन सर्वथा सत्य है, लेकिन जिसने ससार के स्वरूप को जान लिया है तथा उसे छोड़ने के लिये जो कटिबद्ध (तत्पर) हो गया है, उसके ससार का उच्छेद करना कठिन नहीं है ?

आचार्य भगवान् बोले—तुम्हारा कथन ठीक है, किन्तु संसार का स्वरूप प्रत्यक्ष रूप से सराव समझते हुए भी पूर्व के अनेक भवों के अभ्यास से जीव धापिग मोह-भाव को प्राप्त हो जाता है, उग समय मोहान्ध प्राणी उसके स्वरूप का चिन्तन नहीं करता है, भविष्य के परिणाम की भी परवाह नहीं करता है, दूरियों के उपदेश को मानता नहीं है, गुरु का अभिनन्दन नहीं करता है, अपने कुल का भी विचार नहीं करता है, धर्म की आराधना नहीं करता है, अपकीर्ति में डरता नहीं है, लोकनिन्दा की (लोवापसाद) रत्ता नहीं करता है, सदा बंधा ही आचरण करता है, जिससे इहलोक तथा परलोक में बन्धन का पात्र होता है। इसलिये इस मोह का ही नाश करना चाहिये।

शिखि कुमार बोला—भगवन् ! उसको नष्ट करने का यह

मात्र उपाय है, जो पुण्य कार्य का आरंभ नहीं करता है वह फल भी प्राप्त नहीं कर सकता है, और यदि आरंभ कर देता है तो भी फल-प्राप्ति में सन्देह हो जाता है, अथवा कार्य में प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्त होने वाला व्यक्ति निःसंतप्य रूप से कार्य में गिरि प्राप्त कर लेता है। और कार्य में प्रवृत्ति (उपाय) यही है कि आपत्ती के चरणों में श्रमणत्व का अंगीकार। कभी कभी कायर पुरुष भी जहाज तथा जहाज चालक (कप्तान) के प्रभाव से संसाररूपी समुद्र को सम्पूर्ण रूप से तैर जाते हैं। अल्प पुण्यवालों को दम प्रकार की कल्याण बुद्धि जागृत नहीं होती है और कदाचित् कल्याण बुद्धि प्रकट हो भी जाय तो भी ऐसे सम्पूर्ण गुणरूपी सम्पत्तियों से परिपूर्ण मनुष्य की प्राप्ति होनी दुष्कर है, इसलिये है गुरुवर्य ! कृपा कर मेरे ऊपर अनुग्रह कीजिये। आचार्य श्री बोले- वत्स ! मैंने तो तुम्हारे ऊपर अनुग्रह कर दिया है, लेकिन यह हमारी शास्त्रीय मर्यादा है कि हम नये व्यक्ति को थोड़ा शास्त्रीय अर्थ का कथन करके, आवश्यक सूत्र की शिक्षा देकर के तथा कुछ दिन अपने पास रख करके, इस प्रकार से कुछ दिन व्यतीत हो जाने पर फिर दीक्षा देते हैं।

शितिकुमार बोला-भगवन् ! मैं इतार्थ हो गया है, आपने बड़ी कृपा की है। अब मैं संसार से निकल कर दीक्षा लेने ही वाला हूँ, तो मुझे शास्त्र-मर्मदा का पालन अवश्य करना ही चाहिये। इसलिये यही किया जाय।

इस प्रकार से आचार्य श्री तथा शितिकुमार परस्पर मन्त्रणा कर ही रहे थे कि इतने में शितिकुमार के वैराग्यादि की प्रवृत्ति के समाचार वहीं से सुनकर अनेक लोगों से परिवृत्त, हृदिनी पर आहूत उसके पिता ब्रह्मदत्त वहाँ आ गये। उन्होंने आकर किजयसिंह आचार्य को नमस्कार किया तथा आचार्यश्री ने धर्मलाम के द्वारा उनका अभिनन्दन किया। ये आचार्यश्री के चरणों के समीप बैठ गये। उनको प्रणाम करके शितिकुमार बोला-तात ! किसी की कोई प्रार्थना को अस्वीकार न करनेवाले आप मेरी एक प्रार्थना सम्पादित कीजिए। ब्रह्मदत्त ने कहा- वत्स ! अपनी प्रार्थना कहो। यह जीवन तेरे आधीन है।

शितिकुमार बोला-तात ! आप तो

मली

भार से जानते हैं। निश्चय ही मनुष्यत्व की प्राप्ति दुर्लभ है, प्रियजनों के समागम भी अनियत हैं, सम्पत्तियाँ चञ्चल हैं, मनुष्य का जीवन पुण्य के समान क्षणिक है और कामदेव मनुष्य के परलोक को नष्ट कर देता है, विषय-वासनाओं का फल अत्यन्त भयंकर है और जिसका कभी निवारण नहीं किया जा सकता है, ऐसी मृत्यु मरना तैयार रहती है, ऐसी स्थिति में मेरे ऊपर क्या कीजिए। ऐसे इस संगार से जिसका अन्त सदा दुःख है, मैं, आपको आज्ञा प्राप्त करके वीतराग भ्रमु द्वारा प्रणीत जैन धर्म का पालन-आराधन करके अपना जीवन सफल बनाना चाहता हूँ।

पुत्र का इस प्रकार का प्रस्ताव सुनकर के बाणजल (अश्रुजल) से जिसके नेत्र भर गए हैं, ऐसा ब्रह्मदत्त गद्गद स्वर से बोला-पुत्र ! तुम्हारे लिये धमणत्व धारण करने के लिये यह समय उचित नहीं है। चित्ति कुमार बोला-जिस प्रकार से मृत्यु के लिये कोई समय अकारण नहीं है, उसी प्रकार से धमणत्व के लिए कोई समय अकारण नहीं है।

पिता-पुत्र की इस प्रकार की बातचीत चल रही थी, इसी समय ब्रह्मदत्त का एक सेवक जिसका नाम पिंगकेश था, तथा जो नास्तिक था, कुमार से बोला-हे कुमार ! तुमको किसने बहका दिया है ? वास्तव में इस संसार में पाँच भूतों के सिवाय, जीवनात्मक कोई पदार्थ, जो परलोक में जाता हो, है ही नहीं। पाँचो भूत ही स्वभाव से ऐसी ऐसी परिणति करते हैं, कि लोग इनकी विविध प्रकार की प्रवृत्तियों से लोग इन्हें ही 'जीव' इस नाम से पुकारते हैं। जब वे पाँचों, भूतसमुदाय का त्याग करके पृथक् होते हैं तब 'मनुष्य मर गया' या पंचत्व को प्राप्त हो गया, ऐसा कथन किया जाता है। वास्तव में संसार में कोई प्राणी किसी शरीर विसर्ग को छोड़कर 'धड़े पर बँटो हुई चिटिया, जैसे उड़ जाती है,' वैसे परलोक को नहीं जाता है अतः हे राजकुमार ! जब परलोकनामक कोई वस्तु है ही नहीं, ऐसी स्थिति में परलोक का मिथ्याभिमान करके दुर्बुद्धि धारण करके, स्वभाव से सुन्दर इन विषय सुखों का तुम परित्याग मत करो। अथवा देह से भिन्न किसी देही (आत्मानामक तत्त्व को) का मुझे दर्शन कराओ, अतः तुमने जो कहा था कि-"मनुष्यत्व दुर्लभ है" आदि वह सब असंभव है। आत्मानामक कोई पदार्थ पुण्य या पाप के कारण से प्राप्त नहीं होता है, परन्तु भूतों

सुनना चाहता हूँ ।

गुरु ने वासचूर्ण मस्तक पर डालते हुए कहा कि—'संसार समुद्र में पार होओ तथा महान् गुणों से वृद्धि को प्राप्त होओ' । गुरु के इन आशीर्वाचनों को सुनकर शिविकुमार ने कहा—आपसे तो मैंने आशीर्वाद प्राप्त कर लिया अब उपस्थित अन्य साधुओं को भी वन्दना करके आशीर्वाद देने के लिये निवेदन कर्हें ? गुरु ने वंसा करने के लिये आज्ञा दे दी ।

तत्पश्चात् सभी साधुओं को वन्दना करके उसने समवसरण की तीन प्रदक्षिणा की और सभी साधुओं ने भी उसके सिर पर वासशोष चूर्ण डालकर उसे वही आशीर्वाद दिया कि 'तुम संसार से जल्दी पार होओ तथा महान् गुणों की अभिवृद्धि करो' । कुछ समय सबके समक्ष रुका रहा, बाद में एक एक करके तीन बार सबका दिया हुआ वास-शोषरूप आशीर्वाद ग्रहण करके गुरु के चरणों में झुक गया । गुरुजी भी आसन ऊपर बैठ गये, सब कोलाहल बन्द करवाया, तत्पश्चात् गुरु ने उपदेश देना शुरू किया । इस प्रकार से विजयसिंह आचार्य के पास विमृद्ध आराम परिणामों के साथ जिनोपदिष्ट विधि से सम्पूर्ण दुर्गों का नाश करने के लिये महान् औषधि के समान महाप्रब्रज्या ( दीक्षा ) शिविकुमार ने धारण की ।

आनन्दशम्भुप्ररित नेत्रोंवाले राजा ब्रह्मदत्त ने तथा नगरनिशामी नागरिकों ने उगका अभिनन्दन किया । तत्पश्चात् कुछ दिन वही स्थिर-वास करके मानसस्य समाप्त हो जाने पर आचार्य भगवान के साथ अग्यश्रेष्ठों की तरफ प्रस्थान किया । इस प्रकार से निर्दोष धामस्य पर्याय का पालन करते हुए अनेक लाभ वरें स्थानीय हो गए ।

इधर शिविकुमार के दीक्षा धारण कर केने से शक्तिनी (माता) की बहुत अनुत्पत्ति (पदचाना) हुआ । उगने मोचा कि हाय ! मेरे हाथ में अग्न्यन्त नगर काये हो गया कि मैं इसे मार न मारी और बिना मारे ही यह मेरे हाथ में निरुत्तर कर बना तथा इसलिये अब मुन्दर व मधुर वधनों के साथ कुछ गन्देगा तथा कुछ भेंट वामयी भेजूँ, इसलिये तिमो प्रसार में बर करमि वरी आये और यरी आने पर फिर मार दारुनों । इसने जेण मन में मोचा, बंगा ही दिया ।

उसने सोमदेव के साथ अनेक प्रकार का कष्टनाशपूर्ण सन्देश तथा कमलरत्न अर्थात् श्रेष्ठ कमल भेजा । प्रसिद्ध आचार्य विजयसिंह की देशदेशान्तरों में विहार प्रवृत्ति के समाचार पृथक्ता हुआ तथा पता लगाता हुआ तमालनामक ग्राम में स्थित शिल्पिकुमार के समीप पहुँच गया । वहाँ जाकर उसने देखा कि शिल्पिकुमार अन्य साधुओं को सूत्रार्थ का प्रत्युच्चारण करा रहे हैं, यह देखकर अन्य उसका मुख-कमल प्रसन्न हो गया और उसने शिल्पिकुमार मुनि की वन्दना की । शिल्पिकुमार ने भी उसे धर्म लाभ से प्रतिलाभित किया और बाद में एकदम पहिचान लिया ।

पहिचान लेने के बाद मुनि ने पूछा कि आप कहाँ से आ रहे हैं ? सोमदेव ने प्रत्युत्तर दिया कि प्रचण्ड पश्चात्तापरूपी अग्नि में जलती आपकी माता जालिनी ने आपके कुशल समाचार जानने के लिये मुझे कोशनगर से भेजा है । शिल्पिमुनि बोले—माता को पश्चात्ताप होने का क्या कारण है ?

सोमदेव ने कहा—आपने प्रव्रज्या (दीक्षा) धारण कर ली, जिससे माता को अत्यन्त दुःख हो रहा है । शिल्पिकुमार ने विचार किया कि माताओं के हृदय स्नेह से कातर-कमजोर तथा परमार्थतत्त्व को समझने में असमर्थ होते हैं और माता पिताओं के ऋण चुकाया नहीं जा सकता, ऐसा विचार करके वे बोले—हे सोमदेव ! मैं वास्तव में माता के दुःख के कारण से वैराग्य को धारण करके दीक्षित नहीं हुआ, माता तो निष्कारण ही सन्ताप करती हैं ।

सोमदेव बोला—स्वामिन् ! आपने माता ने ऐसा कहा है कि, स्त्री हृदय सकुचित हृदयवाला, अविवेकशील, बिना सोचे कार्य करनेवाला, चंचल स्वभाववाला, ईर्ष्यालु, कदापिही तथा पीछे से पश्चात्ताप करने वाला होता है, इसके विपरीत पुरुष गम्भीर हृदयवाला, विनय का भाजन, विचारपूर्वक कार्य करनेवाला, शान्त व स्थिर स्वभाववाला, कृतज्ञ, दृढ़, अनुरागवाला, दीर्घ दृष्टिवाला और समग्रदृष्टि से विचारवान होता है । माता ने कहा है कि 'ये तो स्त्री थी लेकिन तब तो पुरुष थे, तुमने मेरे हृदय को परखे बिना ही दीक्षा धारण करने जैसा कार्य किया ?'

इसने प्रतिष्ठा पायी गुप्तों परलोप का मार्ग मिला दिया है, फिर भी पुत्र होने के लिये एक बार मर्त्य आकर जाना चाहते हैं, ऐसा कहने के मान मान यह श्रेष्ठ कर्म भी भेजा है, जो आपसी अवश्य ही प्रमाण (स्वीकार) करना है। शिवमुनि बोले-गोमते ! मैं कहते ही कह चुका हूँ कि माताजी निराश्रय मन्त्राण करती हैं, और यह जो गुप्तने कहा कि 'यही आकर दर्शन आनन्द दे' इसमें तो आचार्य भगवान ही प्रमाण है अर्थात् उनकी आज्ञा ने जिना दर्शन देने के लिये भी आना संभव नहीं है। मैं अब उनके आधीन हूँ। यह जो, कम्बलरत्न सुन लिये हो, वह भी साधुओं के लिये अनुचित है, इसके लिये भी तुम आचार्यश्री से निवेदन करो।

तत्पश्चात् एक साधु ने कम्बलरत्न गुरुजी को ले जाकर दिग्गये और सोमदेव ने सर्व वृत्तान्त आचार्य भगवान से निवेदन किया और कम्बलरत्न आचार्यश्री को भेंट किया। आचार्यश्री ने शिवकुमार के बहुमान के कारण से उसे स्वीकार किया तथा कहा कि यदि कोई विशेष अन्तराय का कारण उत्पन्न नहीं हुआ तो वर्तमान में जो अधि-कृत शास्त्राध्ययन चल रहा है, उसकी समाप्ति हो जाने पर मुनि शिव-कुमार को दर्शन देने के लिये भी भेजूंगा।

सोमदेव ने निवेदन किया-भगवन् ! आपकी इस कृपा से इनकी माता अनुगृहीत हो जायेगी। इस प्रकार ने निवेदन करके कुछ दिन मुनिकुमार के पास में रहकर सोमदेव वापिस लौट गया। कुमार को तप-समयपूर्वक दीक्षा-पर्याय पालते हुए काफी समय व्यतीत हो गया। अन्य किसी समय कोश (कोशाम्बी) नगर के समीप विचरनेवाले किसी पुरुष के द्वारा ऐसा समाचार सुना कि 'ब्रह्मदत्त मर गया' तब आचार्य विजयसिंह ने अनेक साधुजनों के परिवार के साथ शिवकुमार मुनि को अपने परिवार के लोगों से मिलने के लिये कोशनगर भेजा। शिवकुमार मुनि साधुवृन्द के साथ वही आ गये तथा भेषवननामक उद्यान में ठहरे। कोशनगर में यह समाचार प्रसारित हो गया कि मुनि शिवकुमार यहाँ पधारें हैं। नगर के लोगों ने राज-परिवार के लोगों ने मुनि को वन्दन-पूजन किया और लोगों को धर्म की तरफ आकर्षित करनेवाली 'आक्षे-पणी' नामक धर्मकथा सुनाई अर्थात् वैराग्यप्रद उपदेश दिया। सभी

नागरिक धर्मोपदेश में बहुत प्रभावित हुए ।

दूसरे दिन मुनि शिशिकुमार माना के पास में गये । मानों पाप का उदय हुआ है, इन कारण से ब्रह्मादत्त की मृत्यु के कारण से अत्यन्त क्षीण वैभववाली (दुर्बल तरीर घ कान्निहीन मुखवाली) अपनी माता को मुनि ने देखा और इन असंभाव्य अवस्था में देखकर वह माता को पहिचान भी नहीं पाया लेकिन माना ने तो उसे पहिचान लिया । पुत्र को देखते ही स्वाभाविक कण्ट का आचरण करती तथा अश्रुजल से नेत्रों को परिपूरित करती हुई मानों जलन्त दुखी हो, इस प्रकार से वह करुणापूर्ण स्वर में जोर से रोने लग गई । शिशिकुमार ने माता को अनेक प्रकार से सान्त्वना दी और धर्मदेशना भी मुनाई और कहा—माताजी ! ससार का वास इसी प्रकार का है, इसमें किया ही क्या जा सकता है ? कहा भी है—

देव या दानव भी धन से, पराक्रम से, स्वजनों की मदद से, दल में अथवा चतुरगिणी सेना की शक्ति से मृत्यु को पकड़ने में समर्थ नहीं हैं । व्याधिमा तथा वृद्धावस्था जिसकी मजबूत दावे हैं, सैकड़ों आपत्तियों स्वरूप जिसका तीक्ष्ण नलसमूह है, जो मृग के समान जीव को मारने में सिंह की भाँति सदा तत्पर है, ऐसी सिंहरूपी मृत्यु इस संसार में सदा भ्रमण करती रहती है ।

जिस कारण से उद्दाम-स्वच्छंद मृत्युरूपी भूमेन्द्र किसी की भी रोकटोक के बिना ससार में अस्खलित गति में घूमता रहता है, उसी कारण से सज्जन पुरुष परलोक के मार्ग में अर्थात् कल्याण-मार्ग में सदा तत्पर रहते हैं ।

परस्पर एक दूसरे के साथ दीर्घकाल से प्रेम-भास में बन्धे हुए प्राणि-समुदाय को भी यह निष्कर्षण हृदयवाला मृत्युरूपी सिंह पृथक् कर देता है, भवोन्मत्त हाथी के समान यह मृत्यु किसी के भाव-गमित उपकार को व्ययवा प्रेम को भी तुच्छ समझता है, इस प्रकार से इस मृत्यु के द्वारा उपद्रवग्रस्त प्राणियों को कोई क्षरण देनेवाला नहीं है । सम्पूर्ण लोक में अर्थात् ऊर्ध्वस्त्रेक, मध्यलोक में श्रेष्ठ जैन धर्म को छोड़कर अन्य कोई धरण नहीं है, इसलिये हे माताजी ! आप भी मोह-



रूपी विपय-रसों का परित्याग करके इस अत्यन्त सुखदायक धर्ममृत का पान करने के लिये तैयार हो जाइये, यही आपके लिये उचित है । ८५-९१

जब मुनि शितिकुमार ने माता को उपरोक्त उपदेश दिया तब माता जालिनी भी समयानुरूप बोली कि हे पुत्र ! मुझे मेरी अवस्था के लिये योग्य, ऐसे व्रत दो । तत्पश्चात् शितिकुमार ने विचार किया कि साधु के महाव्रतों का पालन करने के लिये असमर्थ है, अतः माता के शुभ परिणामों की प्रशंसा करके, उन्हें विस्तारपूर्वक गृहस्थी का धर्म समझाकर श्रावक के अणुव्रत प्रदान किये और माता ने भी शितिकुमार की मारने की भावना से व्रत स्वीकार करने के बहाने से उसके हृदय में विश्वास उत्पन्न करने के लिये अत्यन्त सद्भाव के साथ व्रत स्वीकार कर लिये ।

कुछ समय कोशनगर में रुककर मुनि शितिकुमार अन्यत्र जाने की तैयार हुए तब जालिनी बोली—हे पुत्र ! “आज तुम यही पर आहार ग्रहण करो” । शितिकुमार ने कहा—माता ऐसा करना साधुओं के योग्य नहीं है, अनाचार है । साधु अनेक स्थानों से प्राप्त गोचरी—‘मधुकरी’ को छोड़कर एक ही गृहस्थ के वहाँ का आहार ग्रहण करें, यह अनाचार है ।

जालिनी बोली—तुम जानो । इस प्रकार प्रतिदिन मुनि शितिकुमार धर्मोपदेश देते हैं और जालिनी सदा उसको मारने का ही उपाय सोचती रहती है लेकिन कोई ऐसा सूक्ष्म उपाय भूम नहीं पड़ता । ऐसा करते हुए शत्रुदंती का दिन आ गया और सभी साधुओं के उपवास होने में उम्र दिन गोचरी के निमित्त घूमने जाना भी नहीं हुआ । यह बात जालिनी को ज्ञात हुई । वह विचार करने लगी कि यदि कल में इसे नहीं मार सकती तो पशु की मधि अर्थात् पूर्णिमा के दिन तो ये विहार कर जायेंगे, इससे निश्चय अन्य कोई उपाय नहीं है ।

ऐसा विचार करते उगने निश्चय लिया कि बग़ार बनारस में मैंने विष्णुभक्त एक शत्रु बनाई थी तथा प्राण-पात पोरण के समय में जाकर उन साधुओं को दूँगी तथा अत्यन्त आश्रय में हो इन साधुओं का निहारेगी । इस प्रकार से आगे शत्रु के हो निहारेगी शत्रु परेश करे इस निश्चय मुनि शितिकुमार को अत्यन्त मार डाली ।

ऐसा विचार करके, जैसा विचार किया था, वैसा ही कृतिरूप में कर भी डाला। जालिनी दूसरे दिन प्रातःकाल उपरोक्त भोजन लेकर उस बगीचे में जहाँ मुनि लोम ठहरे हुए थे, गई। शिखिकुमार मुनि ने उसे देखा तथा कहा—माताजी ! आप अकेले ही साधु लोगों के लिये अनुचित-अकल्पनीय आहार को लेकर कैसे आई हैं ? जालिनी ने प्रत्युत्तर दिया कि आज तो अपने हाथ से ही तुम्हें भोजन करा कर अपनी मनोभिलाषा पूर्ण करनी है।

शिखिकुमार ने कहा—माताजी ! साधुओं के लिये खास बनाया हुआ तथा सामने लाया हुआ भोजन ग्रहण करना भी एक अनाचार है। इसके बाद साधुओं के लिये ग्रहण करने योग्य निर्दोष आहार की विधि माता को समझाई तब माता बोली कि हे पुत्र ! मेरे हृदय की दान्ति अग्न्य किसी भी प्रकार से नहीं होगी। यदि तुम इस भोजन को स्वीकर नहीं करो तो यहाँ तक विहार करके आना, दर्शन देना आदि सभी क्रियाओं को मैं निष्फल मानूँगी। तुम्हें अवश्य ही इस आहार को स्वीकार करना पड़ेगा, ऐसी विनति करके वह शिखिकुमार के चरणों में गिर पड़ी।

सत्यश्चात् सरल स्वभाव होने के कारण से उसने ( मुनि शिखिकुमार ने) मन में विचार किया कि “देखो, इसके धर्म के प्रति कितनी बृहद् धृष्टता तथा कितना पुत्र स्नेह है ! कहीं इसके धर्म-परिणाम में विपरीतता न आ जावे, इसलिये लाभालाभ का विचार करके वह बोला—माताजी ! जैसा आप कहें, वैसा अभी कर लेता हूँ, भविष्य में कभी भी साधु के निमित्त से ऐसा आरंभ न करें। माता बोली—कुमार ! जैसा तुम कहते हो, वैसा ही करूँगी।

मुनि शिखिकुमार बोला—यदि ऐसा ही है तो पहिले इन सब साधुओं को भोजन दो, बाद में, मैं खाऊँगा। जालिनी बोली—हे पुत्र ! जाह ! तुमने माता के प्रति मन्त्रा वात्मन्य व्यक्त किया है, ऐसा करने में क्या लाभ है ? आज तो तुम्हें मेरे हाथ में ही खाना पड़ेगा। शिखिकुमार ने कहा—यदि तुम्हारा ऐसा ही आग्रह है तो पारण के समय हो जाने दो। पारण का समय भी कुछ बाल शर आ गया। मुनि कुमार के अति आग्रह से सब मुनि बैठ गये। यद्योचित विधि से ”

पात्र रित्त जालिनी ने पशुमने की श्रुतभाषा की ओर जन्मों तमह में तैयार किया हुआ 'पशु' भी पशुगा । माधुओं ने भोजन कर लिया । तत्पश्चात् वधे हुए पशु के मांस में तात्पुत्र विरहितिना मरुत विनिमृति को दिया और उमने उगे गा दिया ।

इसके पश्चात् मर माधुओं ने आनमन करके मुंह धो दिये और आहार के पात्र भी साफ करके दूर रग दिये । इस बीच मुनिकुमार के शरीर में विष व्याप्त हो गया । उमने विचार किया कि यह क्या हो गया ? उमने मय साधुओं को देगा, वे तो सब स्वस्थ थे । तत्पश्चात् वह माता के सारे जाल को समझ गया । कुछ ही समय शरीर हुआ होगा कि उमकी धाणी बन्द हो गई उसने विचार किया कि यह माता के दिये हुए विष का प्रभाव है, अब मैं जीवित नहीं रहूँगा, ऐसा सोच कर वह पृथ्वी पर गिर पड़ा । उमकी यह स्थिति देखकर सभी साधु तथा जालिनी आकुल व्याकुल हो गये । उन सबने विचार किया कि क्या ऐसा अकार्य उमकी माता ने ही किया होगा ?

विष जिनके शरीर में व्याप्त हो गया है, ऐसे वे मुनि निखि-कुमार विधिपूर्वक अनशन करके विचार करने लगे कि कभी भी नहीं हुआ, ऐसा यह मुझे क्या हो गया है ? इस संसार के स्वभाव को धिक्कार है । मैंने विचार किया था कि धर्म का उपदेश देकर तथा चारित्र्य स्वीकार करवाकर माता जालिनी को इस संसार के सब क्लेशों से क्षीघ्र मुक्त करा दूँगा । मेरी यह इच्छा पूर्ण नहीं हो पाई, उमके पूर्व ही पुण्य हीन, मेरे प्रमाद से अपयशरूपी कीचड़ में माता गिरा दी गई है, यह अत्यन्त खेद का विषय है ।

अनायें लोग जो पूर्व के समग्र वृत्तान्त को जानते हैं, मोहजनित दोष के कारण से न शंका करने योग्य कारणों की शंका करेंगे । माता की क्लेश पहुँचानेवाले इस जीवन को धिक्कार है, अथवा इस प्रकार का यह संसार पाप से ही भरा हुआ है । कहा भी है—

कभी कभी पूर्व भय में डिये गए तथाविध कारणों से अपराध न करते हुए भी मितने ही प्राणी अपयश को प्राप्त करते हैं और कई एक प्राणी अपराध करने पर भी अपयश को प्राप्त नहीं करते हैं, क्योंकि

उनका अपराध प्रच्छन्न हो जाता है। कर्म की जो विचित्र गति है, वही इसका प्रायश्चित्त है। पूर्व संचित अशुभ कर्म ही इस समय फलरूप में उदय को प्राप्त हुए हैं, अथवा तो इस समय इस ससार में उस व्यक्ति को इसकी जरा भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये, जिसने मोक्ष-सुख के फल-स्वरूप कल्पवृक्ष के समान जिन-धर्मों को प्राप्त कर लिया है, इस-लिये इस समय शेष सभी चिन्ताओं को छोड़कर जिन भगवान् के द्वारा उपदिष्ट तथा परम-पद अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति में साधक, ऐसे पंच परमेष्टि नमस्कार-मंत्र का ही स्मरण करना श्रेष्ठ है।

ऐसा विचार करके शुभ-परिणामवाला, पंच परमेष्टि-नमस्कार मंत्र की भावना से युक्त हृदयवाला वह शिशिकुमार मुनि मृत्यु को प्राप्त करके ब्रह्मलोकनामक पाँचवे देवलोक में उत्पन्न हुआ। वह रतिलदमी ममागमनामक विमान में नवसागरोपम की आयुवाला, दिव्य कान्तिवाला ब्रह्मेन्द्र का सामानिक जाति का देव हुआ और उसकी माता जालिनी भी आयुष्य पूर्ण करके तीन सागरोपम के आयुष्यवाली शर्करा प्रभानामक दूसरी नरकभूमि में महाघोर नारक के रूप में उत्पन्न हुई। ९२-१०३

धर्म से याकिनी महत्तरा के पुत्र परमगुणानुरागी, परममन्यप्रिय परम कारुणिक भगवान् हरिभद्रगूरि द्वारा विरचित ममरादित्य वषा (समराहच कह्य) के अन्तर्गत यह तृतीय भव समाप्त हुआ।





# श्रीजैनतर्कसङ्ग्रहो जैनमुक्तावली च ॥

प्रणेता :

आचार्य श्रीविजयनन्दनमहर्षिः ।



प्रकाशक :

श्रीगोडीपार्श्वनाथ जैन टेम्पल ट्रस्ट

१११, गुह्यार पेठ

पूना (महाराष्ट्र)